१

शिक्षा-प्रशासन का अर्थ एवं उसके भेद

(Meaning of Educational Administration and its Forms)

प्रशासन का अर्थ (Meaning of Administration)

सामान्यतः प्रशासन का अर्थ व्यवस्था (Management) से लगाया जाता है। यह वह साधन है जिसके द्वारा किसी संगठन या संस्था का सुचारु रूप से संचालन किया जाता है चाहे वह संगठन शासकीय, शैक्षिक या सामुदायिक हो। इसमें यह स्पष्ट है कि प्रशासन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्तियों के समूह एवं उनकी क्रियाओं के समन्वय से सम्बन्धित है। इस दृष्टिकोण से प्रशासन का सम्बन्ध किसी भी संस्था या संगठन के अन्तर्गत काम करने वालों तथा उनकी क्रियाओं के समन्वय से रहता है। एन० एस० चन्द्रकान्त ने लिखा है कि "यद्यपि प्रशासन की कोई एक स्वीकृत परिभाषा नहीं है, फिर भी इस बात से सभी सहमत हैं कि इसका सम्बन्ध व्यक्तियों के समूह से सम्बन्ध रखने तथा उनकी क्रियाओं के समन्वय से रहता है।"[1] पर वास्तव में प्रशासन का अर्थ इससे कहीं विस्तृत है। इसके अन्तर्गत आयोजन (Planning), संगठन (Organization), निरीक्षण (Supervision), पथ-प्रदर्शन (Direction), नियन्त्रण (Control) और विनियमन (Regulation) आदि सभी तत्व सम्मिलित हैं।

---

1. "Although there is no single accepted definition of Administration, there is general agreement that it is concerned with the dealing and coordinating of the activities of groups of people".—Ministry of [illegible]on, India. 'The Education Quarterly' sept. 1957, p. 254.

अब प्रश्न उठता है कि 'प्रशासन' को कला के अन्तर्गत रखा जाय अथवा 'विज्ञान' के। यद्यपि प्रशासन का ढाँचा सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक ढंग से स्थापित एवं संचालित किया जाता है परन्तु इसका सम्बन्ध मानव-समूहों एवं उनकी क्रियाओं से होने के कारण इसे केवल यान्त्रिक ही नहीं माना जाता है वरन् इसमें चतुरता, कौशल एवं सावधानी का भी यथोचित समायोजन किया जाता है। इस प्रकार इसे 'विज्ञान' की अपेक्षा कला कहना अधिक उपयुक्त होगा। वह प्रशासन ही कला है जिसके द्वारा विभिन्न मानव-शक्तियों को एक ही दिशा में, एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिये इस प्रकार संगठित किया जाता है कि सबकी क्रियायें मिलकर एक कार्य-इकाई बन जाती हैं। इसके साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि प्रशासन कला तभी सफल हो सकती है जब कि इसमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समन्वय किया जाय। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से हमारा तात्पर्य है विषय-वस्तु का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करना, उसका विवेकपूर्ण वर्गीकरण करना, तत्पश्चात् कार्य-कारण सम्बन्ध को दृष्टिगत रखते हुए उसका सामान्यीकरण करना। अतः 'प्रशासन' विज्ञान भी है। इस तथ्य को भुलाया नहीं जा सकता है। दोनों का समन्वय करते हुए यदि हम यह कहें कि 'प्रशासन' विज्ञान एवं कला दोनों हैं तो अधिक उपयुक्त होगा।

शिक्षा-प्रशासन का अर्थ
(Meaning of Educational Administration)

शिक्षा-प्रशासन का अर्थ, शिक्षा के लिये संचालित संस्थाओं अथवा विद्यालयों के लिये उनके उद्देश्य की पूर्ति के हेतु आवश्यक सभी साधनों, सामग्रियों, परिस्थितियों एवं व्यक्तियों का सुसंगठन करके शिक्षा-प्रक्रिया की समुचित व्यवस्था करना है। शिक्षा-प्रशासन के अर्थ को अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि शिक्षा-प्रशासन तथा अन्य प्रकार के प्रशासनों में क्या अन्तर है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण भेद इस प्रकार है —

१. शिक्षा-प्रशासन एक मानवीय प्रक्रिया है जो कि दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, ऐतिहासिक एवं राजनीतिक तत्वों के द्वारा पर्याप्त रूप से प्रभावित होती है। परन्तु यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि शिक्षा-प्रशासन की प्रक्रिया इन समस्त तत्वों को सम्पूर्ण या समग्र रूप में ग्रहण करती है। इसलिये हम यह नहीं कह सकते हैं कि यह प्रक्रिया दर्शन, मनोविज्ञान, इतिहास अथवा राजनीति है वरन् हम कह सकते हैं कि शिक्षा-प्रशासन वस्तुओं की व्यवस्था के साथ-साथ विभिन्न प्रकार की मानवीय क्रियाओं एवं विचारधाराओं से सम्बन्धित है।

. शिक्षा-प्रशासन तथा अन्य प्रकार के प्रशासनों में एक भेद यह भी है कि शिक्षा-प्रशासन मानव-व्यक्तित्व के विकास से सम्बन्धित है। यदि हम इस दृष्टि से विचार करें तो शिक्षा-प्रशासन के अन्तर्गत बाल्य-

जीवन से लेकर प्रौढ़ावस्था तक की समस्त दशाए आ जाती हैं। इस प्रकार इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण जीवन आ जाता है। दूसरे प्रकार के प्रशासनो के अन्तर्गत सामान्यत व्यक्ति के आन्तरिक विकास की ओर कोई ध्यान नही दिया जाता है। वे स्वय को बाह्य विकास से ही सतुष्ट रखते हैं।

अन्त मे शिक्षा-प्रशासन के अर्थ को इन शब्दो मे स्पष्ट किया जा सकता है।

१. शिक्षा-प्रशासन एक प्रक्रिया है जिसमे मनुष्यो के प्रयासों एव उपयुक्त सामग्री को इस प्रकार प्रयोग मे लाया जाता है जिससे मानव गुणो का विकास कुशलतापूर्वक हो सके।

२ यह केवल छात्रो एव युवकों के विकास से ही सम्बन्धित नहीं है वरन् इसके अन्तर्गत प्रौढो एव विद्यालय के कार्यकर्ताओ का विकास भी आता है।[1]

शिक्षा-प्रशासन का क्षेत्र

(Scope of Educational Administration)

शिक्षा-प्रशासन के अर्थ की भाँति इसका क्षेत्र भी बहुत व्यापक है। विद्यालय की चारदीवारी के अन्दर दिये जाने वाले ज्ञान का नाम ही 'शिक्षा' नही है वरन् शिक्षा के अन्तर्गत मानव के वे सब अनुभव एव प्रयास सम्मिलित किये जा सकते हैं जिनमे वह जन्म से मृत्यु पर्यन्त सलग्न रहता है। अत शिक्षा के विस्तृत क्षेत्र के साथ ही शिक्षा-प्रशासन का क्षेत्र भी विस्तृत हो जाता है।

जीवन ही शिक्षा है। इस दृष्टिकोण से शिक्षा के अन्तर्गत मानवीय एव भौतिक दोनो प्रकार का विकास सहज ही समाहित हो जाता है। इसलिये शिक्षा-प्रशासन भी मानवीय एव भौतिक दोनो प्रकार के साधनो से सम्बन्धित है। शिक्षा-प्रशासन जिन मानवीय तत्वो से सम्बन्धित है, उनके अन्तर्गत बालक, माता-पिता, शिक्षक एव अन्य दूसरे कार्यकर्ता आते हैं। साथ ही इसके अन्तर्गत सामान्य नागरिक एव विभिन्न स्तरों के कर्मचारी आदि भी सम्मिलित किये जाते हैं। शिक्षा-प्रशासन जिन भौतिक तत्वो से सम्बन्धित है, उनमे वित्त, भवन, खेल के मैदान, साज-सज्जा एव शैक्षिक सामग्री आदि मुख्य हैं।

---

1. "Educational Administration is the process of integrating the efforts of personnel and of utilising appropriate materials in such a way as to promote effectively the development of human qualities. It is concerned not only with the development of children and youth, but also with the growth of adults and particularly with the growth of School personnel". Encyclopedia of Educational Research, 3rd edition page 19.

अब प्रश्न उठता है कि 'प्रशासन' को कला के अन्तर्गत रखा जाय अथवा 'विज्ञान' के। यद्यपि प्रशासन का ढाँचा सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक ढंग से स्थापित एवं संचालित किया जाता है परन्तु इसका सम्बन्ध मानव-समूहों एवं उनकी क्रियाओं से होने के कारण इसे केवल यान्त्रिक ही नहीं माना जाता है वरन् इसमें चतुरता, कौशल एवं सावधानी का भी यथोचित समायोजन किया जाता है। इस प्रकार इसे 'विज्ञान' की अपेक्षा कला कहना अधिक उपयुक्त होगा। यह प्रशासन ही कला है जिसके द्वारा विभिन्न मानव-मस्तिष्कों को एक ही दिशा में, एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिये इस प्रकार संगठित किया जाता है कि सबकी क्रियायें मिलकर एक कार्य-इकाई बन जाती हैं। इसके साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि प्रशासन कला तभी सफल हो सकती है जब कि इसमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समन्वय किया जाय। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से हमारा तात्पर्य है विषय-वस्तु का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करना, उसका विवेकपूर्ण वर्गीकरण करना, तत्पश्चात् कार्य-कारण सम्बन्ध को दृष्टिगत रखते हुए उसका सामान्यीकरण करना। अतः 'प्रशासन' विज्ञान भी है। इस तथ्य को भुलाया नहीं जा सकता है। दोनों का समन्वय करते हुए यदि हम यह कहें कि 'प्रशासन' विज्ञान एवं कला दोनों हैं तो अधिक उपयुक्त होगा।

शिक्षा-प्रशासन का अर्थ

(Meaning of Educational Administration)

शिक्षा-प्रशासन का अर्थ, शिक्षा के लिये संचालित संस्थाओं अथवा विद्यालयों के लिये उनके उद्देश्य की पूर्ति के हेतु आवश्यक सभी साधनों सामग्रियों, परिस्थितियों एवं व्यक्तियों का सुसंगठन करके शिक्षा-प्रक्रिया की समुचित व्यवस्था करना है। शिक्षा-प्रशासन के अर्थ को अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि शिक्षा-प्रशासन तथा अन्य प्रकार के प्रशासनों में क्या अन्तर है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण भेद इस प्रकार है —

१. शिक्षा-प्रशासन एक मानवीय प्रक्रिया है जो कि दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, ऐतिहासिक एवं राजनीतिक तत्वों के द्वारा पर्याप्त रूप से प्रभावित होती है। परन्तु यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि शिक्षा-प्रशासन की प्रक्रिया इन समस्त तत्वों को सम्पूर्ण या समग्र रूप में ग्रहण करती है। इसलिये हम यह नहीं कह सकते हैं कि यह प्रक्रिया दर्शन, मनोविज्ञान, इतिहास अथवा राजनीति है वरन् हम कह सकते हैं कि शिक्षा-प्रशासन वस्तुओं की व्यवस्था के साथ-साथ विभिन्न प्रकार की मानवीय क्रियाओं एवं विचारधाराओं से सम्बन्धित है।
२. शिक्षा-प्रशासन तथा अन्य प्रकार के प्रशासनों में एक भेद यह भी है कि शिक्षा-प्रशासन मानव-व्यक्तित्व के विकास से सम्बन्धित है। यदि हम इस दृष्टि से विचार करें तो शिक्षा-प्रशासन के अन्तर्गत बाल्य-

जीवन से लेकर प्रौढ़ावस्था तक की समस्त दशाएं आ जाती हैं। इस प्रकार इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण जीवन आ जाता है। दूसरे प्रकार के प्रशासनों के अन्तर्गत सामान्यतः व्यक्ति के आन्तरिक विकास की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है। वे स्वयं को बाह्य विकास में ही सन्तुष्ट रखते हैं।

अन्त में शिक्षा-प्रशासन के अर्थ को इन शब्दों में स्पष्ट किया जा सकता है।

१ शिक्षा-प्रशासन एक प्रक्रिया है जिसमें मनुष्यों के प्रयासों एवं उपयुक्त सामग्री को इस प्रकार प्रयोग में लाया जाता है जिससे मानव गुणों का विकास कुशलतापूर्वक हो सके।

२ यह केवल छात्रों एवं युवकों के विकास से ही सम्बन्धित नहीं है वरन् इसके अन्तर्गत प्रौढ़ों एवं विद्यालय के कार्यकर्ताओं का विकास भी आता है।[1]

शिक्षा-प्रशासन का क्षेत्र

(Scope of Educational Administration)

शिक्षा-प्रशासन के अर्थ की भाँति इसका क्षेत्र भी बहुत व्यापक है। विद्यालय की चारदीवारी के अन्दर दिये जाने वाले ज्ञान का नाम ही 'शिक्षा' नहीं है वरन् शिक्षा के अन्तर्गत मानव के व सब अनुभव एवं प्रयास सम्मिलित किये जा सकते हैं जिनमें वह जन्म से मृत्यु पर्यन्त संलग्न रहता है। अतः शिक्षा के विस्तृत क्षेत्र के साथ ही शिक्षा-प्रशासन का क्षेत्र भी विस्तृत हो जाता है।

जीवन ही शिक्षा है। इस दृष्टिकोण से शिक्षा के अन्तर्गत मानवीय एवं भौतिक दोनों प्रकार का विकास सहज ही समाहित हो जाता है। इसलिए शिक्षा-प्रशासन भी मानवीय एवं भौतिक दोनों प्रकार के साधनों से सम्बन्धित है। शिक्षा-प्रशासन जिन मानवीय तत्वों से सम्बन्धित है, उनके अन्तर्गत बालक, माता-पिता, शिक्षक एवं अन्य दूसरे कार्यकर्ता आते हैं। साथ ही इसके अन्तर्गत सामान्य नागरिक एवं विभिन्न स्तरों के कर्मचारी आदि भी सम्मिलित किये जाते हैं। शिक्षा-प्रशासन जिन भौतिक तत्वों से सम्बन्धित है, उनमें वित्त, भवन, खेल के मैदान, साज-सज्जा एवं शैक्षिक सामग्री आदि मुख्य हैं।

---

1. "Educational Administration is the process of integrating the efforts of personnel and of utilising appropriate materials in such a way as to promote effectively the development of human qualities. It is concerned not only with the development of children and youth, but also with the growth of adults and particularly with the [illegible]ool personnel". Encyclopedia of Educational [illegible] page 19

इन दोनों तत्वों के अतिरिक्त विचार, आदर्श, विश्वास, समाज की आवश्यकताएँ, पाठ्य क्रम, नियम शिक्षण विधियाँ आदि भी शिक्षा-प्रक्रिया पर प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से अपना महत्वपूर्ण प्रभाव डालती हैं। इसलिये ये भी शिक्षा-प्रशासन से सम्बन्धित हैं। शिक्षा-प्रशासन रूपी प्रक्रिया के द्वारा इन सभी तत्वों में सामंजस्य स्थापित किया जाता है। इनमें उपयुक्त रूप से सामंजस्य स्थापित करना ही प्रशासकीय योग्यता है। इन विभिन्न तत्वों के बीच सुव्यवस्थित सामंजस्य के अभाव में उस लक्ष्य की प्राप्ति नहीं की जा सकती है जिसके लिए स्वयं यह संगठन या संस्था स्थिर रहती है। दूसरे शब्दों में यह कहते हैं कि मानव व्यक्तित्व के समुचित एवं सर्वांगीण विकास के लक्ष्य को तभी प्राप्त किया जा सकता है जब कि शिक्षा-प्रशासन की प्रक्रिया इन समस्त तत्वों में सामंजस्य स्थापित करे।

शिक्षा-प्रशासन रूपी प्रक्रिया की प्रकृति
(Nature of the Process of Educational Administration)

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि शिक्षा-प्रशासन एक प्रक्रिया है। कुछ विद्वानों का मत है कि इस प्रक्रिया को सहयोगी तथा लोकतन्त्रीय प्रक्रिया होना चाहिये। इसके अन्तर्गत नीतियों का निर्धारण एवं संचालन लोकतन्त्रीय ढंग से हो। इसके साथ ही कार्यकर्त्ताओं को स्वतन्त्रता प्रदान की जाय। इस प्रकार के विचार यह सिद्ध करते हैं कि शिक्षा-प्रशासन सजीव एवं गतिशील विषय है। इस प्रक्रिया का केन्द्र बिन्दु बालक है और गतिशीलता ही इसकी आत्मा है। यहाँ सर ग्रेहम बालफ़र (*Sir Graham Balfour*) के शब्दों का उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा। उनका मत है कि प्रशासन का उद्देश्य "उचित बालकों को उचित शिक्षकों से उचित शिक्षा प्राप्त करने के योग्य बनाना है।"[1] इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये इस प्रक्रिया के अन्तर्गत पाँच प्रकार की क्रियाएँ आती हैं जो एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं। ये क्रियाएँ निम्नलिखित हैं :—

१ योजना (Planning)
२. संगठन (Organization)
३. संचालन (Direction)
४. सामंजस्य (Co-ordination)
५. मूल्यांकन (Evaluation)

(१) योजना—योजना का सामान्य अर्थ किसी भी उद्देश्य की पूर्ति के हेतु किये जाने वाले कार्य, उनके कार्य-निर्वाह की प्रणाली और उसमें अन्य सहायक वस्तुओं,

1. The purpose of administration is, "to enable the right pupils to recieve the right education from the right teachers, at a cost within the means of the state, under conditions which will enable the pupils best to profit their learning".

सहयोगी व्यक्तियो एव परिस्थितियो की एक सारगर्भित रूपरेखा बनाना है। इस प्रकार की रूपरेखा निर्धारित किये बिना कोई भी कार्य पूर्णत सफल नहीं हो सकता है। यदि इस प्रकार का पूर्व निर्धारण नही किया जायेगा तो लक्ष्य तक पहुँचने के पहले ही भटक जाने की सम्भावना अधिक रहेगी। शैक्षिक योजना बनाना एक प्रगतिशील प्रक्रिया है। इसमे न केवल वर्तमान का ही ध्यान रखना होता है वरन् भविष्य को भी दृष्टिगत रखना पडता है। वर्तमान एवं भविष्य के साथ ही प्रत्येक योजना बनाने मे अतीत के निर्देशो एव अनुभवो से भी लाभ उठाना अनिवार्य है। इसके साथ ही वर्ग विशेष अथवा सस्था की आवश्यकताओ, सिद्धान्तो, आदर्शों एव उसके साधनो आदि को भी ध्यान मे रखना पडेगा।

योजना बनाते समय कुछ ऐसी विचारणीय बातें हैं जिन्हे हम भुला नही सकते हैं। यथा—

१. हमारे समक्ष योजना का लक्ष्य स्पष्ट होना चाहिये अर्थात् जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिये योजना बनाई जाय वह लक्ष्य पूर्णतः स्थिर एव निश्चित हो।
२. उद्देश्य निर्धारण के उपरान्त उसकी पूर्ति के लिये किये जाने वाले कार्यों की विस्तृत सूची बना लेनी चाहिये।
३ इसके साथ ही यह भी निश्चित करना चाहिये कि ये विविध कार्य किन किन प्रणालियो एव प्रविधियो से सम्पन्न किये जा सकते हैं।
४ इन प्रविधियो के निर्धारण के उपरान्त उनके कार्यान्वियन मे सहायक सामग्रियो का चयन एव वर्गीकरण किया जाना चाहिये।

योग्य प्रशासक को योजना बनाते समय ऊपर वर्णित विभिन्न आवश्यकताओ का समुचित समायोजन करना चाहिये। इतना सब कर लेने के उपरान्त योजना और उसके कार्य के मूल्यांकन या परिणाम पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। यदि परिणाम लक्ष्य से न्यून या उसके विपरीत प्रतीत हो अथवा किन्हीं अप्रत्याशित विभिन्न परिस्थितियो के कारण योजना मे बाद मे कोई परिवर्तन करना आवश्यक प्रतीत हो, तो योजना मे इतना लचीलापन अवश्य रखना चाहिये कि उसमे आवश्यकतानुसार सशोधन, परिवर्तन अथवा परिवर्धन किया जा सके।

योजना बनाते समय यह तथ्य भी नही भुलाया जाना चाहिये कि योजना का आधार लोकतन्त्रीय हो जिसके अनुसार मानवीय तत्वो एव परिस्थितियो का अधिकाधिक उपयोग किया जा सके। इसके साथ ही उसके निर्माण के समय सहयोगियो को स्वतन्त्रतापूर्वक अपने मौलिक विचारों को अभिव्यक्त करने का अवसर दिया जा सके।

यह सब कार्य एक कुशल प्रशासक ही कर सकता है। इसके लिये निर्धारित कार्यक्रम के सचालन मे पूर्ण अनुशासन एव पारस्परिक सहयोग होना अति आवश्यक है। साथ ही योजना बनाने वाले प्रशासक मे लोकतन्त्रीय नेतृत्व, कार्यक्षमता एव निर्णयात्मक शक्ति का होना आवश्यक है।

(२) संगठन—समस्त प्रकार के प्रशासनों में संगठन मूलभूत कार्य है। जे० बी० सीयर्स का कथन है कि "यह कार्य करने की एक मशीन है जिसका निर्माण व्यक्तियों, वस्तुओं विचारों धारणाओं प्रतीकों, रूपों, नियमों, सिद्धान्तों के द्वारा या प्राय: इन सबके संयोग से हो सकता है। मशीन स्वत: ही कार्य कर सकती है या इसका संचालन मानवीय निर्णय एवं इच्छा के द्वारा किया जा सकता है।"[1] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संगठन के अन्तर्गत कई प्रकार की व्यवस्थाएँ निहित हैं। प्रथम मानवीय तत्व का संगठन तथा द्वितीय, भौतिक तत्व का संगठन। मानवीय तत्व का संगठन कक्षाओं, समितियों, शिक्षक-गण, एवं अन्य कर्मचारियों के वर्ग में किया जा सकता है। भौतिक तत्व का संगठन भवन फर्नीचर, पुस्तकालय एवं अन्य शैक्षिक सामग्री आदि में किया जा सकता है। विचारों, सिद्धान्तों एवं धारणाओं को विद्यालय पद्धतियों, पाठ्य क्रम समय तालिका आदि में संगठित किया जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संगठन वह मशीन है जिसके द्वारा विभिन्न तत्वों को इस प्रकार संगठित किया जाता है जिससे सम्पूर्ण कार्यक्रम को उद्देश्य की प्राप्ति के हेतु क्रियान्वित किया जा सके।

(३) संचालन—शिक्षा-प्रशासन में मार्ग-प्रदर्शन या नेतृत्व ही आधार है। सफल नेतृत्व या पथ प्रदर्शन के अभाव में सम्पूर्ण योजना एवं संगठन व्यर्थ हो जाता है। संचालन या पथ-प्रदर्शन के अन्तर्गत तीन बातें निहित हैं—प्रथम, निर्णय करना, द्वितीय, उन निर्णयों को सामान्य तथा विशेष आदेशों के रूप में घोषित करना तथा तृतीय, इन प्रदान किये गये आदेशों को व्यवहार में लाना। इस प्रकार संचालन सरल कार्य नहीं है। इसके लिए प्रशासक में उच्च स्तर की योग्यता, ज्ञान, नेतृत्व-शक्ति दूरदर्शिता, अनुभव विवेक आदि गुणों का होना परमावश्यक है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संचालन के लिये मानवीय सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता का होना बहुत आवश्यक है। यदि नेता में इस गुण का अभाव है तो वह अपनी योजना का संचालन सफलतापूर्वक नहीं कर सकता है। उदाहरणार्थ—विद्यालय का नेता (प्रधानाध्यापक) यदि स्वयं ही निर्णय करके अपने आदेशों को इस ढंग से कि "यह मेरा आदेश है कि तुमको ऐसा करना है" देता है तो वह कभी भी अपने साथियों की सद्भावना को प्राप्त नहीं कर सकता। एक कुशल नेता को अपने साथियों के परामर्श से ही किसी विषय पर निर्णय लेना चाहिये। इसके साथ ही वह अपने आदेशों को ऐसे ढंग से रखे जिससे कि उसके साथी उन आदेशों को दूसरे के आदेश न मानकर अपने

---

1. "It is a machine for doing work. It may be composed primarily of persons, of materials, of ideas, concepts, symbols, forms, rules, principles, or more often, of a combination of these. The machine may work automatically; or its operation may be subject to human judgement and will."
—J. B. Sears "*The Nature of Administrative Process.*" P. 23.

इच्छा समझें। इस प्रकार के पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करना ही सचालन की सफलता है। सचालन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए जे० बी सीयर्स ने लिखा है कि "प्रशासन मे सचालन वह अश है जो निर्णय को प्रभावित करता है, कार्य करने के के लिये सूचना देता है तथा इस बात का भी सकेत देता है कि कार्य को किस प्रकार करना है और इसको कब प्रारम्भ एव समाप्त करना है।"[1]

(४) सामजस्य—सामजस्य का तात्पर्य यह है कि जितने भी सगठन के तत्व हैं उनमे पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किया जाय। दूसरे शब्दो मे कह सकते हैं कि सामजस्य के अन्तर्गत साध्य की प्राप्ति के लिये विभिन्न तत्वो मे पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करना निहित है जिससे वे कुशलतापूर्वक एक साथ मिलकर कार्य कर सकें। सामजस्य के द्वारा श्रम एव शक्ति दोनों के अपव्यय को रोका जाता है। इसके साथ ही यह पारस्परिक सघर्ष को भी रोकता है।

(५) मूल्यांकन—मूल्याकन प्रशासन की प्रक्रिया का महत्वपूर्ण तत्व है। कोई भी कार्य तब तक पूर्ण नहीं माना जा सकता है जब तक उसके परिणामो का उचित प्रकार से मूल्याकन न कर लिया गया हो। मूल्याकन द्वारा सम्पादित कार्य का मूल्याकन किया जाता है। इसके द्वारा हमे इस बात का ज्ञान होता है कि हमने अपने निर्धारित उद्देश्यो की प्राप्ति किस सीमा तक कर ली है। इसके द्वारा हम यह भी जान लेते हैं कि अमुक कार्य मे क्या दोष है, और किन कारणो से हम उसमे सफलता प्राप्त नही कर सके ? इस विवेचन के आधार पर हम अपने आगे के उद्देश्यो, विधियो आदि का निर्धारण कर सकते हैं। इस तथ्य को हम दूसरे दृष्टिकोण से भी विवेचना कर सकते हैं। प्रशासन एक गतिशील प्रक्रिया है। इसलिये इसमे निरन्तर प्रगति होनी चाहिये। प्रगति के लिये हमे अपने कार्य का मूल्याकन करना अत्यन्त आवश्यक है। इसके अभाव मे हम अपने सगठन या सस्था को उत्तमोत्तम स्वरूप प्रदान नहीं कर सकते हैं।

शिक्षा-प्रशासन के भेद (Forms of Educational Administration)—सामान्यत. शिक्षा-प्रशासन को दो भागो मे विभाजित किया जाता है। प्रथम, बाह्य (External) प्रशासन तथा द्वितीय, आन्तरिक (Internal) प्रशासन। शिक्षा का बाह्य नियन्त्रण उस प्रभाव एव आदेश का सकेत देता है जो उच्च स्तर की शक्ति द्वारा दिये जाते हैं। शिक्षा का आन्तरिक नियत्रण विद्यालय के वास्तविक प्रशासन स सम्बन्धित है। इसमे विद्यालय की प्रतिदिन की व्यवस्था निहित है।

भारत मे शिक्षा के बाह्य प्रशासन का अर्थ शिक्षा विभाग द्वारा शासकीय नियन्त्रण से लगाया जाता है। बाह्य प्रशासन नियमों का निर्माण करता है तथा पाठ्य-पुस्तक एव पाठ्य-क्रम प्रस्तावित करता है। इसके साथ ही वह भवनो के

1. "Direction in administration is that part, "that affects the decision, gives the signals to act, indicates what the action is to be and when it is to start and stop." (Ibid)

(२) सगठन—समस्त प्रकार के प्रशासनो मे सगठन मूलभूत कार्य है। जे० बी० सीयर्स का कथन है कि "यह कार्य करने की एक मशीन है जिसका निर्माण व्यक्तियो, वस्तुओं विचारो, धारणाओ, प्रतीको, स्वरूपो, नियमो, सिद्धातो के द्वारा या प्राय इन सबके सयोग से हो सकता है। मशीन स्वत: ही कार्य कर सकती है या इसका सचालन मानवीय निर्णय एव इच्छा के द्वारा किया जा सकता है।"[1] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सगठन के अन्तर्गत कई प्रकार की व्यवस्थाएँ निहित हैं। प्रथम, मानवीय तत्व का सगठन तथा द्वितीय, भौतिक तत्व का संगठन। मानवीय तत्व का सगठन कक्षाओ, समितियों, शिक्षक-वर्ग, एव अन्य कर्मचारियो के वर्ग मे किया जा सकता है। भौतिक तत्व का सगठन भवन, फर्नीचर, पुस्तकालय एवं अन्य शैक्षिक सामग्री आदि मे किया जा सकता है। विचारो, सिद्धान्तो एव धारणाओ को विद्यालय पद्धतियो, पाठ्य-क्रम समय तालिका आदि मे सगठित किया जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सगठन वह मशीन है जिसके द्वारा विभिन्न तत्वों को इस प्रकार सगठित किया जाता है जिससे सम्पूर्ण कार्यक्रम को उद्देश्य की प्राप्ति के हेतु क्रियान्वित किया जा सके।

(३) सचालन—शिक्षा-प्रशासन मे मार्ग-प्रदर्शन या नेतृत्व ही आधार है। सफल नेतृत्व या पथ-प्रदर्शन के अभाव मे सम्पूर्ण योजना एव सगठन व्यर्थ हो जाता है। सचालन या पथ-प्रदर्शन के अन्तर्गत तीन बातें निहित हैं—प्रथम, निर्णय करना, द्वितीय, उन निर्णयो को सामान्य तथा विशेष आदेशो के रूप मे घोषित करना तथा तृतीय, इन प्रदान किये गये आदेशो को व्यवहार मे लाना। इस प्रकार सचालन सरल कार्य नही है। इसके लिए प्रशासक मे उच्च स्तर की योग्यता, ज्ञान, नेतृत्व-शक्ति दूरदर्शिता, अनुभव विवेक आदि गुणो का होना परमावश्यक है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सचालन के लिये मानवीय सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता का होना बहुत आवश्यक है। यदि नेता मे इस गुण का अभाव है तो वह अपनी योजना का सचालन सफलतापूर्वक नही कर सकता है। उदाहरणार्थ—विद्यालय का नेता (प्रधानाध्यापक) यदि स्वय ही निर्णय करके अपने आदेशो को इस ढग से कि "यह मेरा आदेश है कि तुमको ऐसा करना है" देता है तो वह कभी भी अपने साथियो की सद्भावना को प्राप्त नहीं कर सकता। एक कुशल नेता को अपने साथियो के परामर्श से ही किसी विषय पर निर्णय लेना चाहिये। इसके साथ ही वह अपने आदेशो को ऐसे ढग से रखे जिससे कि उसके साथी उन आदेशो को दूसरे के आदेश न मानकर अपने

1. "It is a machine for doing work. It may be composed primari of persons, of materials, of ideas, concepts, symbols rules, principles; or more often, of a combinatio machine may work automatically; or its subject to human judgement and will."
—J. B. Sears "*The Nature of Adr.*

अपने निर्णयों को क्रियान्वित करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। इसके साथ ही विद्यालय की आन्तरिक व्यवस्था मे लोकतन्त्रीय दृष्टिकोण को ग्रहण किया जाय। ऐसा करना इसलिये आवश्यक है क्योकि शिक्षा-प्रशासन का अन्तिम उद्देश्य सामाजिक वातावरण के माध्यम मे बालक का सम्पूर्ण विकास करना है। परन्तु दुर्भाग्यवश हमारा शिक्षा-प्रशासन 'बाल केन्द्रित' (Child Centred) न होकर 'फाइल-केन्द्रित' (File Centred) है। इस स्थिति को दूर करने के लिये यह आवश्यक है कि प्रशासन क्षेत्र मे प्रशासक, शिक्षक एव शिक्षा-मर्मज्ञो को समान रूप मे उत्तरदायी ठहराया जाय और इनकी गतिविधियो मे समन्वय स्थापित किया जाय।

Questions

1. What do you understand by educational administration? Discuss its scope and purpose
2. What do you understand by good educational administration? What measures can you suggest for such an administration in your country?
3. What do you understand by External and Internal administration of Education? Explain with reference to Indian conditions
4. "Educational Administration is a democratic" process comment.

र्माण एव खेल के मैदानो की व्यवस्था मे सहायता देता है तथा वेतन, सेवाओं की
ओं एव सत्र की अवधि का निर्धारण और ऐसी ही बहुत सी दूसरी समस्याओ के
ध मे अपना निर्णय देता है। आन्तरिक प्रशासन से उस व्यवस्था का अर्थ लगाया
ता है जो विद्यालय का नेता अपने साथियो की सहायता से विद्यालय के प्रतिदिन
कार्यक्रमो एव क्रियाओ के सचालन के लिये स्थापित करता है।

अन्य दूसरे लोकतन्त्रीय देशो मे पाठ्य-क्रम, शिक्षण-विधियो, पाठ्य-पुस्तक
अन्य ऐसी शैक्षिक समस्याओं को हल करने का दायित्व समुदाय तथा विद्यालय
रहता है। परन्तु भारत मे स्थिति इसके विपरीत है—यहाँ इन बातो के विषय मे
स्त आदेश शिक्षा विभाग द्वारा भेजे जाते हैं। इस क्षेत्र मे समुदाय तथा विद्यालय
कोई भी स्थान प्राप्त नहीं है। उनको उसी पाठ्य-वस्तु को पढ़ाना है जो शिक्षा
ाग द्वारा विभिन्न कक्षाओं के लिये निर्धारित किया जाता है। उत्तम प्रकार की
सन पद्धति वह है जिसमे शिक्षको को शिक्षा के प्रशासन मे भाग लेने का अधिकार
होता है। परन्तु यह अधिकार प्राप्त होना ही पर्याप्त नही है। उनको इस
कार का उपभोग करने की भी पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। उत्तम प्रकार की
सन पद्धति मे शिक्षक, प्रशासक तथा शिक्षा-मर्मज्ञ एक साथ मिलकर कार्य करते
इन तीनो के सहयोगी कार्यो के फलस्वरूप ही उस उद्देश्य की प्राप्ति होती है
के लिये उस सगठन या सस्था का निर्माण किया जाता है। दुर्भाग्यवश भारत मे
कों को न तो प्रशासन सम्बन्धी मामलो के विषय मे अपनी राय प्रस्तुत करने की
न्त्रता है और न शैक्षिक विषयो मे। शिक्षा-विभाग जिन नियमों को बनाता है,
ा पालन करना आवश्यक है। उनमे किसी प्रकार का भी परिवर्तन नही किया
सकता है। विद्यालय मे प्रधानाध्यापक अपने साथियों की सहमति के बिना
यो का निर्धारण करता है और उनका पालन भी बिना किसी मतभेद एव
ाव के करना होता है। प्रगति के लिये यह स्थिति बड़ी विषम है। लोकतन्त्रीय
ष्टिकोण से बाह्य एव आन्तरिक दोनो प्रकार के प्रशासन मे सम्बन्ध होना आवश्यक
इस सम्बन्ध के अभाव मे शिक्षा-प्रशासन अपने अन्तिम उद्देश्य अर्थात् उचित ढग
ालक को शिक्षित करने की पूर्ण प्राप्ति नहीं कर सकता है। यह सम्बन्ध इन
प्रकार के प्रशासनों मे ही आवश्यक नही है। इनमे कार्य करने वाले व्यक्तियों
उनके द्वारा प्रयोग मे लायी जाने वाली वस्तुओं एव साधनों के बीच भी समन्वय
आवश्यक है। प्रजातन्त्र इस बात की माँग करता है कि शैक्षिक विषयों मे
लय के नेताओं को स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। यदि उनको स्वतन्त्रता प्राप्त
होगी तो वे अपनी पहलकदमी (Initiative) का उपयोग नहीं कर सकेंगे। इसके
ही वे उच्च स्तर की शक्ति के आदेशों का यन्त्रवत् पालन करना ही सीख पायेंगे।
भारत मे जब लोकतन्त्र को ग्रहण कर लिया गया है तो यह आवश्यक हो जाता है
विद्यालय की सम्पूर्ण व्यवस्था का भार प्रधानाध्यापक एव उसके साथियों पर होना
हिए। उनको पाठ्य-क्रम, पाठ्य-पुस्तक, पाठन-विधि आदि विषयों के सम्बन्ध मे

(२) शिक्षा-प्रशासन का राष्ट्र की सांस्कृतिक विरासत से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया जाय। दूसरे शब्दो में कह सकते हैं कि सांस्कृतिक विशेषताओं को ध्यान मे रखकर शिक्षा का प्रबन्ध किया जाना चाहिये। इसके साथ ही शिक्षा-प्रशासन सांस्कृतिक आवश्यकताओ की पूर्ति मे भी सहायक होना चाहिये।

(३) शिक्षा-प्रशासन का एक अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि वह दृढ़ न होकर लचीला हो क्योंकि उसको समाज की आवश्यकताओ की पूर्ति करनी है। वह उनकी पूर्ति तभी कर सकता है जब वह लचीला होगा। समाज मे परिवर्तन होते रहते हैं। शिक्षा-प्रशासन को इन सामाजिक परिवर्तनो को ध्यान मे रखना चाहिये।

(४) शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण राजनीतिक उद्देश्यो एव विचारों को भी ध्यान मे रखकर किया जाता है। इस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था शिक्षा पर अपना गहन प्रभाव डालती है। यदि किसी देश मे तानाशाही है तो वहाँ की शिक्षा-व्यवस्था उसी दृष्टिकोण के अनुसार होगी। इसके साथ ही शिक्षा का प्रशासन भी तानाशाही दृष्टिकोण को स्पष्ट करेगा। परन्तु इस प्रकार के प्रशासन मे बालको के दृष्टिकोण को विस्तृत नही बनाया जा सकता है। वे तो केवल बिना किसी तर्क के आदेशो के पालन के लिये तैयार किये जायेंगे। इस प्रकार का प्रशासन एकांगी होगा। इसके विपरीत लोकतन्त्रीय व्यवस्था मे शिक्षा-प्रशासन का दृष्टिकोण दूसरा ही होगा। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं शिक्षा-प्रशासन एक सहयोगी लोकतन्त्रीय प्रक्रिया है। स्वत ही यहाँ यह प्रश्न उठता है कि लोकतन्त्रीय शिक्षा-प्रशासन के क्या सिद्धान्त हैं ? इसके उत्तर मे हम अधोलिखित सिद्धान्तों को प्रस्तुत कर सकते हैं—

(i) इसमे बालक को केन्द्र बिन्दु माना जाता है। जिसका प्रमुख उद्देश्य उसको स्वय चिन्तन करने के योग्य बनाना है। परन्तु उसे सोचने के ही योग्य नहीं बनाना है वरन् इस योग्य भी बनाना है कि उसका चिन्तन स्पष्ट एव स्वतन्त्र हो। इसके साथ ही वह स्वतन्त्र निर्णय भी कर सके।

(ii) नीति-निर्धारण मे सहयोगियो का परामर्श लेना चाहिये। दूसरे शब्दो मे, शिक्षा प्रशासन का एक सिद्धान्त यह है कि इसकी नीतियो का निर्धारण किसी एक व्यक्ति के द्वारा नही किया जाता है वरन् इसके निर्धारण मे सभी कार्यकर्ता विचार-विमर्श करके सक्रिय भाग लेते हैं।

(iii) इसमे इस बात का ध्यान रखा जाता है कि शिक्षा के सम्बन्ध मे केवल एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह का ही दायित्व एव अधिकार नहीं है वरन् उन सब लोगों का भी है जो शिक्षा से सम्बन्धित हैं चाहे वे सामान्य नागरिक हो और चाहे वे छात्रो के सरक्षक हो। इस प्रकार लोकतन्त्रीय शिक्षा-प्रशासन मे सभी व्यक्तियो के दायित्व एव अधिकार को स्वीकार किया जाता है। इसके साथ ही यह भी स्वीकार किया जाता है कि जिनके लिये शिक्षा की योजनाए बनाई जा रही हैं उनका भी इस क्षेत्र मे दायित्व एव अधिकार है। यह सिद्धान्त इसलिये स्वीकार

२

शिक्षा-प्रशासन के सिद्धान्त

(Principles of Educational Administration)

विषय-प्रवेश

किसी भी देश का शिक्षा-प्रशासन एक विकासमय प्रक्रिया है जिसका देश की सस्कृति, इतिहास, समाज एव राजनैतिक सगठन से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। ये समस्त बातें उसके विकास म महत्वपूर्ण भाग लेती हैं। उत्तम प्रकार के शिक्षा-प्रशासन को देश की इन क्षेत्रों की विशेषताओ को प्रतिबिम्बित एव आवश्यकताओं को पूर्ण करना चाहिये। शिक्षा-प्रशासन के कुशल सचालन के ऊपर व्यक्ति एव समाज दोनों का ही भविष्य निर्भर है। अत शिक्षा की व्यवस्था का दायित्व जिन लोगो को सौंपा जाय, वे मेधावी, अनुभवी एव शिक्षा साहित्य का ज्ञान रखने वाले होने चाहिये। इसके साथ ही वे उन सिद्धान्तो से भी परिचित हों जिनको लोकतन्त्र मे मान्यता प्राप्त है। यहाँ स्वत ही यह प्रश्न उठता है कि वे कौन से सिद्धान्त है जिनको व्यावहारिक रूप प्रदान करके लोकतन्त्रीय शिक्षा का प्रशासन किया जा सकता है। दूसरे शब्दो मे कह सकते हैं कि शिक्षा-प्रशासन के वे कौन से सिद्धान्त हैं जिनको व्यावहारिक रूप प्रदान करके उस सगठन या सस्था के अन्तिम ध्येय को प्राप्त किया जा सकता है। इनमे से प्रमुख सिद्धान्तो का विवेचन नीचे किया जा रहा है—

शिक्षा-प्रशासन के सिद्धान्त

(१) शिक्षा-प्रशासन मे देश की ऐतिहासिक परम्पराओ को प्रतिबिम्बित किया जाय। इसके साथ ही कुछ महत्वपूर्ण परम्पराओ को सरक्षित एव प्रोत्साहित किया जाय।

(२) शिक्षा-प्रशासन का राष्ट्र की सांस्कृतिक विरासत से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया जाय। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि सास्कृतिक विशेषताओं को ध्यान मे रखकर शिक्षा का प्रबन्ध किया जाना चाहिये। इसके साथ ही शिक्षा-प्रशासन सास्कृतिक आवश्यकताओ की पूर्ति मे भी सहायक होना चाहिये।

(३) शिक्षा-प्रशासन का एक अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि वह दृढ न होकर लचीला हो क्योकि उसको समाज की आवश्यकताओ की पूर्ति करनी है। वह उनकी पूर्ति तभी कर सकता है जब वह लचीला होगा। समाज मे परिवर्तन होते रहते हैं। शिक्षा-प्रशासन को इन सामाजिक परिवर्तनो को ध्यान मे रखना चाहिये।

(४) शिक्षा के उद्देश्यो का निर्धारण राजनीतिक उद्देश्यो एव विचारो को भी ध्यान मे रखकर किया जाता है। इस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था शिक्षा पर अपना गहन प्रभाव डालती है। यदि किसी देश मे तानाशाही है तो वहाँ की शिक्षा-व्यवस्था उसी दृष्टिकोण के अनुसार होगी। इसके साथ ही शिक्षा का प्रशासन भी तानाशाही दृष्टिकोण को स्पष्ट करेगा। परन्तु इस प्रकार के प्रशासन में बालको के दृष्टिकोण को विस्तृत नही बनाया जा सकता है। वे तो केवल बिना किसी तर्क के आदेशो के पालन के लिये तैयार किये जायेंगे। इस प्रकार का प्रशासन एकांगी होगा। इसके विपरीत लोकतन्त्रीय व्यवस्था मे शिक्षा-प्रशासन का दृष्टिकोण दूसरा ही होगा। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं शिक्षा-प्रशासन एक सहयोगी लोकतन्त्रीय प्रक्रिया है। स्वत ही यहाँ यह प्रश्न उठता है कि लोकतन्त्रीय शिक्षा-प्रशासन के क्या सिद्धान्त हैं? इसके उत्तर मे हम अधोलिखित सिद्धान्तो को प्रस्तुत कर सकते हैं—

(i) इसमे बालक को केन्द्र बिन्दु माना जाता है। जिसका प्रमुख उद्देश्य उसको स्वय चिन्तन करने के योग्य बनाना है। परन्तु उसे सोचने के ही योग्य नहीं बनाना है वरन् इस योग्य भी बनाना है कि उसका चिन्तन स्पष्ट एव स्वतन्त्र हो। इसके साथ ही वह स्वतन्त्र निर्णय भी कर सके।

(ii) नीति-निर्धारण मे सहयोगियो का परामर्श लेना चाहिये। दूसरे शब्दो मे, शिक्षा प्रशासन का एक सिद्धान्त यह है कि इसकी नीतियों का निर्धारण किसी एक व्यक्ति के द्वारा नही किया जाता है वरन् इनके निर्धारण में सभी कार्यकर्ता विचार-विमर्श करके सक्रिय भाग लेते हैं।

(iii) इसमे इस बात का ध्यान रखा जाता है कि शिक्षा के सम्बन्ध में केवल एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह का ही दायित्व एव अधिकार नहीं है वरन् उन सब लोगों का भी है जो शिक्षा मे सम्बन्धित हैं चाहे वे सामान्य नागरिक हों और चाहे वे छात्रो के सरक्षक हों। इस प्रकार लोकतन्त्रीय शिक्षा-प्रशासन मे सभी व्यक्तियों के दायित्व एव अधिकार को स्वीकार किया जाता है। इसके साथ ही यह भी स्वीकार किया जाता है कि जिनके लिये शिक्षा की योजनाएं बनाई जा रही हैं उनका भी इस क्षेत्र में दायित्व एव अधिकार है। यह सिद्धान्त इसलिये स्वीकार

किया जाता है क्योंकि लोकतन्त्र मानव व्यक्तित्व के अनन्त मूल्य (Infinite wor को स्वीकार करता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा-प्रशासन में प्रत्ये व्यक्ति का दायित्व एव अधिकार है।

(iv) इसका एक सिद्धान्त यह है कि अधीनस्थ अधिकारियों के मा अधिकारो की सुरक्षा की जाय।

(v) प्रशासन मे न्याय, समानता, स्वतन्त्रता आदि सिद्धान्तों को स्थान मिल चाहिये।

(vi) शिक्षा-प्रशासन के निश्चित मापदण्ड (Standards) एव विधियाँ हो चाहिये।

(vii) योग्य कार्यकर्त्ताओं का चुनाव होना चाहिये।

(viii) कार्यकर्त्ताओ को अपने दायित्वो एव अधिकारो का समुचित ज्ञा होना चाहिए। जिससे वे अपने दायित्वो का उचित रूप से निर्वाह कर सकें। इस साथ ही उनको सगठन या सस्था के उद्देश्यों का ज्ञान होना चाहिये।

(ix) संगठन या सस्था के सभी कार्यकर्त्ताओं के कार्यों एव रुचियों मे सामजस होना चाहिये जिससे सफलता को प्राप्त किया जा सके।

(x) सभी कार्यकर्त्ताओ मे कार्यों का उचित विभाजन होना चाहिए।

(xi) प्रशासक को अपने दायित्वो को समझना चाहिये। इसके साथ ही व स्वय को अपने साथियो का अधिनायक न मानकर नेता माने। वह स्वय को उनक भाई समझे। वह अपने समूह को समान उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये सहयोग के सा कार्य करने के लिये प्रोत्साहन दे। यह योग्यता ही लोकतन्त्र का सार है। शिक्षा प्रशासन की प्रक्रिया को लोकतन्त्रीय बनाने के लिये इसी प्रकार के दृष्टिकोण क आवश्यकता है। भारत मे इस दृष्टिकोण की परम आवश्यकता है। इसके अभाव म हमारा नवजात लोकतन्त्र सफल नहीं हो सकता है।

(xii) शिक्षालय को 'लोकतन्त्र का पालना' कहा जाता है। यदि उसक स्वय को वास्तविक रूप मे ऐसा सिद्ध करना है तो उपरोक्त सिद्धान्तो के अनुसार शिक्षालय की आन्तरिक व्यवस्था को व्यवस्थित करना होगा। इसके साथ ही उसके नेता को सदैव सुझावो एव कटु आलोचनाओ को स्वीकार करने के लिये तत्पर होना पड़ेगा और उन आलोचनाओं पर विचार-विमर्श करके स्वय को तथा अपने शिक्षालय को श्रेष्ठ बनाना पड़ेगा।

शिक्षा-प्रशासन के विषय में प्रचलित प्रवृत्तियाँ
(Tendencies Prevalent about the Educational Administration)

शिक्षा-प्रशासन के विषय में दो प्रवृत्तियाँ प्रचलित हैं—केन्द्रीकरण (Centralization) की प्रवृति तथा विकेन्द्रीकरण (Decentralization) की प्रवृत्ति। भारत

में विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को ग्रहण करने का प्रयास किया गया है। यहाँ शिक्षा-प्रशासन का कार्य अधोलिखित स्तरों पर किया जाता है—

(१) केन्द्रीय स्तर (Central Level)
(२) राज्जीय स्तर (State level)
(३) स्थानीय स्तर (Local level)
(४) *व्यक्तिगत साधन (Private agencies)*

अगले अध्यायों में हम केन्द्र, राज्य, स्थानीय संस्थाओं तथा व्यक्तिगत साधनों के कार्यों एवं उनके प्रशासकीय ढाँचों की विवेचना करेंगे।

Question

1. What considerations should the head bear in mind in the administration of the school under him and why ?
2. "The political conditions influence the Educational Administration of a country" Discuss
3. ' Efficient school administration is necessarily based on congenial human relationships " Explain.

३

केन्द्रीय स्तर पर शिक्षा-प्रशासन

(Educational Administrative Set up at the Centre)

विषय-प्रवेश

समय ने करवट बदली और १५ अगस्त सन् १९४७ को भारत सदियों की गुलामी की जंजीरों से मुक्त हुआ। स्वतन्त्रता प्राप्ति ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नवीन दृष्टिकोण उत्पन्न किया। हमारे ऊपर कुछ दायित्व आये और हमें कुछ अधिकार-सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक धार्मिक आदि—प्राप्त हुए। इसके साथ ही भारत ने स्वयं को लोकतन्त्रात्मक गणराज्य घोषित किया और आर्थिक क्षेत्र में समाजवादी व्यवस्था को अपनाया। इन क्षेत्रों में प्रस्तावित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये देश के कर्णधारों ने पंचवर्षीय योजनाओं का नियोजन किया। इसके साथ ही उन्होंने यह भी अनुभव किया कि शिक्षा के अभाव में न तो लोकतन्त्र सफल हो सकता है और न आर्थिक समृद्धि ही प्राप्त की जा सकती है। इसलिये उन्होंने पंचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा को स्थान दिया। तृतीय पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा में यह घोषित किया कि "मनुष्य मशीनों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है......इसलिये भौतिक योजनाओं की अपेक्षा मनुष्य के लिए विनियोग (investment) करना अधिक महत्वपूर्ण है।" इस प्रकार हमारे देश के योजना बनाने वालों ने यह अनुभव किया कि जनता की आर्थिक दशा को सुधारने एवं औद्योगीकरण के लिये किये जाने वाले महान् प्रयोग की सफलता केवल शिक्षा द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि केवल शिक्षा द्वारा ही जनता की आर्थिक स्थिति का सुधार तथा लोकतन्त्र को सफल बनाया जा सकता है। इस प्रकार शिक्षा ही व्यक्ति एवं समाज दोनों की प्रगति के लिये उत्तरदायी है। इसके अभाव में आज कोई भी देश प्रगति

के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता है। अतः हम कह सकते हैं कि राष्ट्र के कर्णधारों ने शिक्षा के महत्त्व को समझकर उसकी प्रगति के लिये महत्त्वपूर्ण कदम उठाने के प्रयास किये हैं।

केन्द्र का शिक्षा में कार्य भाग (Role of the centre in Education)

२६ जनवरी १६५० को भारत का सविधान लागू हुआ। सविधान के अनुसार समस्त विषयो को तीन सूचियो—सघ सूची, राज्य सूची तथा समवर्ती सूची—में विभक्त किया गया। शिक्षा को राज्य सूची मे रखा गया। सविधान की सातवी सूची ने राज्य सरकारो को शिक्षा के लिये उत्तरदायी ठहराया। इसके साथ ही धारा ६२-६६ मे केन्द्र सरकार को अधोलिखित क्षेत्रो मे कुछ शैक्षिक उत्तरदायित्व प्रदान किये—

१ केन्द्रीय विश्वविद्यालयो—बनारस, अलीगढ, देहली तथा विश्वभारती—की वित्तीय व्यवस्था एव निरीक्षण।
२ राष्ट्रीय महत्त्व की सस्थाओ का प्रशासन जैसे, राष्ट्रीय पुस्तकालय, विक्टोरिया मेमोरियल, भारतीय अजायबघर आदि।
३. वैज्ञानिक या प्राविधिक शिक्षा की उन सस्थाओ का प्रशासन जो ससद के कानून के द्वारा राष्ट्रीय महत्त्व की घोषित कर दी गई हैं।
४. उच्च शिक्षा, अनुसन्धान तथा वैज्ञानिक एव प्राविधिक शिक्षा के क्षेत्रों मे मानदण्डो का निर्धारण एव सुविधाओ मे समन्वय स्थापित करना।
५ सम्पूर्ण देश मे ६ से १४ वर्ष तक के बालको की नि:शुल्क, सार्वभौमिक एव अनिवार्य शिक्षा के सम्बन्ध मे राज्य सरकारो एव निजी सस्थाओ के उत्तरदायित्व मे भाग लेना।
६. प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र मे समन्वय स्थापित करना।
७ यूनेस्को (UNESCO) जैसे अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो को सहयोग देना।
८. सघीय क्षेत्रो में शिक्षा की वित्तीय व्यवस्था, सचालन एव नियन्त्रण करना।
९ विभिन्न प्रकार की छात्रवृत्तियाँ प्रदान करने की व्यवस्था करना।

उपरोक्त कार्यों एव दायित्वो को पूर्ण करने के लिये केन्द्र मे एक शिक्षा-मन्त्रालय है जिसको फरवरी १६५८ मे दो मन्त्रालयो मे विभक्त कर दिया गया। प्रथम, 'शिक्षा-मत्रालय' (Ministry of Education (General)) तथा द्वितीय, वैज्ञानिक अनुसन्धान एव सास्कृतिक विषयो का मन्त्रालय (Ministry of Scientific Reaserch and Caltural Affairs)। नीचे हम इन दोनो का सगठन एवं उनके विभागो का विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं।

शिक्षा-मंत्रालय का संगठन (Organization of the Ministry of Education)

शिक्षा-मन्त्रालय शिक्षा-मत्री के अधीन होता है जो कैबिनेट मत्री के पद का होता है। शिक्षा-मत्री शिक्षा-सम्बन्धी नीतियो के निर्धारण तथा विभिन्न राज्यो के

शैक्षिक ढाँचे मे साम्यता स्थापित करने के लिये उत्तरदायी होता है। उस पर
के सम्बन्ध मे समद मे पूछे जाने वाले प्रश्नों का उत्तर देने का भार होता है।
सहायता के लिये आवश्यकतानुसार एक या दो उपमत्री भी होते हैं।

शिक्षा-सचिव मन्त्रालय का प्रशासकीय अध्यक्ष होता है तथा भारत सरक
शिक्षा-परामर्शदाता (Educational Advisor) होता है। उसके अतिरिक्त सह-
सचिव तथा सह-शिक्षा परामर्शदाता होता है। इनके अधीन अन्य बहुत से अधि
उप-शिक्षा-सचिव अधीन सचिव, उप शिक्षा परामर्शदाता, सहायक शिक्षा-परामर्
शिक्षा-अधिकारी, सहायक शिक्षा-अधिकारी, प्रशासन अधिकारी, सँक्शन अधि
कार्यालय अध्यक्ष तथा अन्य अधिकारी होते हैं। इसके सगठन को चार्ट द्वारा
प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

शिक्षा-मन्त्रालय (Ministry of Education)

शिक्षा-मत्री (Minister for Education)

उप शिक्षा-मत्री (Deputy Minister for Education)

शिक्षा-सचिव एव शिक्षा-परामर्शदाता (Education Secretary and Eduactional Adviser)

सभा सचिव
- लोक सभा के लिये
- राज्य सभा के लिये

सह-शिक्षा सचिव (Joint Education Secretary)

उप-शिक्षा सचिव (Deputy Education Secretary)

अधीन सचिव (Under Secretry), शिक्षा अधिकारी (Education officer), सहायक शिक्षा अधिकारी (Assistant Education

सह-शिक्षा-परामर्शदाता (Joint Educational Adviser)

अवैतनिक परामर्शदाता (Hon. Adviser)

इसके अधीन दो विभाग हैं

ा मंत्रालय के विभाग (Divisions of the Ministry of Education)

शिक्षा-मन्त्रालय ने अपने दायित्वो एव कर्त्तव्यो को पूर्ण करने के लिये स्वयं को लिखित विभागो मे विभाजित किया है—

१. प्रशासकीय विभाग (Administrative Division)
२. प्रारम्भिक एव बेसिक शिक्षा (Elementary and Basic Education)
३ माध्यमिक शिक्षा (Secondary Education)
४ यूनेस्को तथा उच्च शिक्षा विभाग (UNESCO and Higher Education Division)
५ सामाजिक शिक्षा तथा समाज कल्याण विभाग (Social Education and Social welfare Division)
६ शारीरिक शिक्षा एव मनोरजन विभाग (Physical Education and Recreation Division)
७ हिन्दी विभाग (Hindi Division)
८ अनुसन्धान एव प्रकाशन विभाग (Research and Publication Division), तथा
९ छात्रवृत्ति विभाग (Scholarship Division)

इन विभागो के अतिरिक्त दो यूनिट और हैं। प्रथम 'Plan coordination t of the Ministry जिसका प्रमुख कार्य केन्द्र तथा राज्यो की शैक्षिक विकास नाओ के बीच सामजस्य स्थापित करना है। द्वितीय, 'Special Reorganization t" जिनका प्रमुख कार्य मन्त्रालय के विभिन्न खण्डों (Sections) के कार्यों का यन करना है। ऐसा इसलिये किया जाता है जिससे यह ज्ञात हो सके कि कम कम कार्यकर्त्ताओं द्वारा अधिकतम कुशलता प्राप्त करने के लिये किस प्रकार कार्य पुनः सगठित किया जा सकता है।

वैज्ञानिक अनुसंधान एवं सांस्कृतिक विषयों के मत्रालय का संगठन

(Organization of the Ministry of Scientific Research and Cultural Affairs)

शिक्षा मत्रालय की भाँति यह भी एक मत्री के अधीन होता है। परन्तु यह ी राज्य मत्री (Minister of State) के पद का होता है। इसका सगठन भी क्षा मत्रालय की भाँति होता है। मत्री के अधीन शिक्षा सचिव एव शिक्षा-परामर्श-ता होता है। इसके अतिरिक्त मत्रालय मे सह-सचिव, अधीन सचिव, उप शिक्षा ामर्शदाता, सहायक शिक्षा परामर्शदाता, प्राविधिक अधिकारी, विशेष अधिकारी,

२ वैज्ञानिक अनुसधान विभाग (Scientific Research Division)

३ बाह्य सम्बन्ध विभाग (External Relation Division)

४. सास्कृतिक विभाग (Cultural Division)

५ सांस्कृतिक छात्रवृत्ति एव प्रकाशन विभाग (Cultural Scholarship and Publication Division) तथा

६. प्राविधिक विभाग (Technical Division)।

इन विभागो के अतिरिक्त इस मत्रालय की कुछ यूनिटें भी हैं। उनमे से 'Gazetter Unit' प्रमुख है। प्राविधिक विभाग का कार्य बहुत ही महत्वपूर्ण है। यह विभाग मत्रालय को प्राविधिक शिक्षा से सम्बन्धित नीतियो के निर्धारण एवं उनके सचालन मे सहायता प्रदान करता है। इस विभाग के चार क्षेत्रीय कार्यालय हैं जो कलकत्ता, मद्रास, बम्बई तथा कानपुर मे स्थित हैं। ये राज्य सरकारो से अपना घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखते हैं तथा अखिल भारतीय प्राविधिक शिक्षा परिषद की क्षेत्रीय समितियो के सचिवालय के रूप मे भी कार्य करते हैं। इस मंत्रालय के सगठन एव विभागो को चार्ट द्वारा इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है :—

वैज्ञानिक अनुसन्धान एव सास्कृतिक विषयो का मत्रालय

|

वैज्ञानिक अनुसधान एव सास्कृतिक विषयो का मत्री
(Minister for Scientifice Research and Cultural Affairs)

|

शिक्षा सचिव एव शिक्षा-परामर्शदाता

|

सह शिक्षा सचिव तथा वैज्ञानिक अनुसन्धान एवं सास्कृतिक विषयो का परामर्शदाता
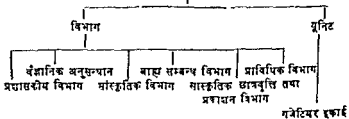
अखिल भारतीय शिक्षा परिषदें
(All India Educational Bodies)

शिक्षा मत्रालय द्वारा बहुत-सी शिक्षा-परिषदों का निर्माण किया गया है जो भारत सरकार को अपने शैक्षिक दायित्वों एव कार्यों को पूर्ण करने में सहायता

२. वैज्ञानिक अनुसंधान विभाग (Scientific Research Division)
३. बाह्य सम्बन्ध विभाग (External Relation Division)
४. सांस्कृतिक विभाग (Cultural Division)
५. सांस्कृतिक छात्रवृत्ति एवं प्रकाशन विभाग (Cultural Scholarship and Publication Division) तथा
६. प्राविधिक विभाग (Technical Division)।

इन विभागों के अतिरिक्त इस मंत्रालय की कुछ यूनिटें भी हैं। उनमें से 'Gazetter Unit' प्रमुख है। प्राविधिक विभाग का कार्य बहुत ही महत्वपूर्ण है। यह विभाग मंत्रालय को प्राविधिक शिक्षा से सम्बन्धित नीतियों के निर्धारण एवं उनके संचालन में सहायता प्रदान करता है। इस विभाग के चार क्षेत्रीय कार्यालय हैं जो कलकत्ता, मद्रास बम्बई तथा कानपुर में स्थित हैं। ये राज्य सरकारों से अपना घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखते हैं तथा अखिल भारतीय प्राविधिक शिक्षा परिषद की क्षेत्रीय समितियों के सचिवालय के रूप में भी कार्य करते हैं। इस मंत्रालय के संगठन एवं विभागों को चार्ट द्वारा इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है :—

वैज्ञानिक अनुसन्धान एवं सांस्कृतिक विषयों का मंत्रालय

|

वैज्ञानिक अनुसंधान एवं सांस्कृतिक विषयों का मंत्री
(Minister for Scientific Research and Cultural Affairs)

|

शिक्षा सचिव एवं शिक्षा-परामर्शदाता

|

सह शिक्षा सचिव तथा वैज्ञानिक अनुसन्धान एवं सांस्कृतिक

|

विभाग

| प्रशासकीय विभाग | वैज्ञानिक अनुसन्धान | सांस्कृतिक विभाग | बाह्य सम्बन्ध |

अखिल भारतीय
(All India Ed

[illegible]
[illegible]

(२) अखिल भारतीय प्रारम्भिक शिक्षा परिषद्—इस परिषद् की स्थापना
ा तथा वैज्ञानिक अनुसन्धान मन्त्रालय (Ministry of Education an
entific Research) के १७ जून १९५७ के एक प्रस्ताव द्वारा हुई थी। इसकी
पना का उद्देश्य ६ से १४ वर्ष तक के सभी बालको को नि:शुल्क एवं अनिवार्
ा प्रदान करने के लिये विभिन्न प्रकार के कदम उठाना था। ऐसा वह भारती
धान की ४५वी धारा मे दिये गये निर्देशक सिद्धान्त (Directive Principle
अनुसार कर सकती थी। इस परिषद का सगठन अधोलिखित नियमो के द्वार
गये प्रतिनिधियो से होता है—

(१) राज्य सरकारो के प्रतिनिधि।

(२) केन्द्रीय शिक्षा परामर्शदाता मण्डल।

(३) अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा परिषद

(४) प्रशिक्षण महाविद्यालयो के प्रतिनिधि।

(५) बेसिक शिक्षा से सम्बन्धित शिक्षा मर्मज्ञ।

(६) शिक्षा-मन्त्रालय के प्रतिनिधि तथा

(७) पिछड़े वर्गों एवं लड़कियो की शिक्षा से सम्बन्धित शिक्षा मर्मज्ञ।

परिषद के कार्य—शिक्षा तथा वैज्ञानिक अनुसन्धान मन्त्रालय के १७ जून
९५७ के प्रस्ताव मे इस परिषद के अधोलिखित कार्य निर्धारित किये गये—

(१) प्रारम्भिक शिक्षा से सम्बन्धित मामलो पर केन्द्रीय सरकार, राज्य
रकार तथा स्थानीय निकायो को सलाह देना।

(२) भारतीय सविधान की ४५वीं धारा को लागू करने के लिये कार्यक्रम
ार करना।

(३) प्रारम्भिक शिक्षा की प्रशासकीय, वित्तीय एवं शिक्षण-शास्त्र सम्बन्धी
स्याओ पर अनुसन्धान कार्य कराना तथा उनके निष्कर्षो को प्रकाशित करना।

(४) ऐसा साहित्य तैयार करना जिससे शिक्षा विभागो तथा शिक्षको को
रम्भिक शिक्षा के स्तर को उन्नत बनाने मे सहायता मिल सके।

(५) प्रारम्भिक शिक्षा के विस्तार एवं उन्नति के लिये उपयुक्त प्रकार का
र्देशन, एवं नेतृत्व प्रदान करना।

(६) प्रत्येक राज्य मे प्रारम्भिक शिक्षा की उन्नति एवं विस्तार के लिये
स्तृत कार्यक्रम तैयार कराना।
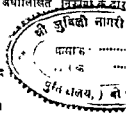
केन्द्रीय सरकार प्रारम्भिक शिक्षा के क्षेत्र मे अपने दायित्व का निर्वाह इस
रिषद के माध्यम से करती है

श्य उद्देश्य यह था कि वह देश मे माध्यमिक शिक्षा की उन्नति के लिये एक विशेष काय के रूप मे कार्य करे। उस समय इस परिषद के सदस्यों की सख्या २२ थी र इसका चेयरमैन भारत सरकार का शिक्षा-परामर्शदाता था। इस परिषद को प्रकार के कार्य सौंपे गये। प्रथम, परामर्श सम्बन्धी कार्य तथा द्वितीय, कार्यपालिका म्बन्धी कार्य। परिषद माध्यमिक शिक्षा के सभी क्षेत्रो मे भारत सरकार तथा राज्य रकारो को सलाह देने वाली सस्था होने के साथ-साथ स्वय इस क्षेत्र में माध्यमिक क्षा के प्रसार एव उन्नति के लिये पहला कदम उठाने की भी अधिकारिणी थी। र परिषद ने १९५५-५८ तक इसी रूप मे कार्य किया। परन्तु १९५८ ई० मे इसके र्यपालिका सम्बन्धी कार्यों को एक दूसरी सस्था को सौंप दिया गया जिसको इसी सम्बन्धित रखा गया और इस परिषद का पुनर्संगठन किया गया। वह सस्था, सको इसके कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य सौंपे गये, Directorate of Extension rogrammes for Secondary Education' (DEPSE) है। अब इस पुनर्संगठित रिषद के कार्य केवल परामर्श देने तक ही सीमित है। इस पुनर्संगठित परिषद मे नोलिखित निकायो को प्रतिनिधित्व प्राप्त है—

(१) केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय।

(२) केन्द्रीय वित्त-मन्त्रालय।

निम्नलिखित निकायों के द्वारा इसके लिये एक-एक प्रतिनिधि मनोनीत या जाता है—

(३) अखिल भारतीय प्राविधिक शिक्षा-परिषद।

(४) विश्वविद्यालय अनुदान आयोग।

(५) अखिल भारतीय शिक्षा समुदायो का सघ (All Indian Federation Educational Associations)

(६) प्रशिक्षण महाविद्यालयों का समुदाय (Association of Training olleges)।

(७) प्रत्येक राज्य का एक प्रतिनिधि—परन्तु राज्यों के प्रतिनिधियों को भारत कार द्वारा मनोनीत किया जाता है।

(८) अखिल भारतीय प्रारम्भिक शिक्षा परिषद।

(९) विश्वविद्यालय अनुदान आयोग—भारत सरकार द्वारा १९४८ में एक विश्वविद्यालय शिक्षा-आयोग' (University Education Commission) सुझाव के अनुसार १९५३ ई० में 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' की स्थापना हुई। १९५६ में संसद के अधिनियम द्वारा इसे वैधानिक संस्था (Statutory dy) स्वीकार कर लिया गया। इस अधिनियम के अनुसार चेयरमैन के अतिरिक्त श्वविद्यालय अनुदान आयोग' के [illegible] सदस्य होते हैं। इसके अतिरिक्त इसका एक

चिव भी होगा। इसके ६ सदस्यो मे से ३ सदस्य विश्वविद्यालयो के उपकुलपति, ४ सिद्ध भारतीय शिक्षा-मर्मज्ञ एव २ केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि होते है।

आयोग के कार्य (Functions of the Commission)—इस आयोग के धोलिखित कार्य हैं—

(१) विश्वविद्यालय-शिक्षा मे सुधार करने एव शिक्षण के स्तर को उच्च रने के लिये विश्वविद्यालयो को सलाह देना।

(२) भारतीय विश्वविद्यालयो मे शिक्षा के स्तर मे समन्वय रखने तथा श्वविद्यालय शिक्षा मे सम्बन्धित समस्याओं पर एक विशेषज्ञ-सस्था के रूप मे भारतीय सरकार को परामर्श देना।

(३) विश्वविद्यालयो को अपने कोष मे से दी जाने वाली धन-राशि का वितरण करना तथा इस सम्बन्ध मे अपनी नीति का निर्धारण करना।

(४) नवीन विश्वविद्यालयो की स्थापना एव प्रचलित विश्वविद्यालयो के कार्य-क्षेत्र की वृद्धि पर पूछे जाने पर अपना मत प्रकट करना।

(५) भारत सरकार एव विश्वविद्यालयो द्वारा पूछे गये प्रश्नो का उत्तर देना तथा उनकी शकाओ का समाधान करना।

(६) विश्वविद्यालयो की आर्थिक स्थितियो की जाँच करना और केन्द्रीय सरकार द्वारा उनको सहायता-अनुदान म दी जान वाली धनराशि के सम्बन्ध म सुझाव देना।

(७) विश्वविद्यालय-शिक्षा के विस्तार एव विकास मे सम्बन्धित आवश्यक कार्यो को पूरा करना।

(८) विश्वविद्यालयो से उनकी परीक्षाओ, पाठ्य-क्रमो, अनुसन्धान कार्यों आदि के सम्बन्ध मे सूचना प्राप्त करना।

(९) विश्वविद्यालयो के लिये उपयुक्त समझी जाने वाली सूचनाओ को भारत तथा विदेशो स एकत्रित करके विश्वविद्यालयो को भेजना।

(१०) विश्वविद्यालयो द्वारा विविध सेवाओं के लिये प्रदान की गई उपाधियो के सम्बन्ध मे भारत सरकार तथा राज्य सरकारो को अपनी सलाह देना।[1]

(५) **अखिल भारतीय प्राविधिक शिक्षा-परिषद**—इस परिषद की स्थापना सरकार समिति (Sarkar Committee) के सुझाव के अनुसार १९४५ मे हुई थी। इस परिषद का अध्यक्ष वैज्ञानिक अनुसधान एव सास्कृतिक साधनो का मन्त्री होता है और यह मन्त्रालय इसका सचिवालय होता है। इस परिषद मे अधोलिखित को प्रतिनिधित्व प्राप्त है—

1. University Grants Commission Act, 1956, Section 12.

(१) प्राविधिक शिक्षा से सम्बन्धित भारत सरकार के मन्त्रालय तथा विभाग।

(२) राज्य सरकार।

(३) केन्द्रीय शिक्षा-परामर्शदाता मण्डल।

(४) अन्तर विश्वविद्यालय मण्डल।

(५) भारत में प्राविधिक संस्थाओं के आचार्यों का समुदाय (Association of Principals of Technical Institutions in India)।

(६) संसद।

(७) श्रम, उद्योग एवं वाणिज्य निकाय।

परिषद के कार्य :

(१) उच्च प्राविधिक शिक्षा की आवश्यकताओं का ज्ञान प्राप्त करना।

(२) प्राविधिक संस्थाओं की स्थापना के हेतु राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा अन्य साधनों को वित्तीय सहायता प्रदान करना।

(३) यह परामर्श देना कि अमुक क्षेत्रों में प्राविधिक संस्थाएँ स्थापित की जानी चाहियें।

(४) प्राविधिक शिक्षा की प्रगति की जाँच करना।

(५) प्राविधिक शिक्षा के क्षेत्र में उच्च स्तर स्थापित करने के लिए प्रयास करना।

(६) प्राविधिक शिक्षा-सम्बन्धी नीतियों का निर्धारण करना।

उच्च प्राविधिक शिक्षा के क्षेत्र में उद्देश्य के निर्धारण एवं स्तरों की स्थापना के ध्येय से परिषद ने प्राविधिक अध्ययन के सात मण्डलों (Seven Boards of Technical Education) की स्थापना की है। इसके अतिरिक्त उसने चार क्षेत्रीय समितियों (Four Regional Committees) की भी स्थापना की है जिनका क्षेत्र सम्पूर्ण भारत का रखा गया है। इन समितियों का प्रमुख कार्य राज्य-सरकारों को सलाह व अपने-अपने क्षेत्रों की प्राविधिक शिक्षा की आवश्यकताओं की जानकारी प्राप्त करके उनकी पूर्ति के लिये सुविधाएँ प्रदान करना है। यह परिषद इन बोर्डों तथा समितियों की सहायता से प्राविधिक शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही है। इस परिषद की इन समितियों एवं बोर्डों के अतिरिक्त एक और समिति भी है जो कि Coordinating Committee' के नाम से प्रसिद्ध है। यह समिति क्षेत्रीय समितियों की क्रियाओं में समन्वय स्थापित करती है तथा परिषद की कार्यपालिका के रूप में कार्य करती है।

[illegible] एवं वैज्ञानिक [illegible] मन्त्रालय की यह परिषद बहुत ही महत्त्वपूर्ण परामर्शदाता [illegible] है। [illegible] प्राविधिक शिक्षा के सम्बन्ध में विश्व-विद्यालय अनुदान आयोग [illegible] विद्यालय [illegible] पर कार्य करता है।

(६) **राष्ट्रीय ग्रामीण उच्च शिक्षा परिषद**—इस परिषद की स्थापना श्रीमाली समिति (Shrimali Committee) के सुझाव पर सन् १९५६ मे हुई थी। यह परिषद ग्रामीण शिक्षा के प्रसार एव उन्नति के सम्बन्ध मे केन्द्रीय सरकार तथा राज्य-सरकारो को एक विशेषज्ञ-सस्था के रूप मे परामर्श देने के लिये स्थापित की गई थी। यह भारत सरकार को ग्रामीण विकास योजनाओ मे भाग लेने वाली सस्थाओ को अनुदान प्रदान के सम्बन्ध मे भी सलाह देती है। ग्रामीण शिक्षा से सम्बन्धित समस्याओ पर विचार करके उनके समाधान के लिये सुझाव देती है तथा इस शिक्षा के विकास के लिये स्वय अपनी योजनाएँ प्रस्तुत करती है। इसने १४ सस्थानो की स्थापना की है जो ग्रामीण उच्च शिक्षा के विकास के लिये महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।

(७) **राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान एव प्रशिक्षण परिषद**—केन्द्रीय सरकार का एक महत्वपूर्ण कार्य शैक्षिक अनुसन्धान की उन्नति, प्रकाशन एव समन्वय करना है। इस कार्य को पूर्ण करने के लिये शिक्षा-मन्त्रालय के द्वारा कई केन्द्रीय सस्थान स्थापित किये गये हैं। उनमे से 'Central Institute of Education', 'Central Bureau of Educational and Vocational Guidance', 'Central Bureau of Text book Research, 'National Institute of Basic Education' आदि प्रमुख हैं। ये समस्त सस्थान अनुसधान कार्यक्रमो के विकास मे बहुत सहायक सिद्ध हुए है। १९६० मे यह निर्णय किया गया कि इन समस्त सस्थानो को मिलाकर एक कर दिया जाय और उस सस्था को 'National Institute of Education' का नाम दिया जाय। इस सस्थान को एक स्वतन्त्र सगठन शैक्षिक अनुसधान एवं प्रशिक्षण परिषद' के अन्तर्गत रखा जाय। इस प्रकार शिक्षा मन्त्रालय ने १९६१ मे एक नवीन सगठन की स्थापना की। यह सगठन National council of Educational Research and Training' के नाम से प्रसिद्ध है।

परिषद का सगठन—इस परिषद मे अधोलिखित को प्रतिनिधित्व प्राप्त है —

१ केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्री इसका अपदेन अध्यक्ष (Ex-officio President) होता है।
२ भारत सरकार का शिक्षा-परामर्शदाता (इसका अपदेन उपाध्यक्ष होता है।)
३. दिल्ली विश्वविद्यालय का उपकुलपति।
४. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का चेयरमैन।
५ प्रत्येक राज्य सरकार का एक-एक प्रतिनिधि, जो कि राज्य का शिक्षा-मन्त्री या उसका प्रतिनिधि होगा।
६. भारत सरकार द्वारा मनोनीत १२ सदस्य।

इस परिषद के अधोलिखित उद्देश्य है —

१. शिक्षा के सभी क्षेत्रो मे अनुसन्धान कार्य कराना। इसके साथ ही उसकी उन्नति एव समन्वय के लिये कार्य करना।
२ प्रसार सेवाओं का संगठन करना।
३. राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान (National Institute of Education) स्थापित करके उनका संचालन करना।
४. देश के विभिन्न भागो मे क्षेत्रीय संस्थाएँ स्थापित करना। इन संस्थाओ को अनुसंधान, प्रशिक्षण तथा प्रसार की उन्नति के लिये स्थापित करेगी। इनकी स्थापना का मुख्य ध्येय यह भी होगा कि वे बहुउद्देशीय माध्यमिक शिक्षा के विकास मे सहायता प्रदान करें। परिषद ने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये चार क्षेत्रीय कालिजो (Regional Colleges) की स्थापना की है जो भोपाल, अजमेर, भुवनेश्वर तथा मैसूर मे स्थित है।

यह परिषद अपना कार्य तीन समितियो के द्वारा करती है। प्रथम समिति अन्य संगठनो द्वारा प्रस्तावित अनुसन्धान योजनाओ को क्रियान्वित करती है। दूसरी समिति प्रसार एवं सेवाओ तथा क्षेत्रीय कालिजो से सम्बन्धित है और तीसरी राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान मे शैक्षिक अध्ययन एवं अनुसंधान के लिये आयोजन एवं संचालन करती है। इसके अधीन जो राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान है, उसमे १२ विभाग हैं जो अपने-अपने क्षेत्र मे उच्चकोटि के अनुसंधान कार्य कर रहे है। इस परिषद ने बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया है।

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि केन्द्रीय सरकार के शिक्षा के क्षेत्र मे सीमित कार्य है। उसका कार्य नेतृत्व प्रदान करने, राज्य सरकारो तथा निजी सस्थाओं के कार्यों मे सहायता, उच्च शिक्षा के क्षेत्र मे विकास, संघीय क्षेत्रो की शिक्षा व्यवस्था, केन्द्रीय विश्वविद्यालयो का प्रशासन आदि करने तक सीमित है। परन्तु यह अपने इस दायित्व को पूरा करने में पर्याप्त रूप से सफलता प्राप्त करने का प्रयत्न कर रही है। उसने इस दायित्व का निर्वाह करने मे विभिन्न परामर्शदाता निकायो द्वारा बहुत सहायता ली है। फिर भी केन्द्रीय सरकार के समक्ष अभी बहुत से महत्वपूर्ण कार्य है जिनके लिये उसे महत्वपूर्ण कदम उठाने हैं। उदाहरणार्थ—पूर्व प्राथमिक शिक्षा (Pre-Primary Education) के लिये केन्द्रीय सरकार को महत्वपूर्ण कदम उठाने चाहिये। इसके लिये उसे अधिकाधिक आर्थिक सहायता देनी चाहिये। हमारे देश में इस समय प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र मे बहुत ही अपव्यय (wastage) है। इस क्षेत्र मे भारत सरकार को विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इसके लिये उसे अखिल भारतीय स्तर पर पर्यवेक्षण कराने चाहिये तथा अपव्यय तथा प्रगति मे कमी के कारणों का ज्ञान करके उनको दूर करने का प्रयास करना चाहिये। माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में उसे अभी बहुउद्देशीय (Multipurpose) विद्यालयो से सम्बन्धित समस्याओं के समाधान के

लिये कार्य करना चाहिये। इसके अतिरिक्त उसे विश्वविद्यालय-शिक्षा मे आमूल परिवर्तन करने के लिये तत्पर होना चाहिये। सन् १९६४ मे डा० कोठारी की अध्यक्षता मे केन्द्रीय सरकार द्वारा एक शिक्षा आयोग (Education Commission) की नियुक्ति की गई है। जिसका कार्य क्षेत्र पूर्व-प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्व-विद्यालीय शिक्षा तक का परीक्षण करना है। इसके साथ ही इसने अपने कार्य क्षेत्र मे प्राविधिक शिक्षा, शिक्षक-प्रशिक्षण (Teacher Education) आदि को भी रखा है। यह आयोग सम्पूर्ण देश का भ्रमण करके शैक्षिक स्थिति से अवगत होगा तथा शिक्षा मे सुधार के हेतु अपने सुझाव प्रस्तुत करेगा।

Questions

1. Briefly describe the role of the central government in the education of the country.
2. Give a critical estimate of the efforts of the central government towards discharging its responsibilites in the field of education
3. Give an account of the various all India Educational Bodies.

४

राज्यीय स्तर पर शिक्षा-प्रशासन

(Educational Administrative Set up at State Level)

विषय प्रवेश

जिस समय अंग्रेज भारत को छोडकर गये उस समय भारत लगभग ५६० रियासतो तथा बहुत से प्रान्तो मे विभक्त था। स्वतन्त्र भारत के प्रथम गृहमन्त्री सरदार पटेल के सद्प्रयासो से भारत के मानचित्र मे परिवर्तन हुआ और भारतीय सघ मे कुल २६ प्रशासकीय इकाइयाँ स्थापित की गईं। ये इकाइयाँ चार वर्गों मे विभक्त थी। 'क' वर्ग मे १०, 'ख' वर्ग मे ८ तथा 'ग' वर्ग मे १० राज्य थे। 'घ' वर्ग मे केवल एक क्षेत्र था। नवम्बर १९५६ को पुन. राज्यो को सगठित किया गया। इस पुनर्सगठन के अनुसार भारत के मानचित्र मे १४ राज्य तथा ६ सघ द्वारा प्रशासित क्षेत्र स्थापित किये गये। इसके बाद भारत के मानचित्र मे एक परिवर्तन और हुआ। वह यह था कि बम्बई राज्य को १ मई १९६० मे भाषा के आधार पर दो राज्यो—गुजरात तथा महाराष्ट्र—में विभक्त कर दिया गया। इस समय अब भारतीय सघ मे १६ राज्य तथा ११ सघीय क्षेत्र हैं।

राज्य तथा शिक्षा

१९२१ से शिक्षा एक राजकीय विषय रहा है जो कि एक निर्वाचित मन्त्री के प्रत्यक्ष नियन्त्रण मे रहा और यह मन्त्री राज्य के विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी होता था। स्वतन्त्र भारत ने इस ढाँचे मे कोई परिवर्तन नही किया। आज भी शिक्षा

राजकीय विषय है। दूसरे शब्दो मे कह सकते हैं कि राज्य ही शिक्षा के लिये उत्तरदायी है। परन्तु यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि सविधान के अनुसार उच्च, वैज्ञानिक तथा प्राविधिक शिक्षा की उन्नति करना केन्द्रीय सरकार का उत्तर-दायित्व है। सविधान के अनुसार, "राज्य सविधान के लागू होने से १० वर्ष की अवधि मे समस्त बालको के लिये नि शुल्क एव अनिवार्य शिक्षा प्रदान करेगा। यह शिक्षा उनको तब तक प्रदान की जायेगी जब तक कि वे १४ वर्ष की आयु प्राप्त न कर ले।"[1] इस प्रकार राज्य सरकारों के ऊपर एक बहुत बड़ा दायित्व आया जिसका उन्हे निर्वाह करना है। केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारो को अपनी विभिन्न शैक्षिक योजनाओं के सचालन के हेतु वित्तीय सहायता देती है। राज्य सरकारो को निर्धारित तथ्यों के अनुसार उन योजनाओ का सचालन करना पडता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारो मे उन योजनाओ पर व्यय की गई धनराशि का हिसाब भी लेती है। इन प्रतिबन्धो के होते हुए भी राज्य सरकार अपने शैक्षिक कार्यक्रमो के क्षेत्र मे पूर्ण स्वतन्त्र है।

राज्यों मे शिक्षा का प्रशासकीय ढाँचा (Administrative set up of Education in States)

शिक्षा मन्त्री—राज्य-स्तर पर शिक्षा का प्रमुख अधिकारी शिक्षा मन्त्री होता है। इसकी सहायता के लिये एक या दो उप-मन्त्री हो सकते हैं। परन्तु ऐसी व्यवस्था भारत के सभी राज्यो मे नही है। उप-मन्त्री केवल आसाम, महाराष्ट्र, मैसूर, पजाब, राजस्थान, उत्तर-प्रदेश, पश्चिमी बगाल, जम्मू-काश्मीर मे ही हैं। शिक्षा मन्त्री जनता का चुना हुआ प्रतिनिधि होता है तथा राज्य के विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी होता है क्योकि वह उसका सदस्य होता है। शिक्षा मन्त्री शिक्षा नीति का निर्धारण एव उसको क्रियान्वित भी करता है। परन्तु यह भी देखा जाता है कि शिक्षा मन्त्री सम्पूर्ण शिक्षा के लिये उत्तरदायी नही होता। राज्यो मे कुछ ऐसे विभाग एव मन्त्रालय हैं जो अपने विशेष क्षेत्रों की शिक्षा के लिये उत्तरदायी होते हैं। कृषि, इन्जीनियरिंग, वाणिज्य एव उद्योग, सार्वजनिक स्वास्थ्य एव पशुचिकित्सा आदि विभाग अपने नियन्त्रण मे विभिन्न विद्यालयो एव कालिजो को रखते हैं। प्राय. यह भी पाया जाता है कि ये विभिन्न विभाग एक दूसरे की क्रियाओ से कोई सम्बन्ध नहीं रख पाते हैं और न शिक्षा विभाग ही इनकी क्रियाओ मे कोई समन्वय स्थापित कर पाता है। इसलिये यह आवश्यक है कि इनकी गतिविधियो मे समन्वय स्थापित किया जाय।

1. "The State shall endeavour to provide, within a period of ten years from the commencement of this constitution, for free and Comp ulsory education for all children until they complete the age of fourteen years."—The Constitution of India, seventh Schedule, Article 45.

शिक्षा मन्त्री के कार्य—जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं मन्त्री ही शिक्षा का अधिकारी है। प्रमुख इसके फलस्वरूप उसके बहुत ही महत्वपूर्ण कर्तव्य है। वे इस प्रकार है—

१ शिक्षा-नीति का निर्धारण।
२ शिक्षा से सम्बन्धित विषयों पर पूछे गये प्रश्नों का विधान मण्डल के समक्ष उत्तर देना।
३. शिक्षा सम्बन्धी विधायन मे विधान मण्डल को परामर्श देना।
४ राज्य की सम्पूर्ण शिक्षा-पद्धति के लिये नेतृत्व प्रदान करना।
५ राज्य की शिक्षा के कार्यक्रमों के परिणामों की जाँच करना।
६ निजी प्रबन्धको तथा स्थानीय संस्थाओं को अपने स्कूलों के संचालन मे सहायता देना।
७ शैक्षिक समस्याओं के समाधान के लिये अनुसन्धान कार्यों को प्रोत्साहन देना।
८. सम्पूर्ण राज्य की शैक्षिक क्रियाओं मे सामंजस्य स्थापित करना।

उपरोक्त कार्यों को पूर्ण करने के लिये राज्य के शिक्षा-विभाग के दो अंग हैं। प्रथम, शिक्षा सचिवालय तथा द्वितीय शिक्षा-निदेशालय। इनका पृथक-पृथक विवेचन नीचे दिया जा रहा है—

(१) शिक्षा सचिवालय (Secretariat of Education)—सचिवालय प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा-मन्त्री तथा उप-मन्त्री से सम्बन्धित है। शिक्षा से सम्बन्धित सभी नीतियाँ शिक्षा-सचिवालय मे निर्णीत की जाती हैं। सचिवालय का अध्यक्ष शिक्षा-सचिव होता है और उसकी सहायता के लिये उपसचिव तथा अधीन सचिव आदि होते हैं। शिक्षा सचिव अपने पद पर शिक्षा-प्रशासन के क्षेत्र मे पूर्व अनुभव के अभाव मे पहुँचता है। यह अखिल भारतीय सेवा (Indian Administrative Service) का सदस्य होता है। पश्चिमी बंगाल के सिवाय प्रत्येक राज्य मे शिक्षा सचिव का पद शिक्षा-संचालक (Director of Education) के पद से पृथक होता है अर्थात् प्रत्येक राज्य मे शिक्षा-सचिव तथा शिक्षा-संचालक अलग-अलग व्यक्ति होते हैं। प्रतिदिन के मामलो को शिक्षा-सचिव द्वारा पूरा किया जाता है और सरकार के सभी आदेश उसी के नाम से निकलते हैं। शिक्षा-संचालक द्वारा जो नीतियाँ एवं प्रस्ताव प्रस्तुत किये जाते हैं वे पहले सचिवालय के अधीनस्थ अधिकारियो द्वारा अध्ययन किये जाते हैं, फिर वे शिक्षा-सचिव के पास जाते हैं और तब वह उन्हे मन्त्री के समक्ष प्रस्तुत करता है। प्राय. जो [illegible] शिक्षा-संचालक द्वारा जिस रूप [illegible] रूप मे प्रस्तुत किये जाते हैं, वे मन्त्री के पास [illegible] ही छोड़ देते हैं अर्थात् सचिवालय द्वा[illegible] जाता है।

(२) शिक्षा निदेशालय (Directorate of Education)—यह एक कार्यकारक (Executive) संस्था है। वस्तुतः यह सरकार तथा राज्य में फैली हुई सैकड़ों शिक्षा संस्थाओं के बीच एक जोड़ने वाली कड़ी है। यह सरकार को शिक्षा की विभिन्न शाखाओं की दशाओं से पूर्णतया परिचित कराता है। इसके साथ ही यह सरकार को शिक्षा नीति के प्रति लोगों की प्रतिक्रिया, उनकी आवश्यकताओं एवं शिक्षा की प्रगति से भी परिचित कराता है। इस प्रकार शिक्षा-निदेशालय शिक्षा के क्षेत्र में राज्य सरकार की आँख, कान आदि है।

इसका सबसे बड़ा अधिकारी शिक्षा-संचालक (Director of Education) है जो कि शिक्षा-सम्बन्धी मामलों में शिक्षा-मन्त्री का विशेषज्ञ परामर्शदाता होता है। वह शिक्षा के क्षेत्र में सर्वोच्च कार्यपालिका शक्ति है और सम्पूर्ण राज्य की शिक्षा के प्रशासन के लिये उत्तरदायी है। इस प्रकार इसका विभिन्न जिलों, सरकारी एवं गैर सरकारी विद्यालय एवं कालिजों से सम्बन्ध है। उसको प्राथमिक तथा माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था को देखना पड़ता है। इसके साथ ही उसे स्थानीय संस्थाओं से भी सम्बन्ध रखना पड़ता है जो प्राथमिक शिक्षा के लिये उत्तरदायी हैं। शिक्षा-संचालक लड़कियों की शिक्षा के लिये भी उत्तरदायी है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राज्य की सम्पूर्ण शिक्षा-पद्धति के ऊपर उसको अपनी दृष्टि रखनी पड़ती है। वह राज्य के विश्वविद्यालयों के सिण्डीकेट या कार्यकारिणी परिषद का अपदेन सदस्य होता है। इसके अतिरिक्त वह लोक सेवा आयोग, माध्यमिक शिक्षा परिषद आदि का भी सदस्य होता है।

परन्तु यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि हमें यह नहीं समझना चाहिये कि अकेला शिक्षा-संचालक ही सम्पूर्ण कार्य को करता है। वस्तुतः उसकी सहायता के लिये विभिन्न स्तरों पर विभिन्न शिक्षा-अधिकारी होते हैं। उसके कार्य में सहायता देने के लिये उप-शिक्षा-संचालक, सहायक शिक्षा-संचालक आदि होते हैं। इन संचालकों के आधीन विद्यालय-निरीक्षक, विद्यालय निरीक्षिका, उपविद्यालय निरीक्षक, उप-विद्यालय निरीक्षका, सहायक उप विद्यालय निरीक्षक आदि होते हैं।

नीचे राज्यों में शिक्षा के प्रशासकीय ढाँचे को रेखाचित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है—

- राज्य के नागरिक
  - राज्य की विधान सभा
    - व्यावसायिक शिक्षा (अन्य मन्त्री)
    - विश्वविद्यालय (स्वतन्त्र संस्थाएँ, परन्तु राज्य सरकारों द्वारा अनुदान देकर नियन्त्रित की जाती हैं)।
    - शिक्षा मन्त्री
      - उप मन्त्री
        - शिक्षा-सचिव
          - उप-शिक्षा-सचिव
            - अन्य अधिकारी
        - राज्य की परामर्शदाता परिषद
        - प्राविधिक शिक्षा संचालक
        - शिक्षा संचालक
          - सह शिक्षा-संचालक
            - उप-शिक्षा-संचालक
              - सहायक शिक्षा-संचालक, शिक्षा की विभिन्न शाखाओं के लिये विशेष निरीक्षक
                - मण्डलीय उपशिक्षा-संचालक
                  - जिला शिक्षा अधिकारी या जिला विद्यालय निरीक्षक
                    - उप जिला शिक्षा अधिकारी या उप जिला विद्यालय निरीक्षक
                      - सहायक-निरीक्षण अधिकारी
                - सहायक शिक्षा-संचालिका

राजकीय शिक्षा-परामर्शदाता मण्डल (State Advisory Boards of Education)—सरकार को शिक्षा-सम्बन्धी मामलों में परामर्श देने के लिये लगभग सभी राज्यों में शिक्षा-परामर्शदाता मण्डलों की व्यवस्था है। परन्तु इनके संगठनों में

विभिन्नता पायी जाती है। कुछ राज्यों में शिक्षा की विभिन्न शाखाओं से सम्बन्ध रखने वाला शिक्षा-परामर्शदाता मण्डल है और कुछ में प्रत्येक में सम्बन्धित पृथक-पृथक विशेष मण्डल है। कुछ राज्य सामान्य परामर्शदाता मण्डल के साथ-साथ विशेष मण्डल भी रखते हैं। इस सम्बन्ध में माध्यमिक शिक्षा आयोग ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण सुझाव दिया। आयोग ने सुझाव दिया कि "राज्य का शिक्षा परामर्शदाता मण्डल केन्द्रीय शिक्षा परामर्शदाता मण्डल की भाँति ही कार्य करे और उसका संगठन शिक्षण व्यवसाय, विश्वविद्यालय हाई स्कूल एवं उच्चतर माध्यमिक स्कूलों की प्रबन्धक समितियों, शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाले विभागों के अध्यक्षों, उद्योग, व्यापार तथा विधान मण्डल एवं जनता के प्रतिनिधियों द्वारा होना चाहिए। शिक्षा मन्त्री इस बोर्ड का चेयरमैन होना चाहिये तथा शिक्षा-संचालक या शिक्षा-सचिव इसका सचिव है।"[1] माध्यमिक शिक्षा आयोग द्वारा प्रस्तावित रूपरेखा के अनुसार बिहार तथा केरल में ऐसे शिक्षा-परामर्शदाता मण्डल स्थापित किये गये।

स्थानीय स्तर पर प्रशासकीय ढाँचा
(Administrative set up at the Local Level)

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत ने लोकतन्त्र को अपनाने के साथ-साथ लोकतन्त्रीय विकेन्द्रीकरण (Democratic Decentralization) के सिद्धान्त को भी अपनाया। इस सिद्धान्त के अनुसार स्थानीय संस्थाओं को बहुत से अधिकार एवं उत्तरदायित्व प्रदान किये गये। भारत में स्थानीय संस्थाओं को प्राथमिक शिक्षा के लिए पूर्णतया उत्तरदायी ठहराया गया है। तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कुछ राज्यों में पंचायत राज को क्रियान्वित किया गया है जो कि प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है। इस स्तर का प्रशासकीय ढाँचा इस प्रकार है—

---

1 "The Board may function on lines similar to the Central Advisory Board of Education and should be composed of representatives of the teaching profession, the universities, managements of High Schools and Higher Secondary Schools, heads of Departments dealing with different spheres of education, representatives of Industry, Trade and Commerce and Legislature and the general public. The Minister of Education should be the chairman of the Board and Director of Education or the Education Secretary should be the secretary." *Report of the Secondary Education Commission, p 193.*

स्थानीय समस्याएँ

- जिला परिषद या जिला बोर्ड (Zilla Parishad or District Board)
  - परिषद की शिक्षा समिति (Education Committee of the Parishad or Board)
    - ब्लाक पंचायत समिति (Panchayat Samiti of the Block)
      - ग्राम पंचायत (Village Panchayat)
- नगरपालिकाएँ (Municipalities)
  - अधिकृत नगरपालिकाएँ (Authorised Municipalities)
    - अध्यक्ष नगरपालिका
  - अनधिकृत नगर- (Non-authorised Municipalities)-
    - अध्यक्ष नगरपालिका (*Chairman*)
  - शिक्षा-समिति (Education Committee)
    - शिक्षा अधीक्षक (Education Superintendent)
      - उपस्थित अधिकारी (पुरुष) (Attendance officer)
    - शिक्षा अधीक्षिका
      - उपस्थित अधिकारी (महिलाएँ)

(१) नगरपालिकाएँ तथा शिक्षा—भारत मे दो प्रकार की नगरपालिकाएँ पाई जाती हैं। प्रथम—अधिकृत तथा द्वितीय—अनधिकृत। अधिकृत नगरपालिकाएँ वे हैं जो प्राथमिक शिक्षा पर १ लाख रुपये वार्षिक की धनराशि से कम व्यय नहीं करती है। अनधिकृत नगरपालिकाओ की कोटि मे वे सब आती हैं जो इस धनराशि से कम व्यय करती हैं। अधिकृत नगरपालिकाओ को अपनी शिक्षा-समिति या विद्यालय बोर्ड (School Boards) बनाने का अधिकार है। शिक्षा के प्रशासन में उनको बहुत से अधिकार प्राप्त है। वे अपने विद्यालयों का निरीक्षण स्वय के द्वारा नियुक्त अधिकारियो द्वारा करती है। अनधिकृत नगरपालिकाएँ प्राथमिक शिक्षा के लिये अपना योगदान तो देती है परन्तु उनको इसके प्रशासन मे कोई अधिकार प्राप्त नहीं होते। उनके क्षेत्र की शिक्षा का प्रबन्ध या तो अधिकृत नगरपालिका करती है जिसके क्षेत्र मे वह अनधिकृत नगरपालिका स्थित है या जिला परिषद की शिक्षा समिति करती है। भारत मे सभी क्षेत्रों की शिक्षा के लिये १९६१-६२ मे कुल ३६२ करोड़ रुपये व्यय किये गये जिसमें से १२·१ करोड़ रुपया नगरपालिकाओं से प्राप्त हुआ जो कि सम्पूर्ण व्यय का ३.१ प्रतिशत था।

भारत के लगभग सभी राज्यों में नगरपालिक

लिये उत्तरदायी ठहराया गया है। कुछ राज्यो मे नगरपालिकाएँ उच्चतर माध्यमिक विद्यालयो तथा इन्टरमीडियेट कॉलिजो का सचालन भी कर रही हैं। उत्तर प्रदेश की एक नगरपालिका डिग्री कालिज का सचालन कर रही है तथा गुजरात और महाराष्ट्र मे नगरपालिकाएँ माध्यमिक स्कूलो का सचालन करती हैं।

(२) जिला-परिषद या जिला बोर्ड तथा शिक्षा—ग्रामीण क्षेत्रो की प्राथमिक शिक्षा के लिये जिला बोर्डों को उत्तरदायी ठहराया गया है। कुछ राज्यो मे जिला बोर्डों के स्थान पर इनका नाम जिला-परिषद कर दिया गया है। उदाहरणार्थ—उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश आदि। कुछ जिला बोर्ड माध्यमिक विद्यालयो का भी सचालन कर रहे हैं। उत्तर प्रदेश, मद्रास, पजाब आदि मे ३० प्रतिशत से अधिक माध्यमिक विद्यालयो का सचालन इनके द्वारा किया जा रहा है। राज्यो मे ग्रामीण क्षेत्रो की शिक्षा के प्रशासन के लिये दो प्रणालियाँ अपनाई जा रही हैं। कुछ राज्यो मे जिला-बोर्ड तथा ग्राम पचायते इसका प्रबन्ध कर रही हैं जैसे, गुजरात, महाराष्ट्र, मद्रास, पश्चिमी बगाल आदि। कुछ राज्यो मे जिला परिषद, पचायत समिति तथा ग्राम पचायतो के द्वारा शिक्षा का प्रबन्ध किया जाता है। जैसे—आन्ध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान आदि। जिला परिषद या जिला बोर्ड अपनी एक शिक्षा-समिति बनाता है जो कि प्राथमिक बेसिक तथा माध्यमिक विद्यालयों की व्यवस्था करती है तथा इनका सचालन करती है। उत्तर प्रदेश मे उप-जिला विद्यालय निरीक्षक इस समिति मे रहता है। ग्राम पचायतें अनिवार्य शिक्षा के प्रसार के हेतु प्रचार आदि करके महत्त्वपूर्ण कदम उठाती हैं। बहुत से राज्यों मे ये विद्यालय, भवन आदि के लिये भी धन देती हैं। बलवन्त राय मेहता समिति (Balwantrai Mehta Commettee) के सुझावों के अनुसार पश्चिमी बगाल तथा केरल के अतिरिक्त सभी राज्यो ने लोकतन्त्रीय विकेन्द्रीकरण को अपना लिया है। इस सिद्धान्त के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रो की शिक्षा का प्रबन्ध तीन सस्थाओ के माध्यम मे होने लगा है। प्रथम—जिला-परिषद, द्वितीय—पचायत समिति या क्षेत्र समिति तथा तृतीय—ग्राम पचायतें। जिला-परिषद अपनी शिक्षा समिति के द्वारा शिक्षा का प्रबन्ध करती है। परन्तु जिला परिषद तथा ग्राम पचायतो के बीच इस सिद्धान्त के अनुसार एक सस्था और जोड़ दी गई जिसको कुछ राज्यो मे पचायत समिति के नाम से पुकारा जाता है और कुछ मे क्षेत्र समिति। मेहता समिति ने यह सुझाव दिया कि जिला परिषद को इन पचायत समितियो के बजट को मान्यता प्रदान करने का अधिकार होना चाहिये। इसके साथ ही जिला-परिषदो को क्षेत्रों (Blocks) की पचायत समितियों की माँगों को सरकार के समक्ष प्रस्तुत करने तथा सरकार से प्राप्त धनराशि को क्षेत्रों मे वितरित करने का अधिकार होना चाहिए। पचायत समितियों के प्रमुख कार्य जिला बोर्ड की शिक्षा-समितियो को प्राथमिक शिक्षा के विकास तथा उसकी अन्य क्रियाओ मे सहायता करना है। इसके अतिरिक्त उसको नवीन प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना, भवनों का निर्माण, उपयुक्त साज-सज्जा प्रदान करना, प्राथमिक स्कूलो के कार्यों का परिपद्

स्थानीय समस्याएँ

- जिला परिषद या जिला बोर्ड (Zilla Parishad or District Board)
  - परिषद की शिक्षा समिति (Education Committee of the Parishad or Board)
    - ब्लाक पचायत समिति (Panchayat Samiti of the Block)
      - ग्राम पचायत (Village Panchayat)
- नगरपालिकाएँ (Municipalities)
  - अधिकृत नगरपालिकाएँ (Authorised Municipalities)
    - अध्यक्ष नगरपालिका
      - शिक्षा-समिति (Education Committee)
  - अनधिकृत नगरपालिकाएँ (Non-authorised Municipalities)
    - अध्यक्ष नगरपालिका (Chairman)
      - शिक्षा-समिति (Education Committee)
        - शिक्षा अधीक्षक (Education Superintendent)
          - उपस्थित अधिकारी (पुरुष) (Attendance officer)
        - शिक्षा अधीक्षिका
          - उपस्थित अधिकारी (महिलाएँ)

(१) नगरपालिकाएँ तथा शिक्षा—भारत मे दो प्रकार की नगरपालिकाएँ पाई जाती हैं। प्रथम—अधिकृत तथा द्वितीय—अनधिकृत। अधिकृत नगरपालिकाएँ वे हैं जो प्राथमिक शिक्षा पर १ लाख रुपये वार्षिक की धनराशि से कम व्यय नहीं करती है। अनधिकृत नगरपालिकाओं की कोटि मे वे सब आती हैं जो इस धनराशि से कम व्यय करती हैं। अधिकृत नगरपालिकाओं को अपनी शिक्षा-समिति या विद्यालय बोर्ड (School Boards) बनाने का अधिकार है। शिक्षा के प्रशासन मे उनको बहुत से अधिकार प्राप्त हैं। वे अपने विद्यालयो का निरीक्षण स्वय के द्वारा नियुक्त अधिकारियों द्वारा करती हैं। अनधिकृत नगरपालिकाएँ प्राथमिक शिक्षा के लिये अपना योगदान तो देती हैं परन्तु उनको इसके प्रशासन में कोई अधिकार प्राप्त नहीं होते। उनके क्षेत्र की शिक्षा का प्रबन्ध या तो अधिकृत नगरपालिका करती है जिसके क्षेत्र में वह अनधिकृत नगरपालिका स्थित है या जिला परिषद की शिक्षा समिति करती है। भारत मे सभी क्षेत्रों की शिक्षा के लिये १९६१-६२ मे कुल १६२ करोड़ रुपये व्यय किये गये जिसमें से १२·१ करोड़ रुपया नगरपालिकाओं से प्राप्त हुआ जो कि सम्पूर्ण व्यय का ३.१ प्रतिशत था।

भारत के लगभग सभी राज्यों में नगरपालिकाएँ

लिये उत्तरदायी ठहराया गया है। कुछ राज्यो मे नगरपालिकाएँ उच्चतर माध्यमिक विद्यालयो तथा इन्टरमीडियेट कॉलिजो का सचालन भी कररही हैं। उत्तर प्रदेश की एक नगरपालिका डिग्री कालिज का सचालन कर रही है तथा गुजरात और महाराष्ट्र मे नगरपालिकाएँ माध्यमिक स्कूलो का सचालन करती हैं।

(२) ज़िला-परिषद या जिला बोर्ड तथा शिक्षा—ग्रामीण क्षेत्रो की प्राथमिक शिक्षा के लिये जिला बोर्डों को उत्तरदायी ठहराया गया है। कुछ राज्यो मे जिला बोर्डों के स्थान पर इनका नाम जिला-परिषद कर दिया गया है। उदाहरणार्थ—उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश आदि। कुछ जिला बोर्ड माध्यमिक विद्यालयो का भी सचालन कर रहे हैं। उत्तर प्रदेश, मद्रास, पजाब आदि मे ३० प्रतिशत से अधिक माध्यमिक विद्यालयो का सचालन इनके द्वारा किया जा रहा है। राज्यो मे ग्रामीण क्षेत्रो की शिक्षा के प्रशासन के लिये दो प्रणालियाँ अपनाई जा रही हैं। कुछ राज्यो मे जिला-बोर्ड तथा ग्राम पचायतें इसका प्रबन्ध कर रही हैं जैसे, गुजरात, महाराष्ट्र, मद्रास, पश्चिमी बगाल आदि। कुछ राज्यों मे जिला परिषद, पचायत समिति तथा ग्राम पचायतो के द्वारा शिक्षा का प्रबन्ध किया जाता है। जैसे—आन्ध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान आदि। ज़िला परिषद या जिला बोर्ड अपनी एक शिक्षा-समिति बनाता है जो कि प्राथमिक बेसिक तथा माध्यमिक विद्यालयों की व्यवस्था करती है तथा इनका सचालन करती है। उत्तर प्रदेश मे उप-जिला विद्यालय निरीक्षक इस समिति मे रहता है। ग्राम पचायतें अनिवार्य शिक्षा के प्रसार के हेतु प्रचार आदि करके महत्त्वपूर्ण कदम उठाती हैं। बहुत से राज्यों मे ये विद्यालय, भवन आदि के लिये भी धन देती हैं। बलवन्त राय मेहता समिति (Balwantrai Mehta Commettee) के सुझावों के अनुसार पश्चिमी बगाल तथा केरल के अतिरिक्त सभी राज्यो ने लोकतत्रीय विकेन्द्रीकरण को अपना लिया है। इस सिद्धान्त के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रो की शिक्षा का प्रबन्ध तीन सस्थाओ के माध्यम से होने लगा है। प्रथम—जिला-परिषद, द्वितीय—पचायत समिति या क्षेत्र समिति तथा तृतीय—ग्राम पचायतें। जिला-परिषद अपनी शिक्षा समिति के द्वारा शिक्षा का प्रबन्ध करती है। परन्तु जिला परिषद तथा ग्राम पचायतो के बीच इस सिद्धान्त के अनुसार एक सस्था और जोड़ दी गई जिसको कुछ राज्यो मे पचायत समिति के नाम से पुकारा जाता है और कुछ मे क्षेत्र समिति। मेहता समिति ने यह सुझाव दिया कि जिला परिषद को इन पचायत समितियो के बजट को मान्यता प्रदान करने का अधिकार होना चाहिये। इसके साथ ही जिला-परिषदो को क्षेत्रो (Blocks) की पचायत समितियों की माँगों को सरकार के समक्ष प्रस्तुत करने तथा सरकार से प्राप्त धनराशि को क्षेत्रो मे वितरित करने का अधिकार होना चाहिए। पचायत समितियो के प्रमुख कार्य जिला बोर्ड की शिक्षा-समितियों को प्राथमिक शिक्षा के विकास तथा उसकी अन्य क्रियाओ मे सहायता करना है। इसके अतिरिक्त उसको नवीन प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना, भवनों का निर्माण, उपयुक्त साज-सज्जा प्रदान करना, प्राथमिक स्कूलों के कार्यों का परिपद

की समिति के आदेशों के अनुसार निरीक्षण करना, ग्राम पंचायतों के शिक्षा-सम्बन्धी कार्यों का निरीक्षण, ग्राम पंचायतों को अनुदान निर्धारित करना आदि हैं। १९६१-६२ में शिक्षा के लिये कुल ३६२ करोड़ रुपया खर्च किया गया जिसमें १४ २ करोड़ जिला बोर्डों या जिला परिषदों के कोष से आया जो कि कुल व्यय का ३ ६ प्रतिशत था।

भारत में स्थानीय संस्थाओं के समक्ष बहुत सी समस्याएँ हैं जो उनके कार्य में बाधा उत्पन्न करती हैं, जैसे धन का अभाव। फिर भी उनका कार्य पर्याप्त सीमा तक सराहनीय है। ये प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं। उत्तर प्रदेश में इनके द्वारा ८१ प्रतिशत से अधिक प्राथमिक स्कूलों को संचालित किया जा रहा है। लोकतन्त्रीय विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त को ग्रहण करने से इनके ऊपर बहुत बड़ा दायित्व है। इस सम्बन्ध में राज्य सरकारों का भी यह दायित्व है कि वे इनको उपयुक्त निर्देशन, प्रदान करें तथा उन पर निरीक्षण एवं नियन्त्रण रखा जाय क्योंकि अभी भारत का लोकतन्त्र शिशु अवस्था में है। यहाँ अभी पर्याप्त सीमा तक निरक्षरता का राज्य है।

Questions

1. Briefly describe the educational administrative set up at the state level.
2. Give a brief account of the administrative set-up at the local level What change would you like to introduce in it and why ?

५

प्राथमिक, माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय-शिक्षा का प्रशासन

(Administration of Primary, Secondary and University Education)

विषय-प्रवेश

हमारे देश की शिक्षा-योजना मे विभिन्न पक्षो की शिक्षा को स्थान दिया गया है। इस शिक्षा-योजना मे—पूर्व प्राथमिक शिक्षा, प्राथमिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा, विश्वविद्यालय शिक्षा, प्राविधिक शिक्षा, सामाजिक शिक्षा आदि को स्थान प्राप्त है। शिक्षा की प्रत्येक शाखा की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। अतः उनके प्रशासन एवं सगठन मे विभिन्नता आना स्वाभाविक है। भारत के समक्ष शिक्षा की प्रत्येक शाखा के मूलभूत उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिये साधन एव ढग निकालने की महत्वपूर्ण समस्या है जिनके लिये नवीन विधियों एव रीतियों का प्रयोग किया जा रहा है। इस अध्याय मे हमारा मन्तव्य शिक्षा की केवल तीन प्रमुख शाखाओं—प्राथमिक, माध्यमिक एव विश्वविद्यालय के प्रशासन की ही विधियों एवं ढगों का विवेचन करना है।

प्राथमिक शिक्षा का प्रशासन
(Administration of Primary Education)

भारत मे प्राथमिक शिक्षा के प्रशासन के दो महत्वपूर्ण पक्ष हैं। प्रथम, भारतीय सविधान के अनुच्छेद ४५ (Article 45) के अनुसार सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा (Universal Primary Education) के लक्ष्य की प्राप्ति और द्वितीय, सार्वभौमिक शिक्षा के स्तर पर बेसिक शिक्षा को राष्ट्रीय शिक्षा के आदर्श या नमूने के रूप में लागू करना।

की समिति के आदेशों के अनुसार निरीक्षण करना, ग्राम पंचायतों के शिक्षा-सम्बन्धी कार्यों का निरीक्षण, ग्राम पंचायतों को अनुदान निर्धारित करना आदि है। १९६१-६२ में शिक्षा के लिए कुल ३६२ करोड़ रुपया खर्च किया गया जिसमें १०.२ करोड़ जिला बोर्डों या जिला परिषदों के कोष में आया जो कि कुल व्यय का २९ प्रतिशत था।

भारत में स्थानीय संस्थाओं के समक्ष बहुत सी समस्याएँ है जो उनके कार्य में बाधा उत्पन्न करती है, जैसे धन का अभाव। फिर भी उनका कार्य पर्याप्त सीमा तक सराहनीय है। ये प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं। उत्तर प्रदेश में इनके द्वारा ८१ प्रतिशत से अधिक प्राथमिक स्कूलों को संचालित किया जा रहा है। लोकतन्त्रीय विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त को ग्रहण करने से इनके ऊपर बहुत बड़ा दायित्व है। इस सम्बन्ध में राज्य सरकारों का भी यह दायित्व है कि वे इनको उपयुक्त निर्देशन, प्रदान करें तथा उन पर निरीक्षण एवं नियन्त्रण रखा जाय क्योंकि अभी भारत का लोकतन्त्र शिशु अवस्था में है। यहाँ अभी पर्याप्त सीमा तक निरक्षरता का राज्य है।

Questions

1. Briefly describe the educational administrative set up at the state level.
2. Give a brief account of the administrative set-up at the local level What change would you like to introduce in it and why ?

५

प्राथमिक, माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय-शिक्षा का प्रशासन

(Administration of Primary, Secondary and University Education)

विषय-प्रवेश

हमारे देश की शिक्षा-योजना में विभिन्न पक्षों की शिक्षा को स्थान दिया गया है। इस शिक्षा-योजना में—पूर्व प्राथमिक शिक्षा, प्राथमिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा, विश्वविद्यालय शिक्षा, प्राविधिक शिक्षा, सामाजिक शिक्षा आदि को स्थान प्राप्त है। शिक्षा की प्रत्येक शाखा की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। अतः उनके प्रशासन एवं संगठन में विभिन्नता आना स्वाभाविक है। भारत के समक्ष शिक्षा की प्रत्येक शाखा के मूलभूत उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये साधन एवं इन निकायों की महत्त्वपूर्ण समस्या है जिनके लिये नवीन विधियों एवं रीतियों का प्रयोग किया जा रहा है। इस अध्याय में हमारा मन्तव्य शिक्षा की केवल तीन प्रमुख शाखाओं—प्राथमिक, माध्यमिक एवं विश्वविद्यालय के प्रशासन की ही विधियों एवं वर्गों का विवेचन करना है।

शिक्षा का प्रशासन

Primary Education)

पक्ष है। प्रथम, भारतीय

भौमिक प्राथमिक शिक्षा

र द्वितीय, सार्वभौमिक

आदर्श या नमूने के रूप में

संविधान के अनुच्छेद ४५ के अधीन १४ वर्ष तक के बालकों के लिये नि शुल्क एव अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था १९६० तक कर देने का दायित्व राज्यो पर था, परन्तु यह लक्ष्य अभी तक प्राप्त नही किया जा सका है। १९६०-६१ की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार "अनेक सामाजिक एव आर्थिक कारणों से इस कार्यक्रम को नियत समय के अन्दर मे लाना सम्भव नही था।" इसलिये आयोजन आयोग (Planning Commission) के द्वारा नियुक्त शिक्षामंत्रों के दल ने पूना मे हुई अपनी बैठक मे सुझाव दिया कि १९६५-६६ तक ६ से ११ वर्ष के सभी बालकों की शिक्षा की व्यवस्था करने के लिये प्रयास शीघ्रता से किये जाँय। इस सुझाव को भारत सरकार द्वारा स्वीकार कर लिया गया और द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्त से इस कार्यक्रम को प्रयोग मे लाने के लिये प्रयत्न किये। परन्तु यहाँ द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्त तक जो इस क्षेत्र मे प्रगति की गई उस पर दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है। प्राथमिक शिक्षा की प्रगति को अधोलिखित तालिका मे स्पष्ट किया गया है[1]—

वर्ष	कक्षा १—५ तक मे प्रवेश	६—११ वर्ष तक के वर्ग के स्कूल आने वाले बालकों का प्रतिशत
१९५०-५१	१९१ ५ लाख बालक	४२·९
१९५५-५६	२५१ ७ ,, ,,	५२·९
१९६०-६१	३४४·२ ,, ,,	६१ ३

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्त तक केवल ३४४·२ लाख बच्चे स्कूलों मे उपस्थित थे जो कि इस वर्ग के बालकों की कुल संख्या का केवल ६१·३ प्रतिशत है। इस योजना के अन्त तक यह अनुमान किया गया था कि ३५० लाख बच्चों को स्कूलो मे प्रवेश दिया जा सकेगा। परन्तु अनुमानित लक्ष्य की प्राप्ति नही हो सकी। तृतीय योजना के अन्तर्गत ४९६·४ लाख बच्चो को प्रवेश दिलाने का अनुमान किया गया है। इस योजना के अन्तर्गत १९६२-६३ तक इस क्षेत्र मे जो प्रगति हुई है वह इस प्रकार है[2]—

वर्ष	कक्षा १—५ तक में प्रवेश	६—११ वर्ष तक के वर्ग के स्कूल जाने वाले बालकों का प्रतिशत
१९६०-६१	३४४·२ लाख बालक	६१ ३
१९६१-६२	३७६ ७ ,, ,,	६५ ७
१९६२-६३	४१६·० ,, ,,	७० ०

1. Report, 1961—62, Ministry of Education, p. 3
2. Ibid, p. 3.

शिक्षा पर्यवेक्षण के अनुसार नवीन प्राथमिक स्कूलों की आवश्यकता

(मार्च ३१, १९५७)

क्रम सख्या	राज्य का नाम	शिक्षा पर्यवेक्षण द्वारा प्रस्तावित स्कूलों की सख्या	प्रचलित स्कूलों की सख्या	नवीन स्कूलों की आवश्यकतानुसार सख्या
१	आन्ध्र प्रदेश	२७,८४६	२२,७०८	५,१४१
२	आसाम	१४ १९२	११,००१	३,१९१
३	बिहार	३७,२६१	२६,३५१	१०,९१०
४	बम्बई	४६,३००	४०,५२८	८,७७२
५	जम्मू तथा काश्मीर	२,८२५	१,८८४	९४१
६	केरल	७,९३८	५,७५१	२,१८७
७	मध्य प्रदेश	३५,७१८	२०,८२४	१४,८९४
८	मद्रास	१९ ८३२	१७,९७९	१,८५३
९	मैसूर	२१,६३२	१७,८७५	३,७५७
१०	उडीसा	२१,३७०	१५,०३२	६,३३८
११	पजाब	१२,७०८	११,२२९	१,४७९
१२.	राजस्थान	१७,७७३	८,९३३	८,८४०
१३	उत्तर प्रदेश	५९ ६३७	२६,१६८	३३,४६९
१४.	दिल्ली	२२०	१९०	३०
	हिमाचल प्रदेश	१,९३१	१,००४	९२७
	मनीपुर	८६२	६७१	१९१
	त्रिपुरा	१,२६२	८९५	३६७
		३,३२,३११	२,२९,०२३	१,०३,२८८

बेरोजगारों की सहायता और प्राथमिक शिक्षा का प्रसार—इस ... राज्य सरकारों को तीन उद्देश्यो के लिये शत-प्रतिशत आधार पर ... गई। वे उद्देश्य इस प्रकार हैं :—

...मिक विद्यालयो मे अतिरिक्त शिक्षको को नियुक्त करना या जिन ... मे स्कूल नही हैं वहाँ प्राथमिक विद्यालय खोलना।

...ा के विस्तार को देखते हुए आवश्यकतानुसार अतिरिक्त निरीक्षण ...धिकारियों को नियुक्त करना, तथा

...मीण क्षेत्रों मे अध्यापिकाओ के लिये उचित आवास व्यवस्था करना

... के अन्तर्गत विभिन्न राज्यों मे कुल मिलाकर ६०,०३९ शिक्षकों

२. दूसरे दल में वे कार्यक्रम आते हैं जो केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रस्तावित किये जाते हैं और जिनकी व्यावहारिकता सम्पूर्ण भारत के लिये होती है। परन्तु इन कार्यक्रमों को भी राज्य सरकारों द्वारा ही क्रियान्वित किया जाता है।

३. तीसरे दल में वे योजनाएँ या कार्यक्रम आते हैं जो पूर्ण रूप से केन्द्र सरकार द्वारा ही आयोजित किये जाते हैं तथा उसके द्वारा ही उनको लागू किया जाता है।[1]

प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में केन्द्रीय सरकार की सर्वोत्तम योजनाएँ.—केन्द्र सरकार द्वारा प्राथमिक शिक्षा के विस्तार के हेतु अधोलिखित योजनाएँ प्रस्तावित एवं संचालित की गई हैं :—

१. अखिल भारतीय शिक्षा पर्यवेक्षण (All-India Educational Survey)
२. शिक्षित बेरोजगारों की सहायता एवं प्राथमिक शिक्षा का प्रसार।
३. लड़कियों की शिक्षा
४. अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लिये आदर्श विधान (Model Legislation on compulsory Primary Education)
५. प्राथमिक स्कूलों के अध्यापकों के लिए प्रशिक्षण की सुविधाओं का विस्तार।
६. प्राथमिक अध्यापकों के वेतनादि में सुधार आदि।

(१) **अखिल भारतीय शिक्षा पर्यवेक्षण**—१९५७ में केन्द्र सरकार ने राज्य सरकारों के सहयोग से देश का शिक्षा पर्यवेक्षण कराया। यह कार्य १९५८-५९ में पूरा हुआ। इस पर्यवेक्षण से प्राप्त सूचनाओं को प्रकाशित करा दिया गया है। यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य था जिसने प्राथमिक शिक्षा के विस्तार के लिये आधार प्रदान किया। इसके प्रस्तावों को तृतीय पंचवर्षीय योजना की अवधि में लागू किया जा रहा है। इसके द्वारा यह ज्ञात हो गया था कि देश के विभिन्न राज्यों को कितने प्राथमिक विद्यालयों की आवश्यकता है अर्थात् इस समय उनके पास कितने विद्यालय हैं और कितने नये विद्यालय और खोलने हैं। इनका ब्योरा अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका से स्पष्ट हो जायगा[2] :—

1. 'First year Book of Education', 1947-61, p. 16.
2. Ibid, p. 868.

लिये अधिकाधिक सुविधाओ का विस्तार किया जाय। केन्द्र सरकार ने प्राथमिक विद्यालयो के शिक्षको के प्रशिक्षण के हेतु १९५९-६१ तक दो उद्देश्यो से शत-प्रतिशत आधार पर सहायता दी गई। ये उद्देश्य इस प्रकार हैं —

१ विद्यमान प्रशिक्षण विद्यालयों के लिये निर्धारित स्थानो मे अधिक की व्यवस्था करना।

२ जहाँ आवश्यकता हो वहाँ नये प्रशिक्षण विद्यालयों की स्थापना करना।

इस योजना के अन्तर्गत १९५९-६१ तक २७६ नवीन प्रशिक्षण विद्यालयो की स्थापना की गई और २१५७० छात्रो के लिये अतिरिक्त स्थानों की व्यवस्था की गई। इस ध्येय मे ८४ लाख रुपये के राज्य सरकारो को सहायता अनुदान दिये गये। इसके अतिरिक्त प्राथमिक विद्यालयो के अध्यापकों के प्रशिक्षण पर प्रथम राष्ट्रीय सेमिनार का १९६० मे दिल्ली मे आयोजन किया गया। इस सगोष्ठी (Seminar) की सिफारिशो को अब लागू किया जा रहा है। इसके अनुसार प्राथमिक विद्यालयों के प्रशिक्षण के लिये प्रसार सेवाओ का भी उपयोग किया जा रहा है। १९६५-६६ तक प्रशिक्षित प्राथमिक अध्यापको के प्रतिशत को ७५ प्रतिशत करने का अनुमान है।

(६) प्राथमिक अध्यापकों के वेतनादि में सुधार—केन्द्रीय सरकार ने इस क्षेत्र मे कई महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव रखे। केन्द्र सरकार द्वारा तृतीय पचवर्षीय योजना में सम्बन्धित राज्यो की योजनाओ के लिये १४ करोड रुपये की व्यवस्था की जा चुकी है। इसमे प्रस्तावित बातो के अनुसार कार्य किये जाने पर कम से कम प्रत्येक राज्य के प्राथमिक विद्यालयो के अध्यापको का कम से कम वेतनादि ६० रुपये और अधिक से अधिक ७५ रुपये हो जायेंगे। इसके अतिरिक्त कुछ राज्यो मे प्राथमिक अध्यापकों के लिये प्रॉवीडेण्ट फण्ड, राज्य बीमा तथा पेन्शन की भी व्यवस्था की गई है।

उपरोक्त योजनाओं के अतिरिक्त केन्द्र सरकार ने प्राथमिक विद्यालयो की पाठ्य-पुस्तकों तथा बालकों के उपयुक्त साहित्य के उत्पादन के लिये भी बहुत महत्व-पूर्ण कार्य किया है। इन योजनाओं एव क्रियाओं को देखने से स्पष्ट होता है कि केन्द्र सरकार ने प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में कल्याणकारी राज्य की भावना का प्रदर्शन किया है। यद्यपि शिक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व राज्य सरकारो पर है तो भी केन्द्रीय सरकार ने योजना मे उदार आर्थिक-सहायता द्वारा प्राथमिक शिक्षा की प्रगति के लिये महत्वपूर्ण कार्य किया है।

राज्य सरकारें तथा प्राथमिक शिक्षा का प्रशासन

(State Governments and the Administration of Primary Education)

सविधान के अनुसार शिक्षा एक राजकीय विषय है और शिक्षा के प्रशासन का पूर्ण दायित्व राज्य पर ही है। प्रत्येक राज्य इस क्षेत्र के अपने दायित्वो एव कार्यों को शिक्षा विभाग के द्वारा पूर्ण करता है। शिक्षा विभाग के अन्तर्गत शिक्षामन्त्री, उपमन्त्री शिक्षा-सचिवालय, शिक्षा निदेशालय एव गैर सरकारी मण्डल या परिषदें आती हैं।

२ तीन वर्ष की उच्चतर माध्यमिक शिक्षा (Three years of Higher Secondary Education)।
३. तीन वर्ष की विश्वविद्यालय शिक्षा जो कि प्रथम डिग्री कोर्स के लिये तैयार करेगी। इसके पश्चात् मास्टर डिग्री, अनुसन्धान कार्य के लिये व्यवस्था की गई।

वर्ष की प्रारम्भिक शिक्षा के अन्तर्गत ५ वर्ष की प्राथमिक शिक्षा तथा निम्नतर माध्यमिक शिक्षा (Lower Secondary Education) निहित ...निक समय मे देश मे माध्यमिक शिक्षा का विस्तार बडी ही तीव्र गति ...की प्रगति का ज्ञान नीचे की तालिका से स्पष्ट हो जायगा[1]—

	६-८ कक्षाओ की उपस्थिति (लाखो मे)	९-११ की कक्षाओ की उपस्थिति (लाखो मे)
[illegible]	३१ २	१२ २
[illegible]	४२.६	१८.८
[illegible]	६३.५	२८.७
[illegible]	७०.१	३१ ५
[illegible]	७६.०	३४.६

...रा नियन्त्रण निम्नलिखित चार साधनो के द्वारा किया

...गर।
...रे।
...ाय तथा
...ं (Private Bodies)

...ं (Role of the Central Government)

...ध्यमिक शिक्षा के लिये प्रत्यक्ष रूप मे उत्तरदायी नही है ...र विषय है। परन्तु केन्द्रीय सरकार सघीय क्षेत्रों की शिक्षा ...त्तरदायी है। फिर भी यह माध्यमिक शिक्षा मे सम्बन्धित ...ा को परामर्श एव वित्तीय सहायता प्रदान करती है। इसके ...-प्रदर्शन एवं नेतृत्व भी करती है। यह माध्यमिक शिक्षा की ...र कदम उठाती है तथा कुछ अखिल भारतीय शिक्षा सस्थाओं ...ती है। इन सम्पूर्ण दायित्वों एवं कार्यों को पूर्ण करने के लिये ...ाध्यमिक शिक्षा से सम्बन्धित कुछ शैक्षिक सस्थाओ की स्थापना

...port, 1961-62, Ministry of Education, p. 3.

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद राज्य सरकारो ने अपनी शिक्षा योजनाओं में प्राथमिक एव बुनियादी शिक्षा को बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान दिया है। कुछ राज्यो मे सह सचिव या अतिरिक्त शिक्षा सचालक के पद की व्यवस्था की गई जो कि पूर्णतया प्राथमिक शिक्षा के प्रशासन एव संचालन के लिये उत्तरदायी होता है। सामान्यतः राज्यों के शिक्षा निदेशालय मे एक उप-शिक्षा-सचालक इस शिक्षा के लिये उत्तरदायी होता है। वह इसके प्रसार एव उन्नति के लिये कार्य करता है।

कुछ राज्यों मे यह भी स्वीकार कर लिया गया है कि शिक्षा नीति के निर्धारण मे गैर-सरकारी लोगो की राय को जाना जाय। इसके लिये कुछ राज्यो ने स्थायी परामर्शदाता मण्डलो की स्थापना की है और कुछ राज्यो ने प्राथमिक शिक्षा के लिये वैधानिक मण्डलो की स्थापना की है। बगाल मे सर्वप्रथम प्राथमिक शिक्षा बोर्ड की स्थापना की गई जिसमे कुल ११ सदस्य थे। उनमे से ४ जिलाबोर्डों के द्वारा निर्वाचित सदस्य और ७ सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य थे। इसके बाद बम्बई प्रान्त मे इस प्रकार के बोर्ड की स्थापना की गई। आसाम तथा बिहार राज्यों मे भी क्रमश प्राथमिक शिक्षा बोर्डों की स्थापना की गई। खेर समिति (Kher Committee) ने, जो कि 'प्राथमिक शिक्षा के प्रशासन मे राज्य सरकारो तथा स्थानीय निकायो के बीच सम्बन्ध' निर्धारण करने के लिये नियुक्त की गई थी, इस प्रकार के प्राथमिक शिक्षा बोर्डों के महत्व का अनुभव किया और सुझाव दिया कि "इस प्रकार का मण्डल विचारो के आदान-प्रदान के लिये बहुत महत्वपूर्ण कार्य करता है और राज्य सरकारो की नीति-निर्धारण मे गैर-सरकारी विशेषज्ञों तथा स्थानीय निकायों के विचारो को प्रदान करके बहुत सहायता कर सकता है। अत हमारा सुझाव है कि प्रत्येक राज्य मे प्राथमिक शिक्षा मन्डल स्थापित किये जाने चाहिये जो कि गैर-सरकारी विशेषज्ञो, शिक्षा-विभाग तथा स्थानीय निकायो, जो कि प्राथमिक शिक्षा के प्रशासन से सम्बन्धित हैं, के बीच एक जोडने वाली कडी के रूप मे कार्य करे।"[1] परन्तु खेर समिति के सुझाव के अनुसार अभी तक कुछ ही राज्यो मे कार्य किया गया है।

विभिन्न राज्यो मे प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र मे की गई प्रगति एव की जाने वाली प्रगति के आँकडों को अगले पृष्ठ पर प्रस्तुत किया गया है।

1. "Such a board serves as a clearinghouse for ideas and can materially assist state governments in policy drafting by makingthem conversant with the views of non-official experts andre presentatives of local bodies We, therefore, recommend that *every state* should create a statutory State Board of Primary Educatio[illegible] serve as an important connecting link between non-off[illegible] the education department and local bodies asso[illegible] administration of Primary Education."
   Committee on the Relationship between th[illegible] and Local Bodies Ministry of Educati[illegible]

६–११ वर्ष के वर्ग के बालकों के लिये स्कूलों में जाने की सुविधाएं[1]

(Schooling Facilities for children in the age group 6-11)

क्रम संख्या	राज्य का नाम	१९६०-६१ कक्षा १-५ की उपस्थिति			१९६५-६६ कक्षा १-५ की उपस्थिति			१९६०-६१	१९६५-६६
		लड़के	लड़कियां	योग (लाखों में)	लड़के	लड़कियां	योग (लाखों में)	प्रतिशत	प्रतिशत
१.	आन्ध्र प्रदेश	१७.५०	१०.७०	२८.२०	२५.६०	१८.८०	४४.२०	६०.३	८६.५
२	आसाम	६.७६	३.८६	१०.६८	८.६६	६.०६	१५.०८	६१.७	७७.४
३.	बिहार	२४.००	८.००	३२.००	३०.००	१८.००	४८.००	५३.५	७२.६
४	गुजरात	१२.३०	७.७०	२०.००	१५.६२	११.०१	२६.६३	७२.०	८४.२
५.	जम्मू तथा काश्मीर	१.५४	०.४३	१.९७	२.२४	०.७८	३.०२	४६.६	६२.३
६	केरल	१२.५८	१०.८६	२३.४४	१४.२८	१२.३३	२६.६१	१०८.२	१०८.७
७.	मध्य प्रदेश	१६.००	४.००	२०.००	२०.००	१०.००	३०.००	४७.०	६४.०
८.	मद्रास	२१.२६	१२.२४	३३.५०	२५.५०	२२.००	४७.५०	७८.६	१००.०
९.	महाराष्ट्र	२४.४७	१४.५३	३९.००	३२.३०	२१.३०	५४.००	७३.३	९०.५
१०.	मैसूर	१३.६४	७.८०	२१.४४	१६.०८	१५.३६	३१.४४	६७.४	८८.२
११.	उड़ीसा	७.५०	२.५०	१०.००	१०.५०	५.५०	१६.००	४७.८	६४.६
१२.	पंजाब	१२.२६	४.६०	१६.८६	१५.००	७.८६	२२.८६	६१.८	७४.६
१३.	राजस्थान	९.५१	२.००	११.५१	१३.९०	७.१०	२१.००	४२.०	६८.२
१४.	उत्तर प्रदेश	३२.००	८.४३	४०.४३	४५.००	२१.५०	६६.५०	४५.४	६१.७
१५.	पश्चिमी बंगाल	१८.६७	९.८५	२८.५२	२१.५०	१३.५२	३५.०२	६५.६	७३.४
१६.	दिल्ली	१.६८	१.२३	२.९१	२.२१	१.८७	४.०८	८६.६	९४.३

1. 'First year Book of Education'—National Council of Educational Research and Training, Ministry of Education, New Delhi.

उपरोक्त तालिका को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि १९६०-६१ में प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश की स्थिति बहुत दयनीय थी। इसके अतिरिक्त १९६५-६६ में उत्तर प्रदेश की अपेक्षा राजस्थान की स्थिति में अधिक सुधार होने की सम्भावना है।

१९५० में भारत सरकार ने शिक्षा-विकास की वित्तीय व्यवस्था के साधनों (Ways and Means of Financing Educational Development) पर एक समिति नियुक्त की जिसने यह सिफारिश की कि प्रत्येक राज्य को अपनी सम्पूर्ण आय का २० प्रतिशत शिक्षा पर व्यय करना चाहिये। खेर समिति ने भी यह सुझाव दिया था कि प्रत्येक राज्य को शिक्षा बजट का ६० प्रतिशत प्राथमिक शिक्षा पर व्यय करना चाहिये। १९५१-५२ में वित्तीय व्यवस्था की स्थिति इस प्रकार थी—

राज्य	सम्पूर्ण बजट का शिक्षा के लिये अंश (प्रतिशत में)		प्राथमिक शिक्षा के लिये निर्धारित अंश (प्रतिशत में)	
'क' वर्ग के राज्य	१८.४	ओसत	५४.०	ओसत
'ख' ,, ,,	१६.४		५४.०	
'ग' ,, ,,	१५.८	ओसत	४३.२	ओसत
'घ' ,, ,,	१३.६		३१.६	

१९५१-५२ में बम्बई प्रान्त ने इस वर्ष में अपने शिक्षा बजट का ६६ प्रतिशत प्राथमिक शिक्षा पर व्यय किया था। १९५८-५९ में बिहार, जम्मू-काश्मीर उड़ीसा तथा उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त सभी राज्यों ने अपनी सम्पूर्ण आय का २० प्रतिशत से अधिक शिक्षा पर व्यय किया। इन चार राज्यों में उत्तर प्रदेश तथा जम्मू-काश्मीर ने सबसे कम व्यय किया।

सम्पूर्ण भारत में १९६०-६१ में प्राथमिक या जूनियर बेसिक स्कूलों की कुल संख्या ३३०,३९९ थी और १९६५-६६ तक इनकी संख्या ४ लाख १५ हजार तक बढ़ाने का अनुमान किया गया है। १९६०-६१ में प्राथमिक स्कूलों में ६५.१ प्रतिशत शिक्षक प्रशिक्षित थे और १९६५-६६ तक प्रशिक्षित शिक्षकों का प्रतिशत ७५ तक बढ़ाने का विचार किया गया है।[1]

माध्यमिक शिक्षा का प्रशासन
(Administration of Secondary Education)

१९५५ में केन्द्रीय शिक्षा परामर्शदाता मण्डल तथा उप-कुलपतियों के सम्मेलन ने शिक्षा का निम्न स्वरूप (Pattern) निर्धारित किया।

१. ८ वर्ष की प्रारम्भिक शिक्षा (Eight year's Integrated Elementary basic Education)

1. India, 1964; Publications Division, Ministry of Information and Broadcasting Govt. of India, p. 65.

२ तीन वर्ष की उच्चतर माध्यमिक शिक्षा (Three years of Higher Secondary Education)।

३. तीन वर्ष की विश्वविद्यालय शिक्षा जो कि प्रथम डिग्री कोर्स के लिये तैयार करेगी। इसके पश्चात् मास्टर डिग्री, अनुसन्धान कार्य के लिये व्यवस्था की गई।

८ वर्ष की प्रारम्भिक शिक्षा के अन्तर्गत ५ वर्ष की प्राथमिक शिक्षा तथा ३ वर्ष की निम्नतर माध्यमिक शिक्षा (Lower Secondary Education) निहित की गई। आधुनिक समय मे देश मे माध्यमिक शिक्षा का विस्तार बडी ही तीव्र गति से हुआ है। इसकी प्रगति का ज्ञान नीचे की तालिका से स्पष्ट हो जायगा[1] —

वर्ष	६-८ कक्षाओ की उपस्थिति (लाखो मे)	६-११ की कक्षाओ की उपस्थिति (लाखो मे)
१९५०-५१	३१.२	१२ २
१९५५-५६	४२.९	१८.८
१९६०-६१	६३.५	२८.७
१९६१-६२	७०.१	३१.५
१९६२-६३	७६.०	३४ ६

माध्यमिक स्कूलो का नियन्त्रण निम्नलिखित चार साधनों के द्वारा किया जाता है।

१. केन्द्रीय सरकार।
२ राज्य सरकारें।
३. स्थानीय निकाय तथा
४. निजी सस्थाएं (Private Bodies)

केन्द्रीय सरकार का कार्य (Role of the Central Government)

केन्द्रीय सरकार माध्यमिक शिक्षा के लिये प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी नहीं है क्योंकि शिक्षा एक राजकीय विषय है। परन्तु केन्द्रीय सरकार सघीय क्षेत्रों की शिक्षा के लिये प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी है। फिर भी यह माध्यमिक शिक्षा से सम्बन्धित मामलो मे राज्य सरकारों को [illegible] एव वित्तीय सहायता प्रदान करती है। इसके साथ ही यह [illegible] भी करती [illegible]। यह माध्यमिक शिक्षा की उन्नति के [illegible] शिक्षा संस्थाओ का [illegible] पूर्ण करने के लिये [illegible] की स्थापना

२. केन्द्रीय शिक्षा संस्थान, (Central Institute of Education), देहली के अन्तर्गत केन्द्रीय शैक्षिक एवं व्यावसायिक निर्देशन ब्यूरो (Central Bureau of Educational and Vocational Guidance) और केन्द्रीय पाठ्य-पुस्तक अनुसन्धान ब्यूरो (Central Bureau of Text Book Research) भी है।
३ माध्यमिक शिक्षा के लिये प्रसार कार्यक्रमों का निदेशालय, नई देहली।
४ अखिल भारतीय श्रव्य-दृश्य शिक्षा संस्थान, नई देहली।
५ राष्ट्रीय मूलभूत शिक्षा केन्द्र नई देहली (The National Fundamental Education Centre, New Delhi)

प्रसार कार्यक्रम निदेशालय की क्रियाओं को अधोलिखित पाँच भागों में विभाजित किया गया है—

१ प्रसार सेवा योजना (Extension Services Project)
२ परीक्षा सुधार (Examination Reform)
३ विज्ञान-शिक्षण
४. विद्यालयों में प्रयोग (Experimentation in Schools)
५ क्षेत्रीय प्रशिक्षण कालिजों की स्थापना।

तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ७५ प्रतिशत प्रशिक्षण विद्यालयों में प्रसार सेवा विभाग खोलने की व्यवस्था की गई है। इस निदेशालय के द्वारा मूल्यांकन की रीतियों तथा परीक्षा में सुधार करने के लिये कई वर्कशॉप संचालित किये गये जिनमें २५ प्रशिक्षण कालिजों के ६७ प्रवक्ताओं ने भाग लिया। विज्ञान शिक्षण के क्षेत्र में भी पर्याप्त मात्रा में कार्य किया गया है।

शिक्षा संस्थानों का प्रशासन—केन्द्रीय सरकार संघीय क्षेत्रों के माध्यमिक स्कूलों के अतिरिक्त १८ पब्लिक स्कूलों का भी संचालन करती है। इनके अतिरिक्त उसने कई ऐसे संस्थानों एवं योजनाओं का संचालन किया है जो कि माध्यमिक शिक्षा की उन्नति एवं सुधार के लिये महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं। उनमें से मुख्य को नीचे दिया जा रहा है :—

१. राष्ट्रीय अनुशासन योजना (National Discipline Scheme)
२. लक्ष्मीबाई कालिज ऑफ फिजीकल एजूकेशन (Laxmibai college of Physical Education)
३. केन्द्रीय अंग्रेजी संस्थान, (The Central Institute of English) हैदराबाद।

वित्तीय कार्य—केन्द्रीय सरकार, अधोलिखित बातों के लिये राज्य सरकारों को उदारता के साथ वित्तीय सहायता प्रदान करती है —

१. १४-१७ वर्ष के वर्ग के बालकों तथा बालिकाओं के लिये अधिक विद्यालयों की स्थापना के लिये।

२. हाई स्कूलों को उच्चतर माध्यमिक स्कूलो मे परिवर्तित करने के
३. हाई स्कूलो को बहुउद्देशीय विद्यालयो मे परिवर्तित करने के लिय
४. शिक्षकों की उपयुक्त पूर्ति के लिये।
५. उन शिक्षको के प्रशिक्षण के हेतु चलाये गये कार्यक्रमो के लिये अनुदान दिये जाते हैं, जो नौकरी मे हैं।
६. पुस्तकालयो के सुधार, तथा
७ विज्ञान शिक्षण के लिये सुविधाएं प्रदान करने के लिये।

माध्यमिक शिक्षा की प्रगति को जानने के लिये नीचे एक तालिका रही है जिसमे स्कूलो तथा शिक्षको की सख्या आदि का विवरण दिया गया है।

क्रम सख्या	माध्यमिक शिक्षा से सम्बन्धित तथ्य	१९५०–५१	१९५५–५६	१९
१.	मिडिल/सीनियर बेसिक स्कूलो की सख्या	१३,५९९	२१,७३०	४९
२.	हाई स्कूल/उच्चतर माध्यमिक स्कूलो की सख्या	७,२८८	१०,८३८	१७
३.	बहुउद्देशीय विद्यालयो की सख्या	—	२५५	२
४.	प्रशिक्षण विद्यालयो की सख्या	७८२	९३०	१,
५.	प्रशिक्षण कालिजो की सख्या	५३	१०७	४७
६.	मिडिल स्कूलों के प्रशिक्षित शिक्षको का प्रतिशत	५३·३	५८ ५	६
७.	हाई/उच्चतर माध्यमिक स्कूलो के प्रशिक्षित शिक्षको का प्रतिशत	५३ ८	५९ ७	६
८.	माध्यमिक शिक्षा के लिये प्रत्यक्ष व्यय (Direct Expenditure) (करोडो मे)	३० ७४	५३ ०२	१११

राज्य सरकारें तथा माध्यमिक शिक्षा

जैसा कि हम देख चुके हैं कि शिक्षा एक राजकीय विषय है। इस माध्यमिक शिक्षा राज्य के प्रत्यक्ष एव पूर्ण नियन्त्रण मे है। यह नियन्त्रण निम्नलि साधनों के द्वारा रखा जाता है :—

१. शिक्षा-मन्त्रालय २. शिक्षा-विभाग ३. माध्यमिक शिक्षा परिषद

1. India, 1964 Publications Division, Ministry of Information, Go of India p, 65.

(१) शिक्षा-मन्त्रालय—यह शिक्षा के सम्बन्ध में नीति के नियंत्रण एवं प्रस्तावित करने के लिये उत्तरदायी है। यह माध्यमिक स्तर की अवधि का निर्धारण एवं पाठ्य-क्रम के सम्बन्ध में सामान्य सुझाव प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त माध्यमिक शिक्षा-संहिता (Education Code) को स्वीकृत एवं बजट निर्धारित करता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद शिक्षा-मन्त्रालय के समक्ष माध्यमिक शिक्षा से सम्बन्धित समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं जिनको उसे हल करना पड़ता है। जैसे-विद्यालय पाठ्य-क्रम, हिन्दी तथा अंग्रेजी का स्थान पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण आदि। इनके सम्बन्ध में प्रत्येक राज्य अपनी स्वयं की नीति ग्रहण करता है। इसीलिये शिक्षा-नीति में अनुरूपता (Uniformity) का अभाव रहता है। यद्यपि केन्द्रीय सरकार द्वारा अनुरूपता लाने के लिये समय-समय पर बहुत से निर्देशन दिये जाते हैं, फिर भी स्थानीय स्थितियों व नीतियों की विभिन्नता आदि के कारण एकरूपता का अभाव रहता है।

शिक्षा-विभाग— यह शिक्षा-मन्त्रालय द्वारा निर्धारित नीति को क्रियान्वित करता है। शिक्षा-विभाग यह भी देखता है कि अनुदानों के नियमों का पालन किया जा रहा है या नहीं। यह सरकारी तथा सहायता प्राप्त स्कूलों के उपयुक्त सचालन के लिये भी उत्तरदायी है। इसके द्वारा समस्त स्कूलों का निरीक्षण किया जाता है। शिक्षा विभाग इस कार्य को निरीक्षकों एवं निरीक्षिकाओं द्वारा कराता है। प्रत्येक राज्य एक उप शिक्षा सचालक रखता है जो कि माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में शिक्षा सचालक को सहायता देता है। शिक्षा विभाग द्वारा स्वयं माध्यमिक विद्यालयों का भी सचालन किया जाता है। नीचे की तालिका से यह स्पष्ट हो जायगा कि सरकार के द्वारा समस्त माध्यमिक स्कूलों का बहुत बड़ा भाग सचालित किया जाता है।

प्रबन्ध के अनुसार माध्यमिक स्कूलों का वर्गीकरण[1]
(१९५९—६०)

स्कूलों के प्रकार	सरकार		जिला बोर्ड	नगर पालिकाएँ	निजी संस्थाएँ	
	केन्द्र	राज्य			सहा० प्राप्त	असहा० प्राप्त
हाईस्कूल	२५	१,९६०	१३४०	३३०	६,७९०	१,४६१
उच्चतर माध्यमिक स्कूल	१७	८३७	४६	११०	२,६५	३८८
मिडिल/जूनियर हाईस्कूल	३४	५,९६१	११,३६७	१,४०५	७,७००	१,८७०
सीनियर बेसिक स्कूल	२	१,२१०	९,१५०	८०४	१,२२८	१,०३०
योग	७८	९,९६८	२१,९३३	२,२४९	१८,११३	४,७४९

कुल माध्यमिक स्कूलों का योग=५३,०९०
सरकार द्वारा सचालित स्कूलों की संख्या=१०,०४६

1. Education in India, 1959-60, Vol. II, p. 8-9.

२. हाई स्कूलो को उच्चतर माध्यमिक स्कूलों मे परिवर्तित करने के हेतु
३ हाई स्कूलो को बहुउद्देशीय विद्यालयो मे परिवर्तित करने के लिये।
४. शिक्षको की उपयुक्त पूर्ति के लिये।
५. उन शिक्षको के प्रशिक्षण के हेतु बनाये गये कार्यक्रमो के लिये उदार अनुदान दिये जाते हैं, जो नौकरी मे हैं।
६ पुस्तकालयो के सुधार, तथा
७ विज्ञान शिक्षण के लिये सुविधाएं प्रदान करने के लिये।

माध्यमिक शिक्षा की प्रगति को जानने के लिये नीचे एक तालिका दी जा रही है जिसमे स्कूलो तथा शिक्षको की सख्या आदि का विवरण दिया गया है।[1]

क्रम सख्या	माध्यमिक शिक्षा मे सम्बन्धित तथ्य	१९५०-५१	१९५५-५६	१९६०-६
१	मिडिल/सीनियर बेसिक स्कूलो की सख्या	१३,५९६	२१,७३०	४९,६६३
२	हाई स्कूल/उच्चतर माध्यमिक स्कूलो की सख्या	७,२८८	१०,८३८	१७,२५
३.	बहुउद्देशीय विद्यालयो की सख्या	—	२५५	२,११५
४	प्रशिक्षण विद्यालयो की सख्या	७८२	९३०	१,१३८
५.	प्रशिक्षण कालिजो की सख्या	५३	१०७	४७८
६.	मिडिल स्कूलों के प्रशिक्षित शिक्षको का प्रतिशत	५३·३	५८ ५	६६ ५
७.	हाई/उच्चतर माध्यमिक स्कूलो के प्रशिक्षित शिक्षको का प्रतिशत	५३ ८	५९ ७	६४ १
८.	माध्यमिक शिक्षा के लिये प्रत्यक्ष व्यय (Direct Expenditure) (करोडो मे)	३० ७४	५३·०२	११[illegible]

राज्य सरकारें तथा माध्यमिक शिक्षा

जैसा कि हम देख चुके हैं कि शिक्षा एक राजकीय विषय है माध्यमिक शिक्षा राज्य के प्रत्यक्ष एव पूर्ण नियन्त्रण मे है। यह नियन्त्रण साधनों के द्वारा रखा जाता है :—

१. शिक्षा-मन्त्रालय २. शिक्षा-विभाग ३. माध्यमिक

1. India, 1964 Publications Division, Ministry of I[illegible] of India p, 65.

विभाग के प्रशासकीय कार्यों को भी प्रभावित करती है। बिहार की माध्यमिक परिषद सरकार के निरीक्षकों या स्वयं के द्वारा नियुक्त निरीक्षकों से स्कूलों का निरीक्षण कराती है।

स्थानीय निकाय तथा माध्यमिक शिक्षा
(Local Bodies and Secondary Education)

जैसा कि हम गत तालिका में देख चुके हैं कि स्थानीय निकाय समस्त स्कूलों के बहुत बड़े भाग का सचालन करती है। इस स्तर की प्रशासकीय व्यवस्था का विवरण गत अध्याय में किया जा चुका है। नीचे हम विभिन्न राज्यों में स्थानीय निकायों द्वारा सचालित स्कूलों का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

स्थानीय सस्थाओं द्वारा संचालित माध्यमिक स्कूलों का प्रतिशत[1]
(१९५६-५७)

राज्य	मिडिल स्कूल		हाई स्कूल		माध्यमिक स्कूल	
	जिला बोर्ड	नगर-पालिकाएँ	जिला बोर्ड	नगर-पालिकाएँ	जिला बोर्ड	नगर-पालिकाएँ
आन्ध्र	१९ ७	५ ५	५९ १	६ ७	४६ ९	६·३
आसाम	३५ ३	० ४	—	—	२७ २	० ३
बिहार	३१ ९	२ २	—	—	५८ ८	७ ६
बम्बई	७७ ८	९·०	० २	३ २	—	—
केरल	५ ७	० ७	२ ७	० ५	४ ६	० ७
मध्य प्रदेश	२८ ९	२ ०	१ ०	८ ९	२३ ३	३ ४
मद्रास	२२ ६	५ २	३७ २	६ ४	३२ २	६·०
मैसूर	४४ १	१ ३	१४ ०	५ ३	३७·०	४ ६
राजस्थान	१·२	० १	—	१—	० ९	० १
उडीसा	७·२	० ४	६ १	० ८	६ ९	० ५
पजाब	५५ ७	३ २	२३ ७	३ ५	३८ ९	३ ३
उत्तर प्रदेश	५१ ६	४ ६	०·२	२ ६	४२ ५	४ १
पश्चिमी बगाल	० ९	० ४	—	—	० ५	० २

निजी संस्थाएँ तथा माध्यमिक शिक्षा

माध्यमिक शिक्षा के विकास में निजी सस्थाओं का बहुत बड़ा हाथ है। इन स्कूलों का प्रबन्ध बहुत सी सस्थाएँ करती हैं जैसे धार्मिक सगठन, पजीकृत ट्रस्ट बोर्ड (*Registered Trust Boards*) और समुदाय। भारत के लगभग ५० प्रतिशत

1. Education in India, 1956-57, Vol. I. p. 108.

तालिका को देखने से स्पष्ट होता है कि सरकार पाँच में से एक स्कूल का स्वय सचालन करती है जिनके सचालन के लिये उसे माध्यमिक शिक्षा के बजट का बहुत बड़ा भाग व्यय करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त इनका सचालन बहुत-सी समस्याएँ उत्पन्न करता है। इन स्कूलो के शिक्षक सरकारी नौकर होते हैं। इनके शिक्षकों के वेतनादि तथा गैर सरकारी स्कूलो के शिक्षकों के वेतनादि मे पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। इस प्रकार की असमानता अनुपयुक्त सी दिखाई देती है। उत्तर प्रदेश मे इसी साल इस असमानता को लेकर बहुत बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ। गैर-सरकारी स्कूलो के शिक्षको ने सरकार से यह माँग की कि उनके वेतनादि मे इस प्रकार की असमानता न रखी जाय। इसके लिये उन्होने माध्यमिक शिक्षा-परिषद तथा विश्वविद्यालयो की परीक्षाओ का बहिष्कार किया। इसके अतिरिक्त इन विद्यालयों के आन्तरिक प्रशासन मे भी बहुत सी समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। इनके प्रशासन मे प्रधानाचार्य को पहल कदमी का प्रयोग करने का कोई स्थान नही है। उसे उन्हीं सिद्धान्तो एवं नियमो के अनुसार कार्य करना पड़ता है जो कि सरकार द्वारा निर्धारित कर दिये गये हैं। प्रधानाचार्य का अपने शिक्षको की नियुक्ति मे भी कोई हाथ नहीं होता है।

उपरोक्त दोषो को ध्यान मे रखते हुए हमारे प्रबन्धको को हन्टर कमीशन (Hunter Commission) के इस सुझाव पर ध्यान देना चाहिये—"माध्यमिक शिक्षा को जहाँ तक सम्भव हो सके, अनुदानो के आधार पर प्रदान किया जाना चाहिये और सरकार को इन विद्यालयों के प्रत्यक्ष प्रबन्ध से स्वय को पृथक कर लेना चाहिये।" इसके साथ ही इस आयोग ने यह भी सुझाव दिया कि सरकार को व्यावसायिक तथा लड़कियो के लिये विद्यालयो की व्यवस्था करना चाहिये और उसे उन क्षेत्रो मे विद्यालय स्थापित करने चाहिये जहाँ के निवासी स्वय अपने स्कूल सचालित करने मे समर्थ नही हैं। इस सम्बन्ध मे यह बात भी ध्यान मे रखने योग्य है कि यदि सरकारी स्कूलो का सचालन किया ही जाय तो उनके आन्तरिक प्रशासन मे प्रजातन्त्र तथा विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्तो को स्थान दिया जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त सरकारी स्कूलों का समाज से भी सम्बन्ध स्थापित किया जाना चाहिये। इसके लिये परामर्शदाता परिषदो की स्थापना की जाय। इनमे समाज के लोगो को भी प्रतिनिधित्व प्राप्त हो।

माध्यमिक शिक्षा परिषदें—कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग की सिफारिश के अनुसार १५ माध्यमिक शिक्षा परिषदों की स्थापना हुई। इनके नाम तथा इनके द्वारा सचालित परीक्षाओ का विवरण परिशिष्ट एक मे दिया गया है। केवल आसाम, पजाब तथा जम्मू-काश्मीर मे इस प्रकार की परिषदें नहीं हैं। इनके कार्य विभिन्न राज्यो मे भिन्न हैं।

अधिकांश परिषदे परीक्षाओ के सचालन एव उनके लिये पाठ्य-क्रम के निर्धारण का कार्य कर रही हैं। कुछ परिषदें शिक्षा विभाग को परामर्श देने का भी कार्य करती हैं। कुछ परिषदें जैसे विदर्भ (Vidarbha) की माध्यमिक प[illegible]

विभाग के प्रशासकीय कार्यों को भी प्रभावित करती है। बिहार की माध्यमिक परिषद सरकार के निरीक्षकों या स्वयं के द्वारा नियुक्त निरीक्षकों से स्कूलों का निरीक्षण कराती है।

स्थानीय निकाय तथा माध्यमिक शिक्षा
(Local Bodies and Secondary Education)

जैसा कि हम गत तालिका में देख चुके हैं कि स्थानीय निकाय समस्त स्कूलों के बहुत बड़े भाग का संचालन करती हैं। इस स्तर की प्रशासकीय व्यवस्था का विवरण गत अध्याय में किया जा चुका है। नीचे हम विभिन्न राज्यों में स्थानीय निकायों द्वारा संचालित स्कूलों का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

स्थानीय संस्थाओं द्वारा संचालित माध्यमिक स्कूलों का प्रतिशत[1]
(१९५६–५७)

राज्य	मिडिल स्कूल		हाई स्कूल		माध्यमिक स्कूल	
	जिला बोर्ड	नगर-पालिकाएँ	जिला बोर्ड	नगर-पालिकाएँ	जिला बोर्ड	नगर-पालिकाएँ
आन्ध्र	१९ ७	५ ५	५९ १	६ ७	४६.९	६ ३
आसाम	३५ ३	० ४	—	—	२७ २	० ३
बिहार	३१ ९	२.२	—	—	५८ ८	७ ६
बम्बई	७७ ८	९ ०	० २	३ २	—	—
केरल	५ ७	० ७	२ ७	० ४	४ ६	०.७
मध्य प्रदेश	२८ ९	२ ०	१ ०	८ ९	२३ ३	३ ४
मद्रास	२२ ६	५ २	३७ २	६.४	३२ २	६.०
मैसूर	४४ १	१.३	१४ ०	५ ३	३७.०	४ ६
राजस्थान	१ २	० १	—	१—	० ९	०.१
उड़ीसा	७.२	० ४	६ १	० ८	६ ९	० ५
पंजाब	५५.७	३ २	२३ ७	३.५	३८ ९	३ ३
उत्तर प्रदेश	५९ ६	४ ६	०.२	२ ६	४२ ५	४ १
पश्चिमी बंगाल	० ९	० ४	—	—	० ५	० २

निजी संस्थाएँ तथा माध्यमिक शिक्षा

माध्यमिक शिक्षा के विकास में निजी संस्थाओं का बहुत बड़ा हाथ है। इन स्कूलों का प्रबन्ध बहुत सी संस्थाएं करती हैं जैसे धार्मिक संगठन, पंजीकृत ट्रस्ट बोर्ड (Registered Trust Boards) और समुदाय। भारत के लगभग ५० प्रतिशत

1. Education in India, 1956-57, Vol. I, p. 108.

माध्यमिक स्कूलों का संचालन निजी संस्थाओं के द्वारा किया जा रहा है। इनका वास्तविक संचालन प्रबन्धक समितियों द्वारा होता है। इन समितियों में प्रधानाचार्य, स्थायी शिक्षकों, ट्रस्ट या स्थानीय निकाय या धार्मिक संगठन आदि संस्थाओं के प्रतिनिधि, शिक्षा विभाग का एक प्रतिनिधि, संरक्षकों का एक प्रतिनिधि होना चाहिये। इसके अतिरिक्त आन्तरिक व्यवस्था को चलाने के लिये शिक्षकों की एक परिषद हो जो प्रधानाचार्य को प्रतिदिन के मामलों में परामर्श प्रदान कर सके।

राज्यीय स्तर पर वित्तीय व्यवस्था

(Finance at the State level)

माध्यमिक शिक्षा के लिये राज्यीय स्तर पर आय के मुख्य स्रोत अधोलिखित हैं :—

१. राज्य सरकार द्वारा अनुदान,
२. स्थानीय निकायों द्वारा दिये गये अनुदान,
३. निजी संस्थाओं द्वारा दिये गये अनुदान,
४. विद्यालय शुल्क या फीस,
५. वृत्तिदान एवं अन्य स्रोत।

माध्यमिक शिक्षा पर १९५९-६० में भारत के सम्पूर्ण राज्यों एवं क्षेत्रों ने प्रबन्ध के दृष्टिकोण से जो प्रत्यक्ष व्यय (Direct Expenditure) किया उसका ब्यौरा अधोलिखित तालिकाओं में स्पष्ट किया गया है —

मिडिल स्कूलों पर प्रबन्धकों के द्वारा किया गया प्रत्यक्ष व्यय[1]

(Direct Expenditure on Middle Schools by Management)

प्रबन्धक	धनराशि (रुपयों में)	प्रतिशत
सरकार	९,५२,७१,८६२	२८.२
जिला बोर्ड	१२,६८,६६,६२६	३६.८
म्युनिसिपल बोर्ड	४,६६,६६,६८५	१३.३
निजी संस्थाएँ		
(१) सहायता प्राप्त	७,७५,६१,८६२	२२.१
(२) असहायता प्राप्त	१,२५,४०,७११	३.६
योग	३५,६५,६८,०५६	१००.००

1. Education in India, 1959-60, Vol. I, p. 115.

हाई/हायर सेकण्डरी स्कूलों पर प्रबन्ध के अनुसार प्रत्यक्ष व्यय[1]
(Direct Expenditure on High and Higher Secondary Schools by Management)

प्रबन्धक	धनराशि (रुपयो मे)	प्रतिशत
सरकार	१३,५६,६७,४६६	२२·७
जिला बोर्ड	४,०१,८६,४८५	६·७
म्युनिसिपल बोर्ड	२,१६,३०,२८१	३ ७
निजी सस्थाएँ		
(१) सहायता प्राप्त	३५,७६,०७,१६२	५६ ७
(२) असहायता प्राप्त	४,३३,०६,८२६	७ २
योग	५६,९०,३१,२५३	१०० ०

मिडिल स्कूलों पर १६५६-६० मे मध्य प्रदेश, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश ने कुल २,२३,६६,६३१, १,६१,४७,६६४ तथा २,५४,३१,५५६ रुपये का प्रत्यक्ष व्यय किया। हाई/हायर सेकण्डरी स्कूलो पर इन तीनो राज्यो ने २,५०,१०,४६७ ; २,००,४१,७४१ तथा ८,७३,४४,८०८ रुपये व्यय किये।[2]

विश्वविद्यालय शिक्षा का प्रशासन
(Administration of University Education)

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में केन्द्रीय सरकार पर केन्द्रीय विश्वविद्यालयों—अलीगढ़ बनारस, दिल्ली तथा विश्व भारती—की व्यवस्था उत्तरदायित्व है। इसके अतिरिक्त उच्च शिक्षा मे आदर्श स्तर बनाये रखने तथा समन्वय स्थापित करने का दायित्व भी भारत सरकार पर है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के हेतु विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग के सुझाव पर केन्द्र सरकार ने १६५३ मे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की स्थापना की। इन सवैधानिक दायित्वो के अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार उच्च शिक्षा के विकास-विस्तार के लिये राज्य सरकारों एव ऐच्छिक सस्थाओ को स्वय सहायता-अनुदान देती है और उच्च शिक्षा के विकास के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के अनेक कार्यक्रम भी चलाती है।

जब हम विश्वविद्यालय शिक्षा कहते हैं तब इसका अर्थ केवल उस शिक्षा से ही नहीं जो विश्वविद्यालयो के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से अपने शिक्षकों द्वारा प्रदान की जाती है वरन् इसका अर्थ उस शिक्षा से भी है जो विश्वविद्यालय से सम्बन्धित

1. Education in India, 1959-60, Vol 1. p. 131.
2. Ibid p. 132.

कालिजो में उनके शिक्षकों द्वारा प्रदान की जाती है। विश्वविद्यालय एक स्वायत्त प्राप्त (Autonomous) संस्था है जिसका प्रबन्ध स्वयं उसी के द्वारा किया जाता है। इनकी आन्तरिक व्यवस्था की रूपरेखा देखने से पूर्व यह जानना आवश्यक हो जाता है कि भारत मे किस-किस प्रकार के विश्वविद्यालय स्थित हैं। भारत मे पाये जाने वाले विश्वविद्यालयों को अधोलिखित वर्गों में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) सम्बन्धक विश्वविद्यालय (Affiliating University) :—जैसे आगरा।

(२) सम्बन्धक एवं शिक्षण विश्वविद्यालय (Affiliating and Teaching Universities)—इस समय भारत मे ऐसे ३४ विश्वविद्यालय हैं। उदाहरणार्थ—बर्दवान, भागलपुर, विक्रम, बिहार, कलकत्ता, दिल्ली, गोरखपुर आदि।

(३) आवास एवं शिक्षण विश्वविद्यालय (Residential and Teaching Universities)—इस समय भारत मे ऐसे १६ विश्वविद्यालय हैं। उदाहरणार्थ—विश्वभारती, यू० पी० एग्रीकल्चरल विश्वविद्यालय पन्तनगर, उदयपुर विश्वविद्यालय उदयपुर, भुवनेश्वर, लखनऊ, कुरुक्षेत्र, जोधपुर, कल्याणी (पश्चिमी बंगाल), अलीगढ़, इलाहाबाद आदि।

(४) संघात्मक एवं शिक्षण विश्वविद्यालय (Federal and Teaching Universities)—भारत मे ऐसे विश्वविद्यालय केवल २ हैं जो कि बम्बई विश्वविद्यालय, बम्बई तथा केरल विश्वविद्यालय त्रिविन्द्रम् (Trivandrum) हैं।

(५) शिक्षण विश्वविद्यालय (Teaching University)—इस प्रकार का विश्वविद्यालय केवल पटना विश्वविद्यालय, पटना मे है।

भारत मे कुल ५५ विश्वविद्यालय हैं जिनमे से पाँच १९६० मे, तीन १९६१ मे, छः १९६२ मे और एक १९६३ मे स्थापित किया गया और बाकी विश्वविद्यालय इनसे पहले के हैं।

विश्वविद्यालयों की आन्तरिक व्यवस्था
(Internal Government of Universities)

विश्वविद्यालयों की आन्तरिक व्यवस्था मामूली विभिन्नता के अतिरिक्त प्रायः एक सी है। केन्द्रीय विश्वविद्यालयों को छोड़कर समस्त विश्वविद्यालयों का अवैतनिक कुलपति या अनौपचारिक अध्यक्ष राज्य का गवर्नर होता है। इसके अतिरिक्त उप-कुलपति प्रतिदिन के प्रशासन के लिये पूर्ण समय के लिये एक वेतन पाने वाला अधिकारी होता है। इसकी नियुक्ति एक निश्चित अवधि के लिये की जाती है। यह अवधि ३ से ५ वर्ष तक की है। विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने सिफ़ारिश की थी कि "उप-कुलपति वह व्यक्ति होना चाहिए जो शिक्षकों तथा छात्रों के विश्वास को अपने व्यक्तित्व की शक्ति एवं शास्त्रीय प्रसिद्धि के फलस्वरूप प्राप्त कर सके। उपकुलपति को विश्वविद्यालय की चेतना को कायम रखने वाला होना चाहिए।" उपकुलपति

को विश्वविद्यालय तथा जनता के बीच उपयुक्त सम्पर्क स्थापित करने वाला अधिकारी होना चाहिये। कुछ विश्वविद्यालय प्रोवाइस चांसलर या रेक्टर (Rector) भी रखते हैं जो कि उप-कुलपति को उसके कार्य में सहायता प्रदान करता है। उप-कुलपति की नियुक्ति राज्यपाल एक चयन समिति की सहायता से करता है।

प्रत्येक विश्वविद्यालय मे कम से कम तीन अधिकारक संस्थाएँ होती हैं। कुछ मे इनके अतिरिक्त विश्वविद्यालय शिक्षण मण्डल (Boards of University Teaching) भी हैं। जैसे—बम्बई, पूना एवं कर्नाटक। विश्वविद्यालय की तीन संस्थाएँ निम्न हैं —

१. *सैनेट या कोर्ट (Senate or Court)*
२. सिण्डीकेट या कार्यकारिणी परिषद (Syndicate or Executive Council)
३. विभाग (Faculties)

(१) सैनेट—इस संस्था मे विभिन्न हितो को प्रतिनिधित्व प्राप्त है, जैसे—प्रधानाचार्य, शिक्षक, नगरपालिकाएँ, व्यावसायिक एवं औद्योगिक हितों, स्थानीय हितो, प्रान्तीय विधानमण्डलो, दान देने वालो के हितो, पंजीकृत ग्रेजुएट्स आदि। कुछ सरकारी विभागो के अध्यक्ष इसके अपदेन सदस्य होते हैं। इसके अतिरिक्त इसके लिये कुलपति या सरकार भी सदस्यों को मनोनीत करती है। यह संस्था विश्वविद्यालय नीति के विभिन्न प्रश्नो को निर्णीत करती है। इसको बजट एवं अपील सम्बन्धी शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। धीरे-धीरे इस संस्था में निर्वाचित तत्वों को भी स्थान दिया जाने लगा है।

(२) कार्यकारिणी परिषद्—विश्वविद्यालयो के प्रशासन मे यह संस्था धुरी जैसा कार्य करती है। यही संस्था सम्पूर्ण प्रशासन कार्यों को करती है। यह एक छोटा निकाय है जिसमें अधोलिखित को प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है :—

(अ) उप-कुलपति
(ब) शिक्षा-संचालक (अपदेन सदस्य)
(स) सैनेट या कोर्ट के प्रतिनिधि
(द) विभागो के सदस्य (Members of the different faculties) तथा
(य) कालेजो के प्रिंसिपल।

यह विश्वविद्यालय की सम्पत्ति तथा कोष एवं उसके प्रतिदिन के प्रशासन का संचालन करती है।

(३) विभाग (Faculties)—ये अध्ययन मण्डलों (Boards of Studies) के माध्यम से कार्य करते हैं। वस्तुतः ये समन्वय स्थापित करने वाले निकाय हैं

जो कि विभिन्न विषयो से सम्बन्धित समान हितो की देखभाल करते हैं । ये एकेडमिक परिषद (Academic Council) की सहायता से पाठ्य-क्रम, शिक्षण का संगठन तथा परीक्षाओं का विनियमन करते हैं।

कुछ विश्वविद्यालयो मे विश्वविद्यालय शिक्षण मण्डल (Boards of University Teaching) भी है जो कि सम्बन्धित कालिजो मे शिक्षण का नियन्त्रण एव उसमे समन्वय स्थापित करते हैं। बहुत से विश्वविद्यालय स्थायी वित्त समिति (Standing Finance Committee) तथा विश्वविद्यालयो के शिक्षको के चयन के लिये वैधानिक मण्डल रखते हैं। इस प्रकार विश्वविद्यालय शिक्षा का प्रशासन इन विभिन्न निकायो के द्वारा सचालित किया जाता है।

सरकार तथा विश्वविद्यालय
(Government and Universities)

जैसा कि हम देख चुके हैं कि विश्वविद्यालय स्वायत्त प्राप्त या स्वतन्त्र निकाय हैं। इन पर सरकार का प्रत्यक्ष रूप से कोई नियन्त्रण नही है। वास्तविकता यह है कि सरकार का इन पर अप्रत्यक्ष रूप से पर्याप्त नियन्त्रण है। सरकार इन पर अधोलिखित ढंग से अपना नियन्त्रण रखती है :—

१ विश्वविद्यालय का अध्यक्ष राज्य का अध्यक्ष होता है।
२ राज्य का अध्यक्ष उपकुलपति को नियुक्त करता है।
३. सैनेट द्वारा पारित नियम तब तक प्रभावशाली नहीं हो सकते जब तक उन पर राज्य के अध्यक्ष द्वारा स्वीकृति प्रदान न कर दी जाए। दूसरे शब्दो मे कह सकते हैं कि सरकार या गवर्नर जब उन पर अपनी मान्यता प्रदान कर देते हैं तभी वे अधिनियम का रूप धारण करते हैं।
४. सरकार विश्वविद्यालयो के निर्णयो को अप्रत्यक्ष रूप से अपने द्वारा मनोनीत सदस्यों के माध्यम से प्रभावित करती है।
५. कार्यकारिणी तथा सैनेट में सरकार के भी सदस्य होते हैं।
६ सरकार द्वारा विश्वविद्यालय के हिसाबो की जाँच की जाती है क्योंकि उनकी आय का मुख्य स्रोत सरकार द्वारा प्रदान किये गये सहायता-अनुदान ही है।

विश्वविद्यालय-शिक्षा की वित्तीय व्यवस्था
(Finance of the University Education)

विश्वविद्यालयो तथा उनके कालिजो की आय के बहुत से साधन हैं। उनमे से प्रमुख केन्द्रीय सरकार के अनुदान, राज्य सरकार अनुदान, स्थानीय निकायों के कोष, फीस, वृत्तिदान तथा अन्य स्रोत हैं। १९५९-६० मे विश्वविद्यालयो तथा उनके कालिजों की आवर्तक (Recurring) आय ५०,६२,०४,४५२ रुपये और अनावर्तक

Non-recurring) आय १७,२८,१७,६८४ रुपये थी। इस प्रकार कुल आय ७,८०,२२,१३६ रुपये थे। सम्पूर्ण आय विभिन्न स्रोतो से प्राप्त हुई। उनका विव-ण नीचे की तालिका मे स्पष्ट किया गया है—[1]

र्ष	आवर्तक आय						अनावर्तक आय		
	केन्द्रीय	राज्य सरकार	स्थानीय निकाय	फीस	वृत्तिदान	अन्य स्रोत	केन्द्र	राज्य	अन्य स्रोत
१९५९-६०	६,०८,७०,२३०	१८,६४,४३,७७३	१६,०४,११२	२१,२५,४०,२४४	८५,४७ ६३५	३,२१,६८,१५१	७,८७,७४,६००	६,७०,८६,७६४	२,६६,५६,०२०

योग=५०,५२,०४, ४५२+१७२८, १७,६८४=६७,८०,२२,१३६

इस सम्पूर्ण धन-राशि मे से ७,६८,२५,१५२ रुपये विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रदान किये गये। अनुदान आयोग ने सन् १९६०-६१ में विश्वविद्यालयो को विभिन्न मदों के लिये ७,६९,७५,००० रुपये के अनुदान दिये।

Questions

1. Write a critical note on the administration of primary education
2. What is the role of the central government in the administration of primary education? What suggestions can you give to make it more efficient?
3. How far have the state governments met their aesponsibilities for the *administration of primary education*? Discuss with special reference to u. p
4. What are the main agencies for controlling secondary education? Discuss their functions and relations, if any, with one another.
5. Write a critical estimate of the administration of university education in India.

---

1. Education in Universities in India, 1959-60, Ministry of Education Government of India, p. 124-127.

सिफारिश करता है तथा असन्तोषजनक प्रशासन के विरुद्ध अपनी रिपोर्ट भी देता है। वह इन्टर कालिजों का भी निरीक्षण कर सकता है। वह इन कालिजों के निरीक्षण के लिये बनायी गयी समिति (Panel) का चेयरमैन होता है। इस समिति के तीन सदस्य होते हैं। उनमें से एक तो वह स्वयं होता है और एक सदस्य किसी इन्टर कालिज का प्रधानाचार्य और दूसरा डिग्री कालिज का प्राध्यापक या प्रधानाचार्य होता है। सामान्यतः मिडिल स्कूलों का निरीक्षण सहायक निरीक्षक के द्वारा किया जाता है।

इस प्रशासकीय ढाँचे के अतिरिक्त मकतबों तथा संस्कृत पाठशालाओं के लिये विशेष निरीक्षक हैं। परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों के लड़कियों के प्राथमिक स्कूलों के निरीक्षण के लिये कोई पृथक व्यवस्था नहीं है। उनका निरीक्षण उप-विद्यालय-निरीक्षक या अधीन उपविद्यालय निरीक्षकों के द्वारा किया जाता है। लड़कियों के हाईस्कूल एवं इन्टर कालिजों के निरीक्षण के लिये पृथक व्यवस्था की गई है। नीचे इस प्रशासकीय ढाँचे को स्पष्ट किया गया है—

उपरोक्त अधिकारियों के अतिरिक्त कुछ अन्य अधिकारी भी होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. विभागीय परीक्षाओं का रजिस्ट्रार (Registrar of Departmental Examinations)

२. पाठ्य-पुस्तक अधिकारी ।
३. प्रकाशन अधिकारी ।

प्रदेश के शिक्षा-प्रशासन में भाग लेने वाले वैधानिक निकाय
(Statutory Bodies for the Educational Administration)

सबसे महत्वपूर्ण वैधानिक सस्था माध्यमिक शिक्षा परिषद् (Board of High School and Intermediate Education) है जिसकी स्थापना एक एक्ट द्वारा १९२१ मे हुई थी। इस एक्ट मे १९५८ मे सशोधन किया गया। इसमें अधोलिखित को प्रतिनिधित्व प्राप्त है—

१. शिक्षा-सचालक (अपदेन चेयरमैन) ।
२ प्रधानाचार्यों के प्रतिनिधि ।
३. प्रत्येक विश्वविद्यालय का एक प्रतिनिधि ।
४ मनोनीत सरकारी अधिकारी ।
५ सचिव तथा अन्य सहायक सचिव ।

इस परिषद के प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं—

(अ) सम्पूर्ण प्रदेश (बनारस तथा अलीगढ विश्वविद्यालयो से सम्बन्धित सस्थाओ के अतिरिक्त) की हाई स्कूल तथा इन्टरमीडियेट परीक्षाओ का सचालन करना ।
(ब) इन परीक्षाओ के पाठ्य-क्रम एव पाठ्य-पुस्तको का निर्धारण करना ।
(स) विद्यालयो को मान्यता (Recognition) प्रदान करना ।

इस परिषद के अतिरिक्त कुछ अर्द्ध-वैधानिक सस्थाएँ हैं जिनमे क्षेत्रीय पचनिर्णय मण्डल (Regional Arbitration Boards) जिला परामर्शदात्री समितियाँ, सामाजिक शिक्षा मण्डल आदि प्रमुख हैं। क्षेत्रीय पच न्यायालय मण्डल मे तीन सदस्य होते हैं। क्षेत्रीय उप-शिक्षा सचालक इसका चेयरमैन होता है तथा एक प्रतिनिधि यू० पी० माध्यमिक शिक्षक सघ का तथा एक विद्यालय प्रबन्धको का प्रतिनिधि होता है। जिला परामर्शदात्री समितियो की योजना अभी प्रयोगावस्था मे है।

प्रदेश मे एक राजकीय विश्वविद्यालय अनुदान समिति (State University Grant's Committee) भी है जिसमे राज्यपाल द्वारा मनोनीत शिक्षा मर्मज्ञ होते हैं। यह समिति विश्वविद्यालयो तथा उनसे सम्बन्धित कालिजों को अनुदान देती है।

प्राथमिक शिक्षा का प्रशासन

प्रदेश मे प्राथमिक शिक्षा के प्रशासन का भार स्थानीय निकायों पर है। प्रदेश मे दो प्रकार की स्थानीय सस्थाएँ हैं। प्रथम, अन्तरिम जिला परिषद तथा द्वितीय, नगरपालिकाएँ एव नगर निगम। जिला परिषदों मे शिक्षा प्रशासन के क्षेत्र मे

ता। हमारे प्रदेश ने इस क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति की है। इस समय राज्य में आगरा, लाहाबाद, लखनऊ, बनारस, अलीगढ़, रुड़की, पन्तनगर, गोरखपुर, संस्कृत विश्व-विद्यालय वाराणसी आदि विश्वविद्यालय हैं। जुलाई १९६५ में सम्भवत मेरठ तथा कानपुर में भी विश्वविद्यालय स्थापित हो जायेंगे। रुड़की तथा पन्त नगर विश्व-विद्यालयों में केवल एक-एक विभाग है। बनारस तथा अलीगढ़ विश्वविद्यालय केन्द्र द्वारा सचालित किये जाते हैं। इलाहाबाद विश्वविद्यालय राज्य का सबसे प्राचीन विश्वविद्यालय है। इन विश्वविद्यालयों की आय के मुख्य स्रोत सरकारी अनुदान-केन्द्र तथा राज्य सरकारो द्वारा दिया जाने वाला सहायता अनुदान है। राज्य सरकार विश्वविद्यालय अनुदान-समिति की सिफारिश पर अनुदान देती है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग केवल तब अनुदान देता है जब राज्य-सरकार वैसी ही सहायता-अनुदान देता है। इन अनुमानों के अतिरिक्त विश्वविद्यालयों के आय के साधन स्थानीय संस्थाओं के फण्ड, फीस, वृत्तिदान आदि हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित सरकारी डिग्री कालेजों का प्रबन्ध प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा विभाग द्वारा किया जाता है। इन कालेजों पर राज्य बहुत बड़ी धनराशि व्यय करता है। १९६०-६१ के शिक्षा-बजट में विश्वविद्यालयों को ४४,६२,२०० रुपये निर्धारित किये गये जबकि सरकारी कालिजों जिनकी संख्या बहुत थोड़ी है को १०,३२,२०० रुपये की धनराशि निर्धारित की गई।

मध्य प्रदेश

इस राज्य का निर्माण नवम्बर १९५६ में हुआ था। इसमें मध्य भारत, विन्ध्य प्रदेश, भोपाल तथा महाकौशल नामक चार क्षेत्र (Regions) हैं। इस राज्य का क्षेत्रफल १,७१,२१७ वर्गमील है। १९६१ की जनगणना के अनुसार इसकी आबादी ३, २३, ७२, ४०८ थी।[1] क्षेत्रफल में यह राज्य भारत का सबसे बड़ा राज्य है। इसकी सम्पूर्ण जनसंख्या २०२ कस्बों तथा ८२,१७८ ग्रामों में निवास कर रही है। इस राज्य में कुल ४३ जिले तथा १९० तहसील हैं।[2]

शिक्षा का प्रशासकीय ढाँचा

प्रदेश के शिक्षा-विभाग का प्रमुख अधिकारी शिक्षा-मन्त्री है। शिक्षा-मन्त्री के अधीन शिक्षा-सचिव है। डायरेक्टर ऑफ पब्लिक इन्सट्रक्शन (Director of Public Instruction) शिक्षा-मन्त्री तथा शिक्षा-सचिव के निर्देशन में कार्य करता है। इसके द्वारा सरकार की पूर्व-प्राथमिक, प्राथमिक, माध्यमिक, प्राविधिक तथा शिक्षक-शिक्षा सम्बन्धी सभी नीतियों को कार्यान्वित किया जाता है। १९६० तक शिक्षा-सचिव ही वरिष्ठ शिक्षा के लिये प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी था। सम्पूर्ण राज्य को

---

[1] India, 1964 p. 364.

[2] First year book of Education, 1947-61 p. 361.

शिक्षा-प्रशासन की दृष्टि से ९ डिवीजनों में विभक्त कर दिया है। प्रत्येक डिवीजन में ३ या ४ जिले हैं। एक जिले मे एक जिला-विद्यालय निरीक्षक होता है और उसकी सहायता के लिये आवश्यकतानुसार सहायक विद्यालय निरीक्षक होते हैं। प्रत्येक डिवीजन एक अधिकारी के अधीन है जो कि राज्य की शिक्षा सेवा का प्रथम श्रेणी का अधिकारी होता है। इसको डिवीजनल अधिकारी (Divisional officer) के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रशासकीय ढाँचे को नीचे रेखाचित्र द्वारा प्रदर्शित किया गया है—
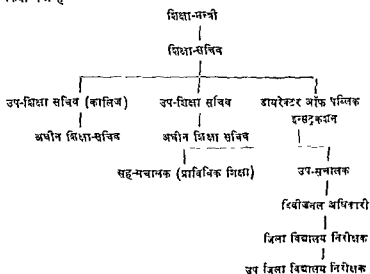
शिक्षा-निदेशालय मे इन अधिकारियो के अतिरिक्त पाठ्य-पुस्तक अधिकारी बेसिक शिक्षा, सांख्यकी तथा विज्ञान के क्षेत्र मे परामर्श देने वाला अधिकारी विभागीय परीक्षाओ का रजिस्ट्रार आदि हैं।

शिक्षा की प्रगति

यहाँ हम इस राज्य के विभिन्न पक्षों की शिक्षा की प्रगति एव उसके प्रशासन के विषय में पृथक-पृथक रूप से विचार करेंगे।

प्राथमिक शिक्षा—१९५५-५६ मे इस राज्य में २०,९८३ प्राथमिक विद्यालय थे जिनमें १३,५६,४८६ छात्र थे। इस नवनिर्मित राज्य ने [illegible] बार प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में पर्याप्त रूप से प्रगति की है। [illegible] वर्ष अन्त तक राज्य में ३१,००० प्राथमिक स्कूल हो गए थे। तृतीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत १० लाख [illegible]

करने की व्यवस्था का लक्ष्य निर्धारित किया गया। यदि यह लक्ष्य प्राप्त कर लिया गया तो राज्य के इस वर्ग के समस्त छात्रों के ६४ प्रतिशत छात्र स्कूलों मे होगे जिनमे ८३ प्रतिशत लड़के तथा ४४ प्रतिशत लडकियाँ होगी।

राज्य के तीन क्षेत्रो—मध्य भारत, विन्ध्य प्रदेश तथा भोपाल मे प्राथमिक शिक्षा का प्रशासन स्वय सरकार द्वारा किया जाता है। महाकौशल क्षेत्र मे प्राथमिक स्कूलो का सचालन स्थानीय निकायों द्वारा किया जाता है अर्थात् ग्रामीण क्षेत्रों मे इनका सचालन 'जन-पदो' (Janpads) के द्वारा और शहरी क्षेत्रों मे नगरपालिकाओ एवं नगर निगमो द्वारा किया जाता है।

माध्यमिक शिक्षा—१९५५-५६ मे १४३० मिडिल स्कूल थे जिनमे २,१३,३१२ छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे। द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्त मे इनकी संख्या २५०० हो गई जिनमे ३.२७ लाख छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे। तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ८५० और मिडिल खोलने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। १९५५-५६ में कुल ३५३ हायर सेकन्डरी स्कूल थे जिनमे ५०,३६० छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे। १९६०-६१ में ७८,००० छात्र माध्यमिक स्कूलो में शिक्षा प्राप्त करने लगे थे। १९६५-६६ मे इस स्तर पर १,१०,००० छात्रों को शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। इसके अतिरिक्त २१ स्कूलो को बहुउद्देशीय स्कूलो मे परिवर्तित करने का विचार किया गया है। राज्य मे माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षको के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की गई है। राज्य मे १० पोस्ट ग्रेजुएट बेसिक प्रशिक्षण विद्यालय हैं जिनके द्वारा वर्ष मे १२०० शिक्षक बी० एड० कोर्स तथा ७० शिक्षक एम० एड० कोर्स के लिये तैयार किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त इनमें से ५ विद्यालयो मे प्रसार सेवा विभाग खोल दिये गये हैं। इन विभागो ने विभिन्न वर्कशॉप तथा सैकड़ों शिक्षको के लिये लघु अवधि प्रशिक्षण पाठ्य-क्रमो का आयोजन किया है।

राज्य मे माध्यमिक स्कूलो का सचालन सरकार तथा निजी सस्थाओ के द्वारा किया जा रहा है। परन्तु अब सरकार की यह नीति है कि माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र मे निजी सस्थाओ का अधिकाधिक हाथ हो। इसके लिये वह उदार अनुदान प्रदान कर रही है। जब इस राज्य का निर्माण हुआ था। उस समय तीन माध्यमिक शिक्षा परिषदें (Boards of Secondary Education) कार्य कर रही थी। २० अप्रेल १९५९ के माध्यमिक शिक्षा एक्ट ने इन तीनों को मिलाकर एक कर दिया जिसका कार्यालय भोपाल मे स्थापित किया गया। इस नवीन माध्यमिक शिक्षा परिषद का संगठन इस प्रकार है :—

१. परिषद का अध्यक्ष चेयरमैन सार्वजनिक शिक्षा-सचालक (D. P. I.) होता है।
२. माध्यमिक शिक्षा से सम्बन्धित विभिन्न हितों के ४६ सदस्य।

इस परिषद के दो अधीन कार्यालय जबलपुर तथा ग्वालियर में हैं; इनकी व्यवस्था इन स्थानों पर तभी तक है जब तक भोपाल में इनके लिए स्थान एवं व्यवस्था न की जा सके।

(३) विश्वविद्यालय शिक्षा—जब भारत स्वतन्त्र हुआ था तब इस केवल एक विश्वविद्यालय था जो सागर में स्थित था। इसका क्षेत्र महाकोशल था परन्तु अब इसके क्षेत्र को विन्ध्य प्रदेश के क्षेत्र तक बढ़ा दिया गया है। अतिरिक्त राज्य में जबलपुर, खैरागढ़ और उज्जैन में भी विश्वविद्यालय स्थापित गये। जबलपुर विश्वविद्यालय में १९६०-६१ में ६ शिक्षण विभाग तथा ११ कालिज थे। इन्द्र कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ में एक शिक्षण-विभाग ७ सम्बद्ध कालिज हैं। १९६०-६१ में विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन में १० विभाग तथा ४६ सम्बद्ध कालिज थे। इस विश्वविद्यालय के क्षेत्राधिकार में भारत तथा भोपाल प्रदेश है। रायपुर, ग्वालियर, इन्दौर तथा रीवा में विश्ववि स्थापित करने की मांग की गई। इस समय रायपुर, ग्वालियर तथा इ विश्वविद्यालय कार्य करने लगे हैं।

राजस्थान

राजस्थान भारत के बड़े राज्यों में से एक है। इसका क्षेत्रफल १,३ वर्गमील है। १९६१ की जनगणना के अनुसार इसकी जनसंख्या २,०१,५ थी।' कुल जनसंख्या का ८० प्रतिशत भाग ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करता है।

शिक्षा का प्रशासकीय ढांचा

इस राज्य में शिक्षा के क्षेत्र में यथोलिखित प्रशासकीय साधन क रहे हैं :—

१. शिक्षा मंत्रालय
२. माध्यमिक शिक्षा परिषद
३. शिक्षा विभाग, तथा
४. पंचायत समितियां।

शिक्षा-मंत्रालय—इसका प्रधान शिक्षा-मंत्री होता है। यह शिक्षा-कार्य [illegible] विभाग की सहायता से स्कूलों तथा कालेजों का नियन्त्रण करता है। [illegible] माध्यमिक शिक्षा मण्डल का चेयरमैन होता है।

[illegible] शिक्षा परिषद—१९५७ के राजस्थान माध्यमिक शिक्षा अधि[illegible] की स्थापना की गई। इसके सदस्यों की संख्या [illegible] [illegible] के होते हैं :—

(अ) अपदेन सदस्य—इनमे शिक्षा-संचालक, प्राविधिक शिक्षा-संचालक राज्य के वाणिज्य तथा उद्योग विभाग का अध्यक्ष तथा राजस्थान की N. C. C बटालियन का सर्किल कमाण्डर हैं।

(ब) ६ निर्वाचित सदस्य—जिनमे से ५ राजस्थान विश्वविद्यालय की सीनेट के द्वारा निर्वाचित किये जाते है और एक शिक्षक-संघ की कार्यकारिणी के द्वारा निर्वाचित किया जाता है।

(स) राज्य सरकार द्वारा मनोनीत १३ सदस्य।

(द) दो प्रतिष्ठित शिक्षाशास्त्री जो कि सहवृत सदस्य होते हैं।

इस परिषद का माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र मे एकेडमिक नियन्त्रण रहता है। इसके द्वारा हाईस्कूल तथा हायर सेकन्डरी स्कूल परीक्षाएं ली जाती हैं। इसके साथ ही वह इन परीक्षाओ का पाठ्य-क्रम भी निर्धारित करता है।

शिक्षा-विभाग—शिक्षा-विभाग मे अधोलिखित शिक्षा-संचालक हैं :—

(i) कालिज शिक्षा संचालक

(ii) प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा-संचालक

(iii) संस्कृत शिक्षा-संचालक तथा

(iv) प्राविधिक शिक्षा-संचालक

प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा के प्रशासन के उद्देश्य से राज्य को पांच क्षेत्रो मे विभक्त कर दिया गया है। प्रत्येक क्षेत्र एक उप-शिक्षा-संचालक के अधीन है। उसके नियन्त्रण में प्राथमिक, मिडिल, हाई स्कूल, हायर सेकेण्डरी स्कूल तथा विशेष स्कूल रहते हैं। प्रत्येक क्षेत्र को प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से तीन जिलों मे विभक्त कर दिया गया है। प्रत्येक जिला एक विद्यालय-निरीक्षक के अधीन है। उसकी सहायता के लिये प्रत्येक जिले में उप-जिला विद्यालय निरीक्षक तथा सहायक विद्यालय निरीक्षक होते है। शिक्षा-विभाग के ढांचे को रेखाचित्र द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।
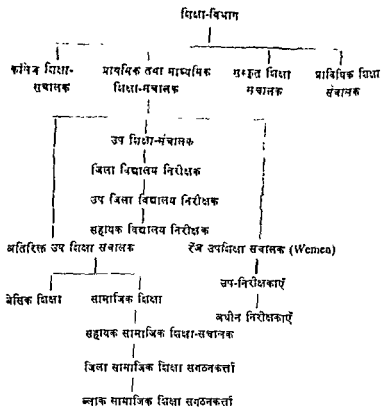
पंचायत समितियाँ—इन समितियों का निर्माण १९५१ के पंचायत समिति तथा जिला पंचायत एक्ट के अनुसार हुआ। बलवन्तराय मेहता समिति के सुझावों को राजस्थान राज्य ने ही सर्वप्रथम क्रियान्वित किया। इसके अनुसार प्रत्येक ब्लाक में पंचायत समिति का निर्माण किया गया जिसमें उस ब्लाक की ग्राम पंचायतों के सरपंच होते है। प्राथमिक शिक्षा का सम्पूर्ण नियन्त्रण इन समितियों को सौंप दिया गया है। प्राथमिक स्कूलों के अधीन निरीक्षक (Sub-Inspectors of Primary School) इन समितियों के अपदेन सदस्य बना दिये गये हैं। इन अधिकारियों की सेवाओं को इन पंचायत समितियों के अधिकार में रख दिया गया। परन्तु शिक्षा-विभाग ने इन स्कूलों का पाठ्य-क्रम, पाठ्य-पुस्तक आदि निर्धारित करने का कार्य अपने हाथ में रखा है।

शिक्षा की प्रगति

प्राथमिक शिक्षा—जिस समय इस राज्य को एकीकृत किया गया था उस समय इसमें कुल ३१६५ प्राथमिक स्कूल थे। इनमें से ३३१ लडकियों के लिये थे। लेकिन १९६०-६१ में १४ ६८२ स्कूल हो गये जिनमें ५७३ स्कूल लडकियों के लिये थे। तृतीय पचवर्षीय योजना में ४,१६५ नवीन प्राथमिक स्कूल खोलने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। इसके अतिरिक्त यह भी निर्धारित किया कि तृतीय पचवर्षीय योजना के अन्त तक लगभग ७० प्रतिशत बालक स्कूलों में जाने लगेंगे।

माध्यमिक शिक्षा—राज्य के एकीकरण के समय कुल १५३ हाई स्कूल तथा ५६६ मिडिल स्कूल थे जिनमें ७ हाई स्कूल और ६६ मिडिल स्कूल लडकियों के लिये थे। राज्य ने इस क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति की है। १९६०-६१ में ५२५ हाई स्कूल तथा हायर सेकण्डरी स्कूल हो गये, जिनमें से ६७ लडकियों के लिये थे। इनमें ६२ बहुउद्देशीय स्कूल थे।[1]

विश्वविद्यालय शिक्षा—१९४७ में राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर की स्थापना हुई। १९६०-६१ तक राज्य में केवल यही विश्वविद्यालय था। और ६१ में इससे ५८ कालिज सम्बद्ध थे जिनमें ७ इन्टर कालिज भी थे। इस विश्व-विद्यालय के १६ कालिजो में तीन वर्ष का डिग्री कोर्स भी चालू हो गया है। १९६२ में राजस्थान में दो और विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई—जोधपुर विश्वविद्यालय जोधपुर तथा राजस्थान एग्रीकल्चर विश्वविद्यालय उदयपुर। अब इस विश्वविद्यालय को उदयपुर विश्वविद्यालय, के नाम से पुकारा जाने लगा है। वनस्थली विद्यापीठ तथा पिलानी इन्स्टीट्यूट को विश्वविद्यालय का स्तर प्रदान करने की योजना बनाई जा रही है।

Questions

1. Write short notes on the administrative set up of education in (a) U. P. (b) Madhya Pradesh, and (c) Rajasthan
2. How far the administrative set-up of education in Rajasthan is responsible for the rapid educational progress in the State ?

1. First year book of Education 1947-61, p 592.

७

विद्यालय संगठन के उद्देश्य एवं सिद्धान्त ✓

(Aims and Principles of School Organization)

"*Education must function through a definite organization or structure of plans, procedures, presonal material, plant and finance. The level of operation is at all times dependent upon the quality, technical skill, and idealism of personnel who, through their attitude and daily effort, breathe life into the mechanics of structure.*" —Arthur B. Moehlman

जब मनुष्य किसी उद्देश्य से कोई कार्य करता है तब उसे संगठन करने की आवश्यकता होती है। मनुष्य ऐसा इस कारण करता है जिससे वह उस कार्य को पूरा करने के लिये किये जाने वाले प्रयासों को जान सके, कार्य को सुधार सके या कार्य द्वारा होने वाले उत्पादन में वृद्धि कर सके। शिक्षा स्वयं एक सोद्देश्य क्रिया है। इसको प्राप्त करने या प्रदान करने के लिये भी संगठन की आवश्यकता है। संगठन की आवश्यकता इसलिये भी है कि शिक्षा रूपी प्रक्रिया कुशलता एवं सफलतापूर्वक अग्रसर हो सके। किसी कार्य के कुशल संचालन के लिये संगठन का होना परमावश्यक है।

<u>विद्यालय-संगठन का अर्थ</u> (Meaning of School organization) 'विद्यालय-संगठन' अंग्रेजी शब्द 'School organization' का हिन्दी रूपान्तर है। इसका अर्थ समझने के लिये हमें इन दोनों शब्दों का पृथक-पृथक अर्थ समझना होगा :—

आधुनिक युग में 'विद्यालय' शिक्षा का महत्वपूर्ण साधन है इसके अभाव में उचित शिक्षा प्रदान करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि आज का समाज अत्यधिक जटिल हो गया है। प्राचीन काल में बालक परिवार में ही समस्त रीति-रिवाजों, विश्वासों, सांस्कृतिक ढांचे आदि को ग्रहण कर लेता था। आज वैज्ञानिक तथा तकनीकी विकास ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। परिणाम-स्वरूप प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन हुए हैं और हो रहे हैं। इन परिवर्तनों के कारण हमारी सामाजिक विरासत व्यापक हो गई। इस व्यापक विरासत के ज्ञान, कुशलताओं, विश्वासों, परम्पराओं, ढांचों आदि को शिक्षा के अनौपचारिक साधनों के द्वारा प्रदान करना कठिन हो गया है। इसलिये यह आवश्यक समझा जाने लगा है कि शिक्षा विशेष-व्यक्तियों द्वारा तथा विशिष्ट स्थानों पर, विशिष्ट विधियों एवं रीतियों के अनुसार प्रदान की जाय। इस प्रकार विद्यालय रूपी साधन की स्थापना की आवश्यकता का अनुभव किया गया जिसमें बालक कुशल व्यक्तियों द्वारा सुव्यवस्थित वातावरण में अपने समय का सदुपयोग करके उचित शिक्षा प्राप्त कर सके।

विद्यालय वे संस्थाएं हैं जिनके द्वारा समाज अपने बालकों को विधिवत् औपचारिक शिक्षा प्रदान करता है। समाज अपनी प्रचलित आवश्यकताओं, आदर्शों आदि की पूर्ति के हेतु विद्यालयों की स्थापना करता है। विद्यालय द्वारा सामाजिक विरासत को आने वाली सन्तति को प्रदान किया जाता है। इस प्रकार विद्यालय एक सामाजिक संस्था है जिसका निर्माण समाज के आदर्शों एवं हितों की पूर्ति के लिये किया जाता है।

विद्वानों का मत है कि विद्यालय समाज का लघु रूप है जिसमें वर्तमान समाज की क्रियाओं, विचारधाराओं, आवश्यकताओं, संस्कृति आदि को छोटे पैमाने पर प्रतिबिम्बित होता है। परन्तु उसमें इनका शुद्ध रूप ही प्रतिबिम्बित होना चाहिये। इस प्रकार विद्यालय समाज का केन्द्र बिन्दु है जिस पर समाज की अमिट छाप पड़ती है। अतः जैसा समाज होगा वैसा ही विद्यालय होगा। परन्तु प्रगतिशील विचारकों का मत है कि विद्यालय को सनातन कार्य (Conservative Functions) ही नहीं करने हैं बल्कि प्रगतिशील कार्य भी करने हैं। विद्यालय को सामाजिक विरासत को आने वाली सन्तति को प्रदान करके सुरक्षित ही नहीं रखना है वरन् उसको (सन्तति) इस योग्य भी बनाना है जिससे वह अपनी योग्यतानुसार सामाजिक विरासत की वृद्धि कर सके अर्थात् उसके लिये अपना कुछ योगदान दे सके। इसके अतिरिक्त विद्यालय को समाज के दोषों की आलोचना करके बालकों को प्रगति के पथ पर अग्रसर होने के लिये भी तैयार करना है। परन्तु यह आलोचना रचनात्मक एवं निष्पक्ष होनी चाहिये। इसके साथ ही समाज की आलोचना प्रत्यक्ष रूप से न करके अप्रत्यक्ष रूप से की जानी चाहिये।

विद्यालय का संगठनात्मक पक्ष मुख्यतः उन व्यवस्थाओं से सम्बन्धित है जो निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायता देते हैं। विद्यालय संगठन में भौतिक

एवं मानवीय तत्वों को साध्य की प्राप्ति के हेतु सुव्यवस्थित किया जाता है। परन्तु इन तत्वों का पृथक-पृथक स्थान रखना ही संगठन नहीं है वरन् इनमें सामंजस्य या समन्वय स्थापित करना ही वास्तविक संगठन है। विल फ्रेन्च (Will French), जे० डी० हल (J. D. Hull) आदि ने लिखा है—"यदि एक शब्द में यह पूछा जाय कि संगठन का क्या अर्थ है तो यह कहा जा सकता है कि इसका अर्थ 'समन्वय' (Coordination) है।"

एच० जे० ऑटो का मत है—"सिद्धान्तत विद्यालय का संगठन शिक्षा-सिद्धान्त की प्रशासकीय अभिव्यक्ति है। यह वह ढाँचा है जिसमें शिक्षक, छात्र, निरीक्षक तथा अन्य व्यक्ति स्कूल की क्रियाओं को चलाने के लिए कार्य करते हैं।"[1] आर० बी० मोहलमैन का कथन है—"संगठन प्रमाणिकता नहीं रखता है। इसलिये इसको एक साधन के रूप में ग्रहण करना चाहिए जिसमें अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति हो सके।"[2] एच० जी० स्टेड (H G Stead) का मत है कि संगठन वह यन्त्र है जिसके द्वारा लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है। इसको स्वयं में साध्य बनने की अनुमति न दी जानी चाहिए वरन् इसको सदैव उस लक्ष्य के अधीन रखा जाना चाहिए जिसकी प्राप्ति के लिए संगठन किया जा रहा है।

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि संगठन एक ढाँचा, कार्य की रूपरेखा या व्यवस्था है जिसको हमें एक साधन के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए क्योंकि संगठन स्वयं में एक साध्य नहीं है वरन् साध्य की प्राप्ति के हेतु इसके ढाँचे का निर्माण किया जाता है।

संगठन प्राचीन व्यवस्था के स्थान पर नवीन व्यवस्था स्थापित करने की प्रक्रिया भी हो सकती है। जब हम प्राचीन व्यवस्था के स्थान पर नवीन व्यवस्था स्थापित करते हैं तब यह प्रक्रिया पुनर्संगठन कहलाती है। जब हम मौलिक रूप से संगठन करते हैं, तब इसको पुनर्संगठन नहीं कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ-यदि आपको किसी स्थानीय क्षेत्र में एक विद्यालय की स्थापना करनी है तो इसके लिए आप स्थान, वातावरण, पानी की व्यवस्था, भवन का रूप, फर्नीचर, साज-सज्जा शिक्षक, कर्मचारी आदि की व्यवस्था करेंगे। इस प्रकार की व्यवस्था को संगठन कहा

---

1. "Theoretically the organization of a school is the administrative expression of educational theory. Organization may be viewed as the structure or the framework within which teachers, pupils, supervisors and others operate to carry on the activities of the school." —*H J. Otto*, "Elementary school organization and Administration' p. 127.

2. "Organization has no validity perse, but should simply be a means through which a given objective is attained." Arthur B. Moehlman, 'School Administration' p. 59.

जायगा। परन्तु जब आप किसी स्थापित विद्यालय मे अभीष्ट साध्य की प्राप्ति के हेतु प्रचलित व्यवस्थाओ के स्थान पर नवीन व्यवस्थाओ का आयोजन करते हैं, तब यह पुनर्संगठन कहलायेगा।

बहुधा लोग संगठन तथा प्रशासन का एक ही अर्थ लगाते हैं। वस्तुत. ऐसा नही है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके है संगठन एक ढाँचा है जिसमे समन्वय का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। प्रशासन प्रबन्ध करने की प्रक्रिया है। विद्यालय के प्रशासकीय पक्ष में व्यवहार (Conduct), परिचालन (Operation) तथा सुव्यवस्था (Management) निहित है। इसके अन्तर्गत पुनर्संगठन करने के लिए संकल्प का होना भी आवश्यक है क्योकि यदि स्थापित संगठन के द्वारा इच्छित ध्येय की प्राप्ति नही हो पा रही है तो प्रशासक को उसकी प्राप्ति के लिए पुनर्संगठन करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त उत्तम संगठन अभीष्ट उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए सम्भावना ही उत्पन्न करता है। परन्तु प्रशासन द्वारा उनकी प्राप्ति के लिए क्रमिक रूप से प्रयत्न किया जाता है। जैसी आवश्यकता होती है उसी के अनुसार प्रशासन के संगठन मे परिवर्तन करके उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्य किया जाता है। इसी कारण यह कहा जाता है कि विद्यालय के अध्यक्ष को एक उत्तम संगठनकर्ता होने के साथ-साथ उत्तम प्रशासक भी होना चाहिए क्योकि हो प्रशासन के परिणामस्वरूप उत्तम प्रकार का संगठन भी असफल हो जाता है।

परन्तु संगठन एव प्रशासन एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं, इसी कारण सामान्य मनुष्य इन दोनो मे अन्तर नही कर पाते हैं। इन दोनो के अन्तर को अनिवार्य रूप से समझना चाहिए। जब हम किसी व्यक्ति को विद्यालय-प्रशासक के नाम से पुकारते हैं, तब इसका अर्थ यह नहीं है कि वह उत्तम संगठन के लिए उत्तरदायी नहीं है। वस्तुत वह दोनो—संगठनात्मक एव प्रशासकीय पक्षो के लिए उत्तरदायी है। संगठन एक ढाँचा या योजना है जिसको निर्मित करना प्रशासन का महत्वपूर्ण कार्य है। इस प्रकार प्रशासक कार्य मे दोनो पक्ष साथ-साथ चलते हैं। ग्यूलिक (Gulick) ने प्रशासको के कार्य का अध्ययन करके यह सिद्ध किया कि उनके कार्यो मे संगठन एव प्रशासन सम्बन्धी सभी कार्य निहित हैं। उसने एक प्रशासक के कार्यो मे नियोजन (Planning), संगठन (Organization), शिक्षक तथा अन्य कर्मचारियो की नियुक्ति एव उनके कार्यो की व्यवस्था करना (Staffing), सचालन करना (Direction), समन्वय करना (Co-ordinating), रिपोर्ट तैयार करना (Reporting) तथा बजट बनाना (Budgeting) आदि को रखा है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संगठन एवं प्रशासन दोनो अन्योन्याश्रित है।

विद्यालय संगठन के उद्देश्य

रायबर्न का मत है कि विद्याल[illegible] . . . बालक को अपने स्वभाव के समस्त तत्वो एव [illegible] करने मे सहायता देना, उसको

पनी समस्त मूल प्रवृतियों का उपयोग एव शोधन करने के लिये अवसर प्रदान करना, से अपनी रुचियो को स्वतन्त्र रूप से व्यक्त करने की सुविधा देना, होना चाहिए था एक ऐसा आदर्श उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिये जो उसके जीवन मे नयन्त्रणकर्ता का कार्य कर सके उसकी मूल-प्रवृतियो एव शक्तियो मे सामजस्य स्थापित करना चाहिये जिससे वह उनको उस आदर्श का पालन करने मे लगा सके। विद्यालय का उद्देश्य अपने छात्रों मे *एक ऐसे आत्म का विकास करना है जो पूर्णत* विकसित हो तथा जिसमे सामजस्य भी हो। इसके साथ ही वह अपनी रुचियो को बनाये रखने के साथ-साथ दूसरो के सहयोग से स्वय को अभिव्यक्त करने की क्षमता रखता हो।"

पी० रेन के शब्दो मे विद्यालय सगठन के उद्देश्य सक्षेप मे अधोलिखित है —

छात्र को लाभान्वित करने के लिये विद्यालय का सगठन करना,
उसकी शक्तियों को प्रशिक्षित करना,
उसके दृष्टिकोण को विस्तृत बनाना,
उसके मस्तिष्क को विकसित करना,
उसके चरित्र का निर्माण करना तथा उसे दृढ़ बनाना,
उसकी सौन्दर्यानुभूति करने की शक्ति का विकास करना,
उसके शरीर का निर्माण करना तथा उसको स्वास्थ्य एव शक्ति प्रदान करना,
उसको स्वय अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करने के लिये तत्पर बनाना,

सक्षेप मे, छात्र को एक ईमानदार, योग्य तथा स्वस्थ मनुष्य बनाने के लिये विद्यालय का सगठन करना चाहिये, न कि उसे हाईस्कूल परीक्षा के लिये तैयार करने के हेतु।[1]

दोनो विद्वानो के विचारो को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि विद्यालय का सगठन बालक को केन्द्र बनाकर किया जाना चाहिए। दोनो ने बालक के सर्वाङ्गीण विकास पर बल दिया है। परन्तु बालक के विकास के साथ-साथ समाज की प्रगति होना भी आवश्यक है। कारण यह है कि बालक का विकास शून्य मे नही हो सकता

1. 'Organize the school to benefit the scholar, to train his faculties, to widen his outlook; to cultivate his mind; to form and strengthen his character; to develop and cultivate his aesthetic faculty, to build up his body, and give him health and strength, to teach him his duty to himself, the community and the state;—in short, to make an honest, capable and healthy man of him, organize the school for this, and not to prepare him for the matriculation Examination" Percival Wren, 'Indian School Organization' p XV.

जायगा । परन्तु जब आप किसी स्थापित विद्यालय में अभीष्ट साध्य की प्राप्ति के हेतु प्रचलित व्यवस्थाओं के स्थान पर नवीन व्यवस्थाओं का आयोजन करते हैं, तब यह पुनर्संगठन कहलायेगा ।

बहुधा लोग सगठन तथा प्रशासन का एक ही अर्थ लगाते है । वस्तुत, ऐसा नहीं है । जैसा कि हम ऊपर देख चुके है सगठन एक ढाँचा है जिसमे समन्वय का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है । प्रशासन प्रबन्ध करने की प्रक्रिया है । विद्यालय के प्रशासकीय पक्ष में व्यवहार (Conduct), परिचालन (Operation) तथा सुव्यवस्था (Management) निहित है । इसके अन्तर्गत पुनर्संगठन करने के लिए सकल्प का होना भी आवश्यक है क्योंकि यदि स्थापित सगठन के द्वारा इच्छित ध्येय की प्राप्ति नहीं हो पा रही है तो प्रशासक को उसकी प्राप्ति के लिए पुनर्संगठन करना आवश्यक है । इसके अतिरिक्त उत्तम सगठन अभीष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सम्भावना ही उत्पन्न करता है । परन्तु प्रशासन द्वारा उनकी प्राप्ति के लिए क्रमिक रूप मे प्रयत्न किया जाता है । जैसी आवश्यकता होती है उसी के अनुसार प्रशासन के सगठन मे परिवर्तन करके उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्य किया जाता है । इसी कारण यह कहा जाता है कि विद्यालय के अध्यक्ष को एक उत्तम सगठनकर्त्ता होने के साथ-साथ उत्तम प्रशासक भी होना चाहिए क्योंकि हो प्रशासन के परिणामस्वरूप उत्तम प्रकार का सगठन भी असफल हो जाता है ।

परन्तु सगठन एव प्रशासन एक दूसरे म घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं, इसी कारण सामान्य मनुष्य इन दोनो मे अन्तर नही कर पाते हैं । इन दोनो के अन्तर को अनिवार्य रूप से समझना चाहिए । जब हम किसी व्यक्ति को विद्यालय-प्रशासक के नाम से पुकारते हैं, तब इसका अर्थ यह नही है कि वह उत्तम सगठन के लिए उत्तरदायी नहीं है । वस्तुत वह दोनो—सगठनात्मक एव प्रशासकीय पक्षों के लिए उत्तरदायी है । सगठन एक ढाँचा या योजना है जिसको निर्मित करना प्रशासन का महत्वपूर्ण कार्य है । इस प्रकार प्रशासक कार्य मे दोनो पक्ष साथ-साथ चलते हैं । ग्यूलिक (Gulick) ने प्रशासकों के कार्य का अध्ययन करके यह सिद्ध किया कि उनके कार्यों में सगठन एव प्रशासन सम्बन्धी सभी कार्य निहित हैं । उसने एक प्रशासक के [illegible] तथा अन्य [illegible] सुचालन [illegible] र करना (Reporting) [illegible] ने प्रकार हम कह सकते हैं कि सगठन एव प्रशासन दोनो अन्योन्याश्रित है ।

विद्यालय सगठन के उद्देश्य

रायबर्न का मत है कि विद्यालय सगठन का उद्देश्य, बालक को अपने स्वभाव के समस्त तत्वों एव शक्तियों का सामञ्जस्यपूर्ण विकास करने में सहायता देना, उसको

है। उसका सर्वाङ्गीण विकास समाज के माध्यम से ही सम्भव है। इसलिये विद्या का संगठन इस प्रकार किया जाना चाहिये जिससे विद्यालय सामुदायिक जीवन केन्द्र बन सके और विद्यालय अधिकाधिक रूप से समाज के निकट आ सके। के० जी० सईदैन के उन शब्दों का उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा जो कि उन् बम्बई राज्य के प्रधानाध्यापकों के वार्षिक अधिवेशन में कहे थे, "आप लोगों को अ विद्यालयों को स्वतन्त्र तथा सहयोगी समुदायों का रूप देना चाहिये, जहाँ नवयुवकों के व्यक्तित्व का दमन नहीं किया जायगा वरन् उन्हें स्वतन्त्रता प्रदान जायगी और जहाँ पर वे मित्रता के अनुभव द्वारा इस बात को सीखेंगे कि व्यक्ति का विकास एकान्त में या दूसरों का शोषण करके नहीं होता है बल्कि उपयुक्त साध के लिये सेवा एवं सहयोग द्वारा होता है।"[1]

उपरोक्त के अतिरिक्त कुछ ऐसे तथ्य भी हैं जिन पर ध्यान रखना आवश् है। उदाहरणार्थ-भारत ने लोकतन्त्रीय ढंग को अपनाया है। इसलिये यह आवश्य हो गया है कि हमारे विद्यालयों का संगठन लोकतन्त्रीय आधार पर किया जाय। कारण भारत में विद्यालय संगठन का उद्देश्य यह भी होना चाहिए कि इसके द्वा बालकों में कर्तव्य-पालन की भावना उत्पन्न की जा सके क्योंकि भारतीय लोकत की सफलता उसके नागरिकों की कर्तव्य-परायणता पर ही निर्भर है।

भारतीय संविधान के अनुसार प्रत्येक नागरिक को समानता, स्वतन्त्रता आ अधिकार प्रदान किये गये हैं। विद्यालय ही वह साधन है जिसके द्वारा बालकों में इ अधिकारों का उचित उपभोग करने की क्षमता उत्पन्न की जा सकती है। इस क्षमत को उत्पन्न करने के लिये समानता एवं स्वतन्त्रता के आधार पर विद्यालय का संगठ करना होगा। इस प्रकार विद्यालय संगठन का यह भी उद्देश्य हो जाता है कि व बालकों में समानता एवं स्वतन्त्रता की भावना विकसित करे जिससे वे ऊँच-नीच की भावनाओं तथा समाज में प्रचलित प्रान्तीयता, धर्मान्धता, जातीयता जैसे दोषों को दूर कर सकें।

अन्त में हम कह सकते हैं कि विद्यालय संगठन का उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व के विकास के साथ-साथ समाज को प्रगतिशील बनाने तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय हित के लिये त्याग एवं बलिदान करने की भावना का विकास करना भी होना चाहिये।

---

1. "You may be able to transform your schools into free cooperative communities of youths where their individuality will not be repressed but released and where they will learn through experience of fellowship that individuality achieves its perfection not in isolation or exploitation of others but in service and cooperation for worthy ends." —*K. G. Saiyidain.*

विद्यालय प्रशासन एवं संगठन

(School Administration & Organisation)

[आगरा एवं अन्य विश्वविद्यालयों के नवीन पाठ्य-क्रमानुसार]

लेखिका
श्रीमती एस० पी० सुखिया
एम. ए., टी. डिप. (लंदन)
प्रिंसिपल, वोमेन्स ट्रेनिंग कॉलेज
दयालबाग (आगरा)

विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

विद्यालय प्रशासन एवं संगठन

(School Administration & Organisation)

[आगरा एवं अन्य विश्वविद्यालयों के नवीन पाठ्य-क्रमानुसार]

लेखिका

श्रीमती एस० पी० सुखिया

एम० ए०, टी. डिप. (लंदन)

प्रिंसिपल, वीमेन्स ट्रेनिंग कॉलेज

दयालबाग (आगरा)

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रकाशक :
विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड आगरा।

प्रथम संस्करण १९६६

मूल्य : ६.००

मुद्रक :
कैलाश प्रिन्टिङ्ग प्रेस
डा० रांगेय राघव मार्ग, आगरा

विद्यालय : संगठन एवं संचालन

विद्यालय : संगठन एवं संचालन

विद्यालय : संगठन एवं संचालन

[प्रशिक्षण विद्यालयों के नवीन पाठ्यक्रमानुसार]

(द्वितीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण)

लेखक

श्री वंशीधर सिंह, एम० ए० (हिन्दी तथा इतिहास), बी० टी०,
एकेडेमिक डिप्लोमा इन एजूकेशन (लन्दन)
अध्यक्ष—बलवन्त राजपूत प्रशिक्षण-महाविद्यालय, आगरा

श्री भूदेव शास्त्री, सिद्धान्त-शिरोमणि
एम० ए० (हिन्दी तथा संस्कृत), एल० टी०
प्राध्यापक—केन्द्रीय हिन्दी-संस्थान, आगरा

विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

दो शब्द

हम जानते है कि इस विषय पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, तथापि हम यह पुस्तक पाठको की सेवा मे अर्पित कर रहे हैं। यह कैसी बन पड़ी है, यह कहना हमारा काम नही है। इसका निर्णय तो पाठक स्वय कर सकेंगे। हम इतना अवश्य कहना चाहते हैं कि हम इस पुस्तक मे 'विद्यालय' को राष्ट्र-निर्माण का साधना-स्थल मानकर चले हैं और हमने कई समस्याओ पर शुद्ध भारतीय दृष्टि से विचार किया है। प्रत्येक बात मे विदेशो की नकल को हम वाछनीय नही मानते। हमारा विश्वास है कि यह पुस्तक पाठको को स्नातक स्तर के प्रशिक्षण-महाविद्यालयो का पाठ्यक्रम पूरा करने मे सहायता तो देगी ही, साथ मे उन्हे कुछ विचार भी देगी। यदि हमारी यह आशा पूर्ण हुई, तो हम अपना प्रयत्न सफल समझेंगे।

२० सितम्बर, १९६०

यशोधर सिंह
भूदेव शास्त्री

दो शब्द

(द्वितीय संस्करण के विषय में)

इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण अपने पाठकों के कर-कमलो मे प्रस्तुत करते हुए हमे अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है। इस संस्करण मे पुस्तक को आगरा विश्वविद्यालय के संशोधित पाठ्यक्रम को दृष्टि मे रखते हुए कुछ परिवर्धित कर दिया गया है। इस बीच मे लेखको से कुछ नए सुझाव भी प्राप्त हुए हैं, उन्हें भी इसमे यथास्थान जोड दिया गया है। पहले की अपेक्षा विषय-वस्तु मे कमी बिलकुल नही की गई है।

आशा है कि अब यह छात्रो के लिए पहले से अधिक उपयोगी सिद्ध होगी। अन्त मे हम अपने पाठको को पुस्तक का आदर करने तथा प्रकाशको को इसे शीघ्र ही प्रकाशित कर देने के लिए धन्यवाद देते हैं।

बंशीधर सिंह
भूदेव शास्त्री

विषय-सूची

१

इस ग्रन्थ का प्रयोजन

अध्याय-संक्षेप

विद्यालय का अर्थ, अध्यापक-वर्ग के कार्य, सुव्यवस्था आवश्यक; सुव्यवस्था : अध्यापकों का उत्तरदायित्व, सुव्यवस्था का प्रशिक्षण, प्रत्येक के लिए आवश्यक क्यों ? उपसंहार।

विद्यालय का अर्थ

समाज की उगती हुई पीढ़ी को सफल जीवन बिताने के लिए आवश्यक गुणों से भूषित करने की प्रक्रिया को शिक्षण कहा जाता है। यह प्रक्रिया अपने आप में एक लम्बी प्रक्रिया है और विधि बद्ध रूप में विद्यालय में चला करती है। साधारणतया 'विद्यालय' शब्द का अर्थ "शिक्षा-संस्था" समझा जाता है परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में इस शब्द को पूर्व-प्राथमिक, प्राथमिक, निम्न माध्यमिक, उच्च माध्यमिक, उच्चतर माध्यमिक, स्नातकीय तथा अधिस्नातकीय स्तरों और समस्त विज्ञानों एवं कलाओं को अपने भीतर समेट कर चलने वाली सम्पूर्ण शिक्षणालय-व्यवस्था के प्रतीक रूप में समझना चाहिए। इस व्यवस्था के अपने उपयुक्त रूपों में से गुज़र कर ही नई पीढ़ी आवश्यक गुणों से भूषित हो पाती है। सम्पूर्ण समाज की समस्त शैक्षणिक आवश्यकताओं की पूर्ति किसी एक अथवा एक प्रकार के विद्यालय में नहीं हो सकती।

अध्यापक-वर्ग के कार्य

व्यवहारतः विद्यालय का संगठन एवं संचालन अध्यापक वर्ग को करना पड़ता है। अपने उत्तरदायित्व को पूरा करने में अध्यापक-वर्ग को दो कार्य निरन्तर करते

रहते पड़ते हैं : प्रथम, ऐसे वातावरण का निर्माण, जिसमे छात्र अपने सम्मुख प्रस्तुत वस्तुओं को रुचिपूर्वक ग्रहण करके अपने व्यक्तित्व का अभिन्न अङ्ग बना सकें और द्वितीय, छात्रों के सम्मुख उनके उपयुक्त जानकारियों एवं क्रियाओं का रोचक रूप में उपस्थापन। यदि यह दोनों कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न होते रह सकें, तो शिक्षण निश्चित रूप से छात्रों को अभीष्ट गुणों से भूषित करने मे सफल होगा।

सुव्यवस्था आवश्यक

अभीष्ट प्रकार के वातावरण का निर्माण उपयुक्त प्रकार की साधन-सम्पत्ति के संकलन तथा उसकी सुव्यवस्था से होता है। किसी संगठन म विद्यमान उस परिस्थिति को सुव्यवस्था कहा जाता है, जिसमे उसके सभी अंग एक-दूसरे के साथ सहयोगी और पूरक की वृत्ति रखकर काम करते हुए सुनिर्धारित योजना के साथ अभीष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ते चले जा रहे हो। इस परिस्थिति के निर्माण के लिए निम्नलिखित उपबन्धो की पूर्ति आवश्यक है—

१. संगठन के सभी अंग गुण, संख्या तथा परिमाण की दृष्टि से आवश्यकता के अनुरूप हो;
२. प्रत्येक अंग अपने कार्य की दृष्टि से योग्य तथा कर्त्तव्यपालन में सजग हो;
३. प्रत्येक अंग संगठन के लक्ष्य को जानता तथा हृदय से स्वीकार करता हो;
४. प्रत्येक अंग प्रत्येक अन्य अंग के अधिकारों, कर्त्तव्यों, तथा उनसे सम्बद्ध समस्याओं और उनके हलों से परिचित हो,
५. प्रत्येक मे एक-दूसरे के प्रति एकात्मता की वृत्ति हो और फलतः वे एक-दूसरे के साथ सहयोग करने तथा आवश्यकता पडने पर एक-दूसरे का स्थानापन्न अथवा पूरक बन जाने म कृतकृत्यता अनुभव करते हों,
६. प्रत्येक अंग विद्यालयीय, सामाजिक तथा व्यक्तिगत व्यवहारों मे एक-दूसरे के सुख-दुःख मे सहर्ष हाथ बँटाने का अभ्यासी हो;
७. प्रत्येक ऐसे सभी व्यवहारों से प्रयत्नपूर्वक बचता रहता हो, जिनसे अन्य किसी अंग के लिए असुविधा-जनक परिस्थिति के उत्पन्न हो जाने की सम्भावना हो;
८. संगठन का संचालन कुशलता-पूर्वक किया जा रहा हो।

विद्यालय भी एक संगठन होता है अतः उसको सुव्यवस्था युक्त रखने के लिए भी इन उपबन्धों की पूर्ति आवश्यक होती है।

सुव्यवस्था : अध्यापकों का उत्तरदायित्व

विद्यालय के अंगों का परिगणन तथा निरूपण हम अगले किसी अध्याय में करेंगे। परन्तु एक बात बिलकुल स्पष्ट है कि विद्यालय के समस्त अङ्गों मे अध्यापक-वर्ग सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। वास्तविक अर्थों मे अध्यापक-वर्ग को ही

विद्यालय कहा जाना चाहिए। विद्यालय के एकमात्र कार्य—शिक्षण के वे ही संचालक एवं व्यवस्थापक होते हैं। किसी विद्यालय में सुव्यवस्था की स्थापना तभी हो सकती है, जब उसके अध्यापक ऊपर लिखे हुए उपबन्धों को पूरा करें। यदि उसका एक भी अध्यापक उनके विषय में उदासीनता प्रदर्शित करता है, तो निश्चय ही उसकी सुव्यवस्था में छिद्र उत्पन्न हो जाता है और शिक्षण में बाधा उपस्थित होने लगती है।

सुव्यवस्था का प्रशिक्षण

इन उपबन्धों की पूर्ति कोई अध्यापक तभी कर सकता है, जब उसे कुछ जानकारियाँ प्राप्त हो जाएँ और उसे कुछ प्रकार के व्यवहारों का अभ्यास करा दिया जाए। प्रशिक्षण-महाविद्यालयों का यह कर्त्तव्य है कि राष्ट्र के भावी अध्यापकों को आवश्यक जानकारियाँ तो दे ही दें, आवश्यक प्रकार के व्यवहारों का अभ्यास भी करा दें। जानकारी देने वाली संस्थाओं की अपेक्षा इनमें दिखाई पड़ने वाली यह विशेषता ही इनके नाम के साथ जुड़े हुए 'प्रशिक्षण' इस विशेषण को सार्थक बनाती है। प्रशिक्षण-महाविद्यालयों के पाठ्यक्रम भी इसी बात को दृष्टि में रखते हुए बनाए जाते हैं। विद्यालयों में सुव्यवस्था की स्थिति बनाए रखने के लिए अध्यापक को जिन जानकारियों की प्राप्ति आवश्यक होती है, उन्हीं के प्रदान के लिए पाठ्यक्रम का "विद्यालय-व्यवस्था" शीर्षक अंग रखा जाता है।

प्रत्येक के लिये आवश्यक क्यों ?

प्रशिक्षण-महाविद्यालयों में प्रशिक्षण के लिये आने वाले बहुत से छात्राध्यापकों के मन में यह प्रश्न उठा करता है कि विद्यालय में सुव्यवस्था-स्थापन का उत्तरदायित्व प्रधानाध्यापक का होता है, अतः सभी अध्यापकों को व्यवस्था-सम्बन्धी जानकारियाँ देने की क्या उपयोगिता है ? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमने ऊपर की पंक्तियों में सुव्यवस्था के लिए आवश्यक परिस्थिति का विश्लेषण किया है। कितना ही योग्य प्रधानाध्यापक क्यों न हो, यदि उसे उसके सहयोगियों का समुचित सहयोग न मिले, तो वह कभी सुव्यवस्था स्थापित करने में समर्थ नहीं हो सकता। और उसकी दृष्टि से वही सहयोग उचित कहा जाएगा, जो उसे उसकी समस्याओं को उसके दृष्टिकोण से समझकर सद्भावना तथा योग्यता के साथ दिया गया हो। कोई भी अध्यापक ऐसा सहयोग तभी प्रदान कर सकता है—जब उसे सुव्यवस्था-स्थापना-विषयक जानकारियाँ प्राप्त हो चुकी हों, अन्यथा उसका सहयोग अपर्याप्त सिद्ध हो सकता है।

इस प्रश्न पर एक और दृष्टि से भी विचार करना चाहिए। यदि प्रधानाध्यापक की समस्याओं को दृष्टि से ओझल भी कर दिया जाय, तो भी अध्यापक के लिए इन जानकारियों की उपयोगिता कम नहीं हो जाती। किसी भी विद्यालय में अध्यापक केवल ज्ञान प्रदाता ही न होकर व्यवस्थापक भी होता है। अपनी कक्षा में ही उसे

ऐसा वातावरण बनाए रखना पड़ता है, जिसमें ज्ञान-दान की क्रिया सुचारु रूप से चलती रह सके। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अध्यापक को पुस्तकालय, वाचनालय, खेल-कूद, स्वल्पाहार, छात्र-परिषद, उल्लास यात्रा तथा उत्सव आदि में से किसी न किसी विद्यालय-कार्य का प्रत्यक्ष प्रबन्ध देखना ही पड़ता है। बहुत से विद्यालयों में ये सभी कार्य बारी-बारी से सभी अध्यापकों को संभालने पड़ते हैं। कोई अध्यापक अपने उत्तर-दायित्व को नहीं निभा सकता, यदि उसे अन्य अध्यापकों का स्वेच्छा प्रेरित सहयोग न मिले। और सहयोगों का यह आदान प्रदान भी सहयोग चाहने वालों के दृष्टिकोण को समझकर ही होना चाहिए, अन्यथा वह उपयोगी नहीं होगा। दूसरों को उनके दृष्टिकोण से सहयोग उनकी समस्याओं तथा उनके हलों को जाने बिना कैसे दिया जा सकता है ? यही जानकारी पाठ्यक्रम के इस अंश का विषय होती है।

इतनी बात तो हुई विद्यालय की सुव्यवस्था की दृष्टि से; व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से भी यह जानकारी प्रत्येक अध्यापक के लिए उपयोगी होती है। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि समाज में उसको अधिक से अधिक आदर मिले। बहुज्ञता भी निश्चित रूप से समाज में आदर का कारण होती है। बहुज्ञ व्यक्ति अधिक सुचारु रूप से अपनी समस्याएँ सुलझा लेता है और आवश्यकता पड़ने पर अन्यों की सहायता भी कर सकता है। इस विषय की जानकारी निश्चित रूप से उसे छात्र-समाज तथा सहयोगी-वर्ग में अधिक आदर-पूर्ण स्थिति दिलाएगी। यदि उसके सभी सहकारी भी इस क्षेत्र में उसके समान ही योग्यता-सम्पन्न हों, तो भी यह जानकारी उसे चाहे विशेष आदर-पूर्ण स्थिति न दिला सके, परन्तु हीनता की भावना का शिकार होने से अवश्य बचा लेगी।

व्यक्तिगत लाभ की एक अन्य परिस्थिति में भी यह जानकारी लाभदायक सिद्ध होती है। प्रत्येक महत्त्वाकांक्षी अध्यापक चाहता है कि उसे किसी विद्यालय का प्रधानाध्यापक बनने का अवसर प्राप्त हो। प्रधानाध्यापक बनने से व्यक्ति को आर्थिक लाभ तो होता ही है, समाज में अधिक सम्मान-पूर्ण स्थिति भी प्राप्त होती है। आदर्श-प्रेमी व्यक्तियों को अपने आदर्शों के अनुसार कुछ व्यक्तियों के निर्माण का अवसर भी मिलता है। इस उन्नत स्थिति को प्राप्त करने के इच्छुक अध्यापक को उन समस्याओं से पहले से परिचित होना चाहिए, जिन्हें उसे प्रधानाध्यापक बनकर सुलझाना पड़ेगा। यह जानकारी अध्यापक को न केवल उन समस्याओं से परिचित कर देती है अपितु उसके सम्मुख उनके अनुभव-सिद्ध हल भी रख देती है। इस प्रकार वह उस पद के साथ जुड़े हुए भारी उत्तरदायित्वों को सँभालने के लिए अधिक समर्थ हो जाता है। कभी-कभी अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति अथवा समाज-सेवा के ही लिए अध्यापकों को नवीन विद्यालय खोलने पड़ते हैं, अथवा विद्यालयों की प्रबन्ध-समितियों का सदस्य अथवा सलाहकार बनना पड़ता है। उस समय भी यह जानकारी अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होती है।

उपसंहार

प्रबन्ध करना कोई सरल काम नहीं है। जिस संगठन का प्रबन्ध करना अभीष्ट हो, वह जितना ही बढ़ता जाता है, उतने ही विभिन्नता पूर्ण और कभी-कभी परस्पर विरोधी हितों वाले तत्त्व उसमे उत्पन्न होते जाते हैं और परिणामतः उसका प्रबन्ध करना उतना ही कठिन हो जाता है। अध्यापक-वर्ग को छात्रों, उनके अभिभावकों, प्रबन्धकों, सहयोगियों, जनता तथा सरकारी अधिकारियों—इन सभी की इच्छाओं का आदर करते हुए प्रबन्ध-व्यवस्था चलानी पड़ती है। इस कारण उनका कार्य कुछ कठिन हो जाता है। इस कारण आवश्यक है कि वे विज्ञापन और कला—दोनों रूपों में विद्यालय-व्यवस्था का अध्ययन एवं कर्माभ्यास करें। प्रशिक्षण-महाविद्यालय उन्हें इन दोनों का अनुपम अवसर प्रदान करते हैं। यदि छात्राध्यापक चाहते हैं कि वे भावी जीवन में सफल अध्यापक तथा प्रधानाध्यापक बनें, तो उन्हें बड़ी लगन के साथ अपने प्रशिक्षण-काल का उपयोग अपने व्यक्तित्व तथा प्रबन्ध-क्षमता के विकास में करना चाहिए। उन्हें इस विषय में सहायता देने के लिए ही यह पुस्तक प्रस्तुत की जा रही है।

२

विद्यालय का प्रयोजन एवं स्वरूप

अध्याय-संक्षेप .—

प्रस्तावना; समाज का स्वरूप, सामाजिक सम्बन्धों के आधार, समाज की प्रवाहमयता, समाज की आकांक्षा, समाज और शिक्षा, आत्म-संशोधन कैसे ? यदि प्रक्रियाएँ न चलें तो; विद्यालय का स्वरूप, उपसंहार।

प्रस्तावना

ग्रन्थ के प्रयोजन के साथ-साथ विद्यालय के स्वरूप और प्रयोजन की संक्षिप्त चर्चा प्रथम अध्याय में हो चुकी है। उसको पढ़ लेने पर भी कई बातें अस्पष्ट ही रहती हैं। समाज की उगती हुई पीढ़ी में सफल जीवन बिताने के लिए आवश्यक गुणों के आधान के लिए इतने बड़े पैमाने पर प्रयत्न क्यों किया जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर बिल्कुल स्पष्ट रूप में प्रत्येक अध्यापक की अनुभूति का विषय अवश्य बन जाना चाहिए। इस अनुभूति के बिना वह अपने कर्त्तव्य की गुरुता को समझ ही नहीं सकता। इसी दृष्टि से यह अध्याय प्रस्तुत किया जा रहा है।

समाज का स्वरूप

विद्यालय एक सामाजिक संस्था है और समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही उसकी स्थापना तथा संचालन किया जाता है। इस बात को समझने के लिए हमें दो बातें समझनी पड़ेंगी। प्रथम यह कि समाज का स्वरूप क्या है ?

और द्वितीय यह कि उसकी किस-किस आवश्यकता को विद्यालय किस प्रकार पूरा करता है ?

साधारणतया यह समझा जाता है कि समाज व्यक्तियों का समूह होता है। यह कथन सत्य होते हुए भी पूर्ण सत्य नहीं है। किसी मेले या सिनेमाघर मे एकत्रित भीड को कोई समाज नहीं कहता। यदि हम किसी प्रकार कुछ परस्पर असम्बद्ध व्यक्तियों को किसी स्थान पर एकत्रित करदें, तो उनके समूह को भी समाज नहीं कहा जाएगा। इसमे सन्देह नही कि समाज व्यक्तियो का समूह होता है, परन्तु उसके घटक (व्यक्ति) परस्पर असम्बद्ध नहीं होते। उसके व्यक्ति न केवल परस्पर असम्बद्ध नही होते, अपितु वे स्थायी सम्बन्धो के माध्यम से परस्पर घनिष्ठ रूप मे सम्बद्ध भी होते हैं। साथ ही उसकी परिधि इतनी विस्तृत होती है कि उसके अंगभूत व्यक्तियो की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति उसमे रहकर होती रहती है। *संसार के किसी समाज को ध्यान-पूर्वक देखने से उसकी ये विशेषतायें स्पष्टतया प्रकट* हो जाती हैं।

सामाजिक सम्बन्धों के आधार

किसी समाज में स्थित व्यक्तियो के पारस्परिक सम्बन्धो के आधार—समान भाषा, आदर्श, परम्पराएँ, संगठन, आशाएँ, आकांक्षाएँ तथा मान्यताएँ आदि होते हैं। इनके आधार पर न केवल व्यक्ति परस्पर जुडे रहते हैं, अपितु इन्हीं के आधार पर विशिष्ट समाज अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन समाजों से पृथक् रूप मे पहचाना जाता है। इतना ही नहीं, व्यक्ति भी उस समाज का अङ्ग तभी तक रहता है, जब तक वह उस समाज को सत्ता एवं पृथकता प्रदान करने वाली विशेषताओ को अपने मे धारण किये रहता है। उनका परित्याग करते ही वह उस समाज से पृथक् हो जाता है। यदि किसी प्रकार उन आदर्शों को उस-उस समाज मे से निकाल दिया जाए, तो जिस प्रकार किसी गिराये हुए भवन की उपादान वस्तुएँ भवन न रहकर मलवे के एक ढेर मे बदल जाती हैं, उसी प्रकार वह समाज भी स्वत. ही एक समाज न रहकर एक समूह मे बदल जायगा।

समाज की प्रवाहमयता

समाज की सत्ता की एक एक महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी प्रवाहमहत्ता भी है। हजारो व्यक्ति प्रतिदिन समाज से (मरकर) विदा लेते हैं और हजारो ही व्यक्ति (जन्म लेकर) प्रतिदिन उसमें सम्मिलित होते हैं। आदर्श आदि जो तत्त्व व्यक्ति-समूह को समाजता प्रदान करते हैं, वे उस समाज के सुदूर अतीत से लेकर वर्तमान तक किये हुए प्रयत्नो के पुंजीभूत रूप होते हैं, और वे भी समाज की धारा के साथ प्रवाहित होते चले आते हैं। नवागत व्यक्ति समाज मे अबोध शिशुओ के रूप मे पदार्पण करते हैं और प्रकटत. वे समाज के आदर्शों आदि मे से कुछ भी साथ नहीं लाते। फलतः वे आने के साथ ही समाज के सक्रिय अग नही बन पाते। समाज के आदर्शों

था परम्पराओं आदि की दीक्षा लेकर वे धीरे-धीरे उसमें चलने तथा विदा हुए व्यक्तियों के स्थान लेने लगते हैं।[1] इस प्रकार प्रतिसंक्रमण[2] द्वारा समाज अजर और अमर बना रहता है, जबकि उसके व्यक्ति अनवरत जीते और मरते रहते हैं। उसकी अमरता का रहस्य उसका निरन्तर चलने वाला प्रतिसंक्रमण है। प्रतिसंक्रमण की प्रवाहमयी प्रक्रिया जीवमात्र के जीवन में चलती है। समाज का प्रसंग चल रहा है अतः यहाँ उसके प्रसंग में उस प्रक्रिया का निदर्शन कर दिया गया है।

यदि किसी प्रकार यह प्रवाह रोक दिया जाए या रुक जाए, तो निश्चित है कि सम्बद्ध समाज नष्ट हो जायगा। समाज की प्रवाहमयता दो प्रकार से अवरुद्ध हो सकती है: प्रथम, उसमें सन्तानों का उत्पन्न होना बन्द हो जाए और द्वितीय, उसकी सन्तानों को आदर्श आदि सामाजिक उत्तराधिकारों से वंचित रह जाना पड़े। प्रथम से उसकी सत्ता का जीवशास्त्रीय तथा द्वितीय से सांस्कृतिक आधार नष्ट हो जाता है। कोई समाज जीवित रहे, इसके लिए आवश्यक है कि उसकी सत्ता के ये दोनों आधार अक्षुण्ण बने रहें।

समाज की आकांक्षा

ईश्वरीय सृष्टि की सभी चेतन सत्तायें अपनी सत्ता को अक्षुण्ण एवं तेजस्वी बनाए रखना चाहती हैं। समाज भी, जो कि चेतन व्यक्तियों का प्रवाहमय स्वरूप है, अपने आप में चेतन है और इसीलिए वह अपनी सत्ता को अक्षुण्ण एवं तेजस्वी बनाए रखना चाहता है। अपनी सत्ता के भौतिक आधार को दृढ़ रखने के लिए वह सन्तानोत्पादन को एक पवित्र कार्य के रूप में स्वीकार करता है। सभी समाजों में विवाह को एक पवित्र प्रथा मानने तथा बड़ी धूम-धाम से उसका सम्पादन किये जाने का संभवतः यही कारण है। अपनी सत्ता के सांस्कृतिक आधार को दृढ़ करने के लिए वह कुछ ऐसी व्यवस्था करता है, जिसके अनुसार नई पीढ़ी सामाजिक उत्तराधिकार विधिवत् सम्हालती रहे और उसमें ऐसी योग्यता भी उत्पन्न होती रहे कि वह उसे बासी या अनुपयोगी न बनने दे। दोनों को पारिभाषिक शब्दावली में पुनर्नवीकरण[3] तथा आत्म-संशोधन[4] की क्रियाएँ कहते हैं। उनके द्वारा अपनी सत्ता के सांस्कृतिक आधार को दृढ़ करने का कार्य समाज अपनी शिक्षा-पद्धति द्वारा करता है।[5]

---

१ भद्रमिच्छन्तः ऋषयः स्वर्विदस्तपोदीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसन्नमन्तु।—वेद।

2. "Society exists through a process of transmission as much as biological life"—John Dewey : *Democracy & Education.*

3. Renewal. 4. Self purification. 5. "What nutrition & reporoduction are to physiological life, education is to social life."
—*Democracy & Education*, p. 11.

समाज चाहे कितना ही अविकसित क्यों न हो, उसमे किसी न किसी प्रकार की शिक्षा-पद्धति अवश्य मिलती है। चेतन चाहे विकसित हो या अविकसित, धनी हो या दरिद्र और प्राचीन हो या आधुनिक—जीवित अवश्य रहना चाहता है। चूँकि जीवन के लिए शिक्षा पद्धति आवश्यक है, अत वह उसे रखता है। आरम्भ मे समाज छोटे-छोटे थे। उनकी सामाजिक एवं आर्थिक रचना तथा व्यवस्था बिल्कुल सरल थी। जानकारी के क्षेत्र भी उन दिनों बहुत सकुचित थे। इस कारण पिता-माता अथवा भाई-बहन ही छोटे बच्चों को शिक्षा दे दिया करते थे। अब समाज के सभी पहलू अत्यधिक जटिल हो गये हैं अत. परिवार से बिल्कुल स्वतन्त्र राष्ट्रव्यापी शिक्षा व्यवस्था का निर्माण एव सचालन किया जाता है। रूप तथा विस्तार कितने ही हो, परन्तु आधारभूत बात—'किसी न किसी प्रकार की शिक्षा-पद्धति की विद्यमानता—प्रत्येक समाज मे मिलती है।

सामाजिक जीवन के सातत्य के साथ शिक्षा पद्धति का इतना सम्बन्ध समझते हुए ही प्रत्येक विदेशी जाति जब किसी राष्ट्र को अपने अधीन करती है, तब सबसे पहला आक्रमण शिक्षा-पद्धति पर करती है। वह पहले वहाँ की शिक्षा-पद्धति को नष्ट करती है और उसके स्थान पर ऐसी पद्धति प्रचलित करती है, जिसमे से निकलकर युवक अपने परम्परागत समाज का जीवित अङ्ग न रहकर शासक-समाज का पुछलग्गा बन जाय। इस प्रकार जैसे-जैसे अधिकाधिक युवक उस शिक्षा-पद्धति मे से निकलकर समाज मे आते-जाते हैं, परम्परागत समाज नष्ट होता जाता है और एक नये मिश्रित समाज की सृष्टि और पुष्टि होती जाती है। भारत मे मुसलमान-विदेशियो ने तथा बाद मे अंग्रेजों ने यही किया। उनकी शिक्षाओ के जो परिणाम हुए, उन्हे इतिहास का प्रत्येक छात्र जानता है। अंग्रेजों के चले जाने के उपरान्त भी आज संस्कृति तथा भाषा के क्षेत्र मे जो अंग्रेजियत छाई हुई है और अंग्रेजी पढ़े-लिखे व्यक्तियो के मन मे अंग्रेजी ज्ञान-रहित सामान्य जनता के प्रति जो क्षुद्रता तथा तिरस्कार का भाव है, इसका कारण अंग्रेजी शासन काल की शिक्षा-पद्धति का कुप्रभाव ही है। इस विषय मे विशेष जानकारी के लिए हम लोगो द्वारा लिखित "भारतीय शिक्षा का सक्षिप्त इतिहास" तथा "स्वतन्त्र भारत मे शिक्षा की प्रगति"—इन दो ग्रन्थो का अवलोकन उपयोगी होगा। अस्तु—

आत्म-संशोधन कैसे ?

पुनर्नवीकरण की प्रक्रिया किस प्रकार चलती है, इसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। आत्म-सशोधन की प्रक्रिया समाज मे किस प्रकार चलती है, इसे भी समझ लेना उचित होगा। जिन्हें हम समाज के आदर्श कहते हैं, वे वस्तुत: उसके चिन्तको तथा दार्शनिको द्वारा निर्धारित वे जीवन-सत्य होते हैं, जिनका पालन करना उनकी दृष्टि मे समाज के वास्तविक कल्याण के लिये अत्यन्त आवश्यक होता है। निर्धारण तो उनका दार्शनिक करते हैं परन्तु समाज भी बौद्धिक रूप मे उन्हे स्वीकार कर चुका

: ३ :

विद्यालय, समाज और परिवार

अध्याय-सक्षेप :—

प्रस्तावना; समाज . विद्यालय का निर्माता; समाज : विद्यालय का पोषक; समाज : विद्यालय का आदर्श, समाज : विद्यालय का पूरक; विद्यालय की भी यही स्थिति; दोनो परस्पर उपयोगी कैसे हो ? परिवार और विद्यालय—परिवार . विद्यालय के पोषक, परिवार : विद्यालय के पूरक, परिवार ' विद्यालय के आदर्श; विद्यालय की स्थिति; उपसहार ।

प्रस्तावना

पिछले अध्याय मे कहा जा चुका है कि विद्यालय की स्थापना और सचालन दोनो समाज को जीवित एवं तेजस्वी बनाए रखने के लिए किये जाते हैं। इस अध्याय में हम यह विचार करना चाहते हैं कि विद्यालय, समाज तथा परिवार—इन तीनो का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, और ये तीनो एक-दूसरे से किस प्रकार लाभान्वित होते रह सकते हैं।

समाज : विद्यालय का निर्माता

पिछले अध्याय मे कहा जा चुका है कि समाज अपनी जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही विद्यालय की स्थापना और संचालन करता है। जब कोई महापुरुष सामाजिक जीवन मे कतिपय गुणो का आधान करने के लिए

विद्यालय की स्थापना तथा उसका संचालन करते हैं, तब भी उनका उद्देश्य समाज ही होता है। ऐसी परिस्थिति में भी प्रकारान्तर से हम समाज को ही विद्यालय का निर्माता कह सकते हैं। यदि समाज उस प्रकार के विद्यालयों की स्थापना की आवश्यकता न माने, तो यह निश्चित है कि विद्यालय चल ही नहीं।

समाज : विद्यालय का पोषक

विद्यालय को तीन प्रकार के; अर्थात् जन धन तथा मान्यता—के पोषण की आवश्यकता होती है। समाज विद्यालय को अध्यापकों, छात्रों तथा प्रबन्धकों के रूप में "जन" देकर उसका पोषण करता है। विद्यालय की समस्त भौतिक अर्थात् साधन-सामग्री सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करके यह उसका "धन" से पोषण करता है। "मान्यता" के रूप में यह तीसरा पोषण प्रदान करता है। विद्यालय अपने जिस स्नातक को जिस योग्य घोषित कर देता है, समाज उसे उसी प्रकार का स्थान तथा आदर प्रदान करता है। जब समाज विद्यालय को इन तीनों प्रकारों का पोषण देना बन्द कर देता है, वे स्वतः समाप्त हो जाते हैं।

समाज : विद्यालय का आदर्श

प्रत्येक समाज जिस प्रकार के जीवन दर्शन में विश्वास करता है, और जिस प्रकार की जीवन पद्धति को अपने व्यवहार का विषय बनाकर चलने का प्रयत्न करता है, विद्यालय को उसी जीवन दर्शन में विश्वास रखने वाले तथा उसी जीवन-पद्धति के अनुसार जीवन बिताने वाले व्यक्तियों का निर्माण करना होता है। जैसे-जैसे समाज की मान्यताओं तथा व्यवहारों में परिवर्तन होता जाता है, विद्यालय भी अपनी मान्यताओं और व्यवहारों में परिवर्तन करता जाता है। इस प्रकार समाज (अपने आदर्श रूप में, सड़े-गले तथा आदर्श-भ्रष्ट रूप में नहीं) सदैव विद्यालय के सम्मुख आदर्श रूप में उपस्थित रहता है। जनतन्त्रीय तथा अधिनायकतन्त्रीय देशों के विद्यालयों की संचालन-पद्धति आदि में जो अन्तर होता है, उसका एकमात्र कारण यही होता है। जो विद्यालय समाज को आदर्श रूप में नहीं रखते, समाज उनका पोषण बन्द कर देता है और वे स्वयं अपनी मौत मर जाते हैं।

समाज : विद्यालय का पूरक

विद्यालय दो प्रकार के होते हैं : (१) आवास सहित, और (२) आवास-रहित। आवास-सहित विद्यालय छात्रों के लिए सम्पूर्ण जीवन की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था करते हैं। इस प्रकार के विद्यालय अपने आप में स्वतन्त्र समाज होते हैं। आवास-रहित विद्यालय केवल अध्यापन की ही व्यवस्था करते हैं। छात्र इनमें सीमित समय तक रहकर समाज में वापस चले आते हैं। जब ऐसी स्थिति होती है, तब समाज को विद्यालय का पूरक बनकर चलना पड़ता है। यदि उसके आदर्श और व्यवहार वैसे ही होते हैं—जैसे कि विद्यालय के, तो वह विद्यालय में सीखी

हुई तथा अभ्यस्त वस्तुओं के पुनः पुन अभ्यास का अवसर देकर विद्यालय के कार्य को पूरा करता है। विपरीत परिस्थिति होने पर वह विद्यालय के किये करे पर पानी भी फेर सकता है। दुर्भाग्यवश आज का समाज विद्यालय का पूरक बनकर नहीं चल पा रहा है, अनुशासन की बहुत सी समस्याएँ इसीलिए उठा करती हैं।

विद्यालय की भी यही स्थिति

एक दूसरे दृष्टिकोण से विचार करने पर विद्यालयों का भी समाज से वही सम्बन्ध प्रतीत होता है, जो समाज का विद्यालय से दिखाया जा चुका है। हम विद्यालयों को समाज का निर्माता, पोषक, आदर्श, तथा पूरक भी कह सकते हैं। जो गुण किसी समाज को एक विशिष्ट समाज का रूप देते हैं; विद्यालय उनकी रक्षा करते हैं, नई पीढ़ियों में उनका संक्रमण करते हैं, और इस प्रकार तात्कालिक व्यक्तिगत लाभ, सुविधा तथा सुख की लिप्सा में पतन की ओर खिसकते हुए समाज को जैसा उसे होना चाहिए वैसा बनाये रहते हैं। आवश्यकता होने पर उसके सम्मुख नवीन आदर्शों को प्रस्तुत भी करते हैं और समाज को जिस प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, उस प्रकार के व्यक्तियों का निर्माण करके उन्हें समाज की सेवा में प्रस्तुत कर देते हैं।

शिक्षा के इतिहास का प्रत्येक छात्र जानता है कि प्रत्येक समाज के जीवन में क्रान्ति उत्पन्न करने वाले दार्शनिक स्वयं अध्यापक भी थे। उनमें से अनेकों ने शिक्षा-पद्धति पर अपने विचार प्रकट किये और नवीन प्रकार के विद्यालयों की स्थापना भी की। प्राचीन भारत के गुरुकुलों और ऋषिकुलों तथा यूनानी दार्शनिकों की अकादमियों को इस कथन के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। जिन्होंने विधिवद्ध विद्यालयों की स्थापना नहीं की, उन्होंने सम्प्रदायों अथवा दलों के रूप में विधिमुक्त विशाल विद्यालय चलाए और उनमें दीक्षा दे-देकर अपने समाजों के जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर डाले। मानव-जाति के इतिहास में इस तथ्य के समर्थक इतने उदाहरण हैं कि उनको लिखकर पुस्तक का कलेवर बढ़ाना अनुचित ही होगा।

इसी बात को श्री टी० पी० नन ने निम्नलिखित रूप में कहा है, "किसी राष्ट्र के विद्यालय उसके जीवन के ऐसे अङ्ग होते हैं, जिनका विशेष कार्य उसकी आध्यात्मिक शक्ति को सगठित करना, ऐतिहासिक सातत्य को सुरक्षित रखना, उसकी अतीत सफलताओं की रक्षा करना और उसके भविष्य को आश्वस्त रखना होता है। अपने विद्यालयों द्वारा प्रत्येक राष्ट्र को अपने उन स्थायी स्रोतों से परिचित रहना चाहिए, जिनसे उसके जीवन के सर्वोत्तम आन्दोलनों ने सदैव प्रेरणा ग्रहण की है, अपने योग्यतर पुत्रों के स्वप्नों का साझीदार बनना चाहिए, स्वयं निरन्तर आत्मालोचन करते रहना चाहिए, अपने आदर्शों का सशोधन करते रहना चाहिए और अपनी प्रवृत्तियों का

पुनर्निर्देशन करते रहना चाहिए।"[1] यह कथन ऊपर कहे हुए से इतना अधिक मिल है कि इसकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं है।

दोनों का परस्पर उपयोगी कैसे हों ?

विद्यालय और समाज के बीच इस सम्बन्ध की विद्यमानता में अब यह सोचना चाहिए कि किस प्रकार के विद्यालय समाज के लिए उपयोगी होते हैं ? साथ में यह भी विचार किया जाना चाहिए कि क्या करते हुए समाज अपने विद्यालयों को अपने लिए अधिक से अधिक उपयोगी बना सकते हैं ? पहले हम प्रथम प्रश्न पर विचार करेंगे।

वे ही विद्यालय समाज के लिए उपयोगी हो सकते हैं :—

१—जिनके अंगभूत सभी शिक्षक विद्वान्, सच्चरित्र, समाज-हितैषी तथा परस्पर सहयोग करने वाले होते हैं :—

विद्या-दान एवं चरित्र-निर्माण— दोनों बातों के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि विद्यालय के शिक्षकों तथा छात्रों के बीच के सम्बन्ध अत्यन्त मधुरतापूर्ण रहें। सम्बन्ध मधुरता-पूर्ण तभी रह सकते हैं, जबकि शिक्षक छात्रों को पुत्रवत् स्नेह तथा छात्र शिक्षकों को पितृवत् श्रद्धा दे सकें। यदि शिक्षक दूसरे के हृदय में श्रद्धा उत्पन्न करने वाले गुणों से युक्त हों और अपने छात्रों को सचमुच ही स्नेह देते हों, तो यह निश्चित है कि उन्हें छात्रों की श्रद्धा अवश्य मिलेगी। श्रद्धा बलपूर्वक माँगी नहीं जा सकती, इसके लिए तो उसका पात्र बनना आवश्यक होता है। यदि किसी विद्यालय के अध्यापक विद्वान् अर्थात् —अपने अपने विषय के विशेषज्ञ हों; यदि उनका चरित्र उन सब सद्गुणों से युक्त हो, जिन्हें वे छात्रों में उत्पन्न करना चाहते हो, यदि उनके हृदय में छात्रों के जीवन-निर्माण द्वारा समाज-सेवा की ज्वलन्त महत्त्वाकांक्षा हो; और जो परस्पर मित्र एवं सहयोगी बनकर विद्यालय में मधुर वातावरण की सृष्टि कर लेते हो, तो इसमें सन्देह करने का बिल्कुल अवकाश नहीं है कि उस विद्यालय तथा उसके

---

1. A nation's schools are an organ of its life, whose special function is to consolidate its spiritual strength, to maintain its historic continuity, to secure its past achievements, to guarantee its future Through its schools nation should become conscious of the abiding sources, from which the best movement is its life have always drawn its inspiration, should come to share the dream of it's nobbler sons, should constantly submit itself to self-criticism, should purge its ideals, should re-inform and redirect its impulses. "

T. P. Nunn.—Education, its Data & First Principles p. 233.

प्रत्येक शिक्षक के प्रति श्रद्धा की वृत्ति छात्रों के हृदय से स्वतः प्रवाहित होने लगेगी। श्रद्धा उत्पन्न होते ही उनका जीवन स्वयमेव अभीष्ट रूप लेने लगेगा।

प्रत्येक विद्यालय में एक-दो अध्यापक अवश्य ही श्रद्धेय होते हैं। परन्तु इससे विद्यालय का उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। एक दो का श्रद्धेय होना विद्यालय मे ईर्ष्या-जनित समस्याएँ उत्पन्न कर देता है। आवश्यकता यह है कि सम्पूर्ण संस्थान श्रद्धेय हो और वह एक सहकारी समिति की भाँति सुचारु रूप से चले। इसके लिए प्रत्येक अध्यापक का उपर्युक्त गुणो से युक्त होना आवश्यक है। यदि पूरी संस्था मे एक भी शिक्षक अवाछनीय प्रकार का हुआ, तो वह उसे उसी प्रकार निर्बल बना देगा, जिस प्रकार जंजीर की एक कमजोर कडी पूरी जजीर को निर्बल कर देती है। छात्रों के मन मे अश्रद्धा किसी एक अध्यापक के प्रति न होकर सम्पूर्ण शिक्षक-मडल तथा संस्था के प्रति होगी और इस अश्रद्धा के कारण जो बुरा वातावरण बनेगा, उसकी हानि सभी को उठानी पड़ेगी।

श्रद्धा की चिन्ता न भी की जाय, तो भी ये गुण अधिकतर आवश्यक हैं कि इनसे रहित अध्यापक छात्रो को विद्या और चरित्र का दान कैसे दे सकेंगे? समाज-हितैषिता तथा पारस्परिक सहयोग के अभाव मे वे अपने विद्यालय को ऐसे आदर्श जनतन्त्रीय समाज मे कैसे बदल सकेंगे, जिसमे रहकर छात्रो मे जनतन्त्रीय समाज के लिए आवश्यक परहित-चिन्ता तथा सहयोग आदि गुण उत्पन्न हो सकें? उपयुक्त वातावरण के महत्त्व की चर्चा ऊपर की पक्तियो मे की ही जा चुकी है, और प्रसगवश आगे भी की जाएगी।

इन गुणो को केवल केवल शिक्षको के लिए ही नहीं, विद्यालय मे काम करने वाले सभी कर्मचारियो के लिए आवश्यक समझना चाहिए। वातावरण-निर्माण में उनका भी भाग होता ही है। सच्चरित्रता के स्वरूप की विशेष चर्चा आचार-सहिता के प्रसग मे की जाएगी।

२—जो अपना पाठ्यक्रम जीवन-केन्द्रित रखते हैं :—

विद्यालय-जीवन की समाप्ति के पश्चात् छात्र को जिस प्रकार के समाज का सदस्य बनकर जीवन बिताना है, विद्यालय उसका सही प्रतिनिधि होना चाहिए। वह अपने समाज का सही प्रतिनिधि तभी हो सकता है, जब उसका *पाठ्यक्रम समाज-केन्द्रित* हो। विज्ञान के प्रवेश के कारण आज के समाज में विविधता तथा गतिशीलता; ये दो विशेषताएँ अत्यधिक मात्रा मे बढ़ गई हैं। फलतः विद्यालयो मे सभी प्रकार के विज्ञानो तथा कलाओ का पुस्तकीय तथा क्रियात्मक—दोनों प्रकार का आधुनिकतम शिक्षण होना चाहिए और ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि प्रत्येक छात्र अपनी रुचि एवं क्षमता के आधार पर अभीष्ट विज्ञान अथवा कला का अध्ययन कर सके। पाठ्यक्रम के निर्माण मे ऐसी व्यवस्था भी रहनी चाहिए कि प्रत्येक छात्र एवं छात्रा को उसके सामाजिक एव भौतिक वातावरण के सदुपयोग करने की योग्यता उत्पन्न करने

वाली आधारभूत सामान्य जानकारी अवश्य मिल जाए और उसके बाद उसे अ
विशिष्ट क्षमताओं से सामाञ्जित होने का अवसर भी मिले। साथ में पाठ्यक्रम
इतना लचीला भी होना चाहिए कि परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक होने पर उ
सरलता से परिवर्तन किया जा सके। मानव समाज सदैव गतिशील रहा है। अ
उसकी गतिशीलता की मात्रा वस्तुतः अत्यधिक रूप में बढ़ चुकी है। ऐसे समय में
पाठ्यक्रम का लचीलापन और अधिक आवश्यक हो गया है।

३—जिनमें प्रयुक्त होने वाली अध्यापन-विधियाँ भी मनोविज्ञान सम्मत त
समाज द्वारा स्वीकृत जीवन-पद्धति के अनुरूप तथा गतिशील होनी हैं :—

(अ) ऊपर की पंक्तियों में कहा गया गया है कि आज के समाज में विज्ञान
प्रवेश के कारण विद्यालय में भी विज्ञान का प्रवेश अनिवार्य हो गया है। मनोविज्ञ
भी एक विज्ञान है। उसके प्रवेश ने विद्यालय-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में क्रान्ति कर
है। कक्षा में अध्यापक को छात्रों के सम्मुख ज्ञानात्मक एवं क्रियात्मक—दोनों प्रका
के विषयों को इस प्रकार प्रस्तुत करना होता है कि छात्र रुचि से उनकी ओर ध्यान
प्रयत्न पूर्वक उन्हें ग्रहण कर लें, और जीवन की नाना-विधि परिस्थितियों में अपने ज्ञा
तथा क्रिया-शक्ति का समुचित रूप में प्रयोग कर सकें। मनोविज्ञान ने इस कार्य
लिये अध्यापक के हाथ में ऐसी अध्यापन-प्रविधियाँ तथा गुर लाकर रख दिये हैं कि व
अब बहुत कम श्रम से ही अपने अभीष्ट को प्राप्त कर सकता है। विद्यालयों में उ
अध्यापन-विधियों का प्रयोग होना चाहिए।

(आ) समाज की जीवन-पद्धति का विद्यालय-जीवन के अन्य अङ्गों की भाँति
अध्यापन-विधियों पर भी प्रभाव पड़ता है। यदि समाज की जीवन-पद्धति एकतन्त्रीय
होती है तो उसके विद्यालयों की अध्यापन-विधियाँ भी अधिकाराश्रयी[1] हो जाती हैं।
इसके विपरीत, जनतन्त्रीय समाज के विद्यालयों में जनतन्त्रीय पद्धतियों का प्रचलन
होता है और अध्यापन प्रक्रिया में अध्यापक और छात्र—दोनों सत्य के अन्वेषक के रूप
में भाग लेते हैं। प्राचीन यूनान के एथेनी तथा स्पर्टी विद्यालयों तथा भारतीय इतिहास
के वैदिक एवं बौद्ध तथा मुगल कालों के विद्यालयों में प्रचलित अध्यापन-पद्धतियों के
तुलनात्मक अध्ययन से यह कथन पूर्णतया प्रमाणित हो जाता है। यदि अध्यापन-
विधियाँ समाज द्वारा स्वीकृत जीवन-पद्धति के अनुरूप न रखी जाएँ, तो विद्यालय के
स्नातक जिन वृत्तियों को लेकर समाज में जाएँगे, वे उन्हें अपने सामाजिक उत्तर-
दायित्वों को स्वस्थ ढंग से पूरा नहीं करने देंगी।

(इ) विद्यालयों में चलने वाली अध्यापन विधियों में तीसरी विशेषता यह
होनी चाहिए कि वे गतिशील हों। पाठ्यक्रम के प्रसंग में गतिशीलता की बात कही
जा चुकी है। अध्यापन-विधि का निर्धारण छात्र, पाठ्यवस्तु, जीवन-दर्शन तथा वाता-
वरण—इन चार को दृष्टि में रखकर किया जाता है, अतः स्पष्ट है कि पाठ्यक्रम की

1. Authoritarian.

गतिशीलता तथा लचकीलेपन के साथ-साथ अध्यापन-विधियाँ भी गतिशील तथा लचकीली होनी चाहिये, जिससे कि वे अवसर की माँग को पूरा कर सकें।

४—जिनकी सम्पूर्ण जीवन-चर्या लक्ष्यीभूत समाज के जीवन-दर्शन से अनुप्राणित होती है :—

अध्यापक तथा छात्र जिस समय विद्यालय मे प्रवेश करते हैं, उस समय से और जिस समय तक वे वहाँ रहते हैं, उस समय तक वे जो कुछ भी क्रिया-कलाप करते हैं, वह सब जीवन-चर्या का अंग होता है। उसमे सब प्रकार की पाठ्यक्रमीय तथा पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाएँ परिगृहीत हो जाती हैं। विधिमुक्त रूप मे भी जो व्यवहार वे परस्पर करते हैं, वे सब उसकी परिधि मे आ जाते हैं। यह सम्पूर्ण जीवन-चर्या लक्ष्यीभूत समाज के जीवन-दर्शन से अनुप्राणित होनी चाहिए। इससे विद्यालय मे जो परम्पराएँ बनेंगी और जो वातावरण उत्पन्न होगा—उससे छात्रों की जो जीवन-पद्धति बनेगी, वह उनके व्यक्तित्व को अभीष्ट समाज के लिये उपयुक्त गुणो से सज्जित करेगी।

मनोवैज्ञानिकों ने "वातावरणीय प्रभाव के आत्मसात्-करण द्वारा व्यक्तिगत व्यवहार के परिवर्तित होने" को 'सीखना' माना है। वातावरणीय प्रभावों मे से जो विधि-बद्ध रूप से डाले जाते हैं, उनकी अपेक्षा वे प्रभाव अधिक प्रभावकारी सिद्ध होते हैं, जो विधि-मुक्त रूप मे मन पर पड़ा करते हैं। उदाहरणार्थ—सत्य बोलने की शिक्षा की अपेक्षा ऐसी व्यवस्था और परम्परा का निर्माण, जिसमे कोई व्यक्ति असत्य बोलता ही न हो, किसी व्यक्ति को सत्यवादी बनाने के लिए अधिक उपयोगी होता है। यह भी एक मनोविज्ञान सम्मत तथ्य है और व्यक्तिगत जीवन मे हम बड़ी सरलता से इसकी परीक्षा कर सकते हैं। बहुतों को गाली देने की आदत पड़ जाती है। क्या उन्होंने वह आदत अपने माता-पिता, गुरु तथा मित्र आदि के उपदेशों से सीखी हुई होती है ? स्पष्ट है कि इस प्रश्न का उत्तर 'नकार' मे मिलेगा। यदि खोजबीन की जाए तो ज्ञात हो जाएगा कि यह आदत वातावरण के विधियुक्त प्रभाव के माध्यम से आई है। यही बात अन्य अच्छे प्रभावों के विषय मे भी कही जा सकती है। इसी दृष्टि से वातावरण के जीवन-दर्शन से अनुप्राणित होने की बात कही गई है।

५—जो छात्रों की जीवन-सम्बन्धी सभी उचित आवश्यकताओं को स्वतन्त्रता-पूर्वक पूरा कर सकते हैं :—

छात्रों को अभीष्ट गुणों से युक्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें दुर्गुणों के दुष्प्रभावों से बचाते हुए सद्गुणों से भूषित करने की प्रक्रिया चलाई जाय। यह तभी हो सकता है कि जब तक उनके व्यक्तित्व मे अभीष्ट गुण परिपक्व न हो जाएँ, तब तक उन्हें पूर्णरूपा नियन्त्रित वातावरण में रखा जाय और विधि बद्ध तथा विधि मुक्त—दोनों रूपों मे उन पर अभीष्ट संस्कार डाले जाएँ। विद्यालय यह कार्य तभी कर सकता है, जबकि वह स्वयं समाज का संक्षिप्त रूप बन जाए और छात्रों को भोजन, वस्त्र, खेल कूद, निवास, मनोरंजन तथा विश्राम आदि की सभी आवश्यकताएँ

उसी के भीतर पूरी होती रहे। यदि छात्र कुछ घण्टे विद्यालय में रहें और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शेष समय समाज के दूषित वातावरण में बित तो न जाने कितने बुरे संस्कार वे बाहर के ले आएँगे और विद्यालय के पवित्र वा वरण में खुलेआम या प्रच्छन्न रूप में विष घोलते रहेंगे। इसीलिए छात्रों की नि आदि की सभी आवश्यकताएँ विद्यालय में ही पूरी होनी चाहिए।

ऐसा करने से अन्य अनेक लाभ होंगे। बहुत से छात्र इतने निर्धन होते है उन्हें घर पर स्वास्थ्यप्रद भोजन नहीं मिल सकता। बहुतों के घर ऐसे होते हैं, जि स्वतन्त्रता-पूर्वक एकान्त में पढने का स्थान मिलना कठिन होता है। बहुतों के मा पिताओं के अपने आचार-विचार इतने भ्रष्ट होते हैं कि उनका सम्पर्क विद्यालय समस्त सुसंस्कारों को प्रभावहीन बना देता है। बहुत से छात्र कुसंग में पड़कर अप अमूल्य समय बरबाद करने लगते हैं। बहुत से छात्र माता-पिता की गरीबी अथ अमीरी के कारण नाना-प्रकार की कुभावनाओं तथा कुवृत्तियों के शिकार हो जाते हैं यदि छात्रों की सभी आवश्यकताएँ विद्यालय में ही पूरी हो सकें, तो वे अपने गुरु की देख-रेख में सन्तुलित जीवन बिताने और अपने समय का अधिक से अधिक सदु योग करते हुए कम से कम व्यय में अधिक से अधिक विद्या प्राप्त करके समाज सुयोग्य पुत्र सिद्ध हो सकते हैं।

ऐसी स्थिति बननी चाहिए कि विद्यालय स्वतन्त्रता-पूर्वक छात्रों की उचि आवश्यकताओं को पूरा कर सकें। स्वतन्त्रता के लिए आर्थिक पर्याप्तता तथा बाह्य हस्तक्षेप का अभाव—ये दो आवश्यक शर्तें हैं। आदर्श स्थिति तो यह होगी कि विद्या लयों का सम्पूर्ण भार समाज अथवा राज्य वहन करे और छात्रों के अभिभावकों को सीधे सीधे विद्यालयों को कुछ न देना पड़े। ऐसा न होने पर बहुत से अभिभावक अध्यापकों को समाज के पूज्य सेवा-कर्त्ताओं के स्थान पर अपने नौकरों के समान मानकर ऐसी अवांछनीय परिस्थिति उत्पन्न कर सकते हैं, जिसमें अध्यापक-वर्ग आत्म-सम्मान तथा स्वतन्त्रता के साथ अपना उत्तरदायित्व न निभा सके। यदि ऐसा होना असम्भव हो, तो समृद्ध अभिभावकों से शुल्क आदि लिए जाएँ और निर्धनों का सम्पूर्ण भार उदारतापूर्वक समाज उठाए। बाह्य हस्तक्षेप कभी अभिभावकों की ओर से, कभी समाज के प्रभावशाली व्यक्तियों की ओर से, और कभी प्रबन्धकों की ओर से होता है। उस पर भी कठोर प्रतिबन्ध एवं नियन्त्रण रहना चाहिए।

६—जिन्हें छात्रों के अभिभावकों का पूर्ण सहयोग मिलता रहता है :—

छात्रों में आधान करने के योग्य जिन गुणों की चर्चा ऊपर की पंक्तियों में की जा चुकी है, उनका अच्छे प्रकार आधान हो जाए, इसके लिए निम्नलिखित पाँच बातें अत्यन्त आवश्यक हैं :—

(अ) छात्रों को उनसे सम्बन्धित जानकारी मिल जाए,

(आ) छात्रों के मन में उन गुणों को अपने चरित्र का अंग बना लेने की महत्वाकांक्षा जग जाए;

(इ) छात्रों को उनका विधिवत् अभ्यास करा दिया जाए;
(ई) विद्या-प्राप्ति एवं अभ्यास के मार्ग में बाधा उत्पन्न करने वाले कारणों की निदान-पूर्वक चिकित्सा होती रहे;
(उ) छात्रों के मन पर विरोधी संस्कार न पड़ने पाएँ।

छात्र विद्यालयों की देख-रेख में अधिक से अधिक लगभग ८ घण्टे रहते हैं। इस बीच में उपरिलिखित पाँचों बातों में से प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ के अनुकूल परिस्थितियाँ बनाए रखना विद्यालय का उत्तरदायित्व है। इस समय के उपरान्त उन पर अध्यापकों का कोई नियन्त्रण नहीं रहता। इसके पश्चात् वे अपने अभिभावकों अथवा समाज के प्रभाव में रहते हैं। उस काल में विद्यालय अपने छात्रों से जिस प्रकार का व्यवहार चाहता है, उस प्रकार के व्यवहार को उनसे कराने तथा विद्यालय की शक्ति के बाहर की चिकित्सात्मक व्यवस्था करने का उत्तरदायित्व अभिभावकों अथवा समाज को स्वीकार करना चाहिए। अभिभावकों को एक बात सदैव याद रखनी चाहिए कि यदि वे चाहते हैं कि उनके बालक-बालिकाएँ उनके तथा राष्ट्र के सम्मान के रक्षक बनें, तो उन्हें सावधानी के साथ विद्यालय का पूरक बनकर चलना चाहिए। यदि विद्यालय को उनका सहयोग न मिला, तो यह बिल्कुल निश्चित है कि राष्ट्र निर्माण के कार्य में विद्यालय सफल नहीं हो सकेंगे। आज छात्रों की अनुशासन-हीनता की जो शिकायतें सुनने को मिलती हैं, उनका बहुत अंश में कारण अपने बच्चों के व्यवहार के प्रति अभिभावकों की उदासीनता है। अध्यापक वर्ग भी उसमें दोषी है परन्तु उतना नहीं जितना कि उसे कहा या समझा जाता है।

७—जो प्रौढ़ और वयस्क लोगों के लिए भी शिक्षण की व्यवस्था करते रहते हैं:—

शिक्षा सम्पूर्ण जीवन-व्यापिनी प्रक्रिया है। मनुष्य जीवन-भर—मृत्यु-पर्यन्त सीखता रहता है। विद्यालय छोड़ने के बाद भी प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा की आवश्यकता रहती है। उनको शिक्षित करते रहने का उत्तरदायित्व भी विद्यालय को सँभालना चाहिए। यदि विद्यालय सचमुच अपने चारों ओर विद्यमान सामाजिक जीवन का संक्षिप्त रूप है, तो वह सदैव इस स्थिति में रहेगा कि समाज के लोग उसके सम्पर्क में आकर अपने-अपने विशिष्ट कार्य तथा सामान्य सामाजिक जीवन के विषय में उससे सीखते रहें।

विद्यालयों द्वारा यह उत्तरदायित्व सँभाल लिए जाने पर समाज और विद्यालय—दोनों को अनेक लाभ होंगे। उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं —

(अ) समाज के लोगों को विद्यालय-जीवन में आचरण के विषय बने हुए आदर्शों से नवीन प्रेरणाएँ प्राप्त होंगी।

(आ) विद्यालय में कार्य करने वाले विभिन्न विषयों तथा कलाओं के विशेषज्ञों को समाज के नवीनतम आदर्शों तथा व्यवहारों को दृष्टि में रखकर अपने आदर्शों तथा

उसी के भीतर पूरी होती रहें। यदि छात्र कुछ घण्टे विद्यालय में रहें और अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शेष समय समाज के दूषित वातावरण में बिताएँ, तो न जाने कितने बुरे संस्कार वे बाहर से ले आएँगे और विद्यालय के पवित्र वातावरण में दुर्गन्धमय प्रदूषण का वे विष घोलते रहेंगे। इसीलिए छात्रों की निवास आदि की सभी आवश्यकताएँ विद्यालय में ही पूरी होनी चाहिए।

ऐसा करने से अन्य अनेक लाभ होंगे। बहुत से छात्र इतने निर्धन होते हैं कि उन्हें घर पर स्वास्थ्यप्रद भोजन नहीं मिल सकता। बहुतों के घर ऐसे होते हैं, जिनमें स्वतन्त्रता-पूर्वक एकान्त में पढ़ने का स्थान मिलना कठिन होता है। बहुतों के माता-पिताओं के अपने आचार-विचार इतने भ्रष्ट होते हैं कि उनका सम्पर्क विद्यालय के समस्त सुसंस्कारों को प्रभावहीन बना देता है। बहुत से छात्र कुसंग में पड़कर अपना अमूल्य समय बरबाद करने लगते हैं। बहुत से छात्र माता-पिता की गरीबी अथवा अमीरी के कारण नाना-प्रकार की कुभावनाओं तथा कुवृत्तियों के शिकार हो जाते हैं। यदि छात्रों की सभी आवश्यकताएँ विद्यालय मे ही पूरी हो सकें, तो वे अपने गुरुओं की देख-रेख मे सन्तुलित जीवन बिताने और अपने समय का अधिक से अधिक सदुपयोग करते हुए कम से कम व्यय मे अधिक से अधिक विद्या प्राप्त करके समाज के सुयोग्य पुत्र सिद्ध हो सकते हैं।

ऐसी स्थिति बननी चाहिए कि विद्यालय स्वतन्त्रता-पूर्वक छात्रों की उचित आवश्यकताओं को पूरा कर सकें। स्वतन्त्रता के लिए आर्थिक पर्याप्तता तथा बाह्य हस्तक्षेप का अभाव—ये दो आवश्यक शर्तें हैं। आदर्श स्थिति तो यह होगी कि विद्यालयों का सम्पूर्ण भार समाज अथवा राज्य वहन करे और छात्रों के अभिभावकों को सीधे सीधे विद्यालयों को कुछ न देना पड़े। ऐसा न होने पर बहुत से अभिभावक अध्यापकों को समाज के पूज्य सेवा-कर्ताओं के स्थान पर अपने नौकरों के समान मानकर ऐसी अवाछनीय परिस्थिति उत्पन्न कर सकते हैं, जिसमें अध्यापक-वर्ग आत्म-सम्मान तथा स्वतन्त्रता के साथ अपना उत्तरदायित्व न निभा सके। यदि ऐसा होना असम्भव हो, तो समृद्ध अभिभावकों से शुल्क आदि लिए जाएँ और निर्धनों का सम्पूर्ण भार उदारतापूर्वक समाज उठाए। बाह्य हस्तक्षेप कभी अभिभावकों की ओर से, कभी समाज के प्रभावशाली व्यक्तियों की ओर से, और कभी प्रबन्धकों की ओर से होता है। उस पर भी कठोर प्रतिबन्ध एवं नियन्त्रण रहना चाहिए।

६—जिन्हें छात्रों के अभिभावकों का पूर्ण सहयोग मिलता रहता है :—

छात्रों मे आधान करने के योग्य जिन गुणों की चर्चा ऊपर की पंक्तियों मे की जा चुकी है, उनका अच्छे प्रकार आधान हो जाए, इसके लिए निम्नलिखित पाँच बातें अत्यन्त आवश्यक हैं :—

(अ) छात्रों को उनसे सम्बन्धित जानकारी मिल जाए,

(आ) छात्रों के मन मे उन गुणों को अपने चरित्र का अंग बना लेने की महत्त्वाकांक्षा जग जाए;

ऐसे आयोजनो मे सामाजिक जीवन मे महत्व मिलेगा, और समाज सेवी व्यक्ति स्वत उनकी ओर सेवा और सहायता प्राप्त करने के लिए आकृष्ट होगे।

६—जो समाज के अन्य अभिकरणो द्वारा आयोजित सांस्कृतिक गतिविधियों मे भी अपना उचित योग-दान करते रहते हैं --

समाज मे कुछ ऐसी भी गति विधियाँ चलती रह सकती हैं, जिनका आयोजन समाज के स्वतन्त्र अभिकरणो द्वारा किया जाता है। ऐसे आयोजनो मे विद्यालय को, जो भी सहायता और सेवा संभव हो, करनी चाहिए। शिक्षकों के नेतृत्व मे छात्रो के दल जाकर प्रबन्ध-व्यवस्था मे व्यवस्थापको की सहायता कर सकते हैं। सजावट मे सहायता करना, विज्ञापन करना, जल पिलाना, भूले भटको को यथास्थान पहुँचाना, रोगियों के लिए चिकित्सा की व्यवस्था करना, आगन्तुको को यथास्थान बैठाना तथा आवश्यकता पड़ने पर शान्ति स्थापित करना आदि—ऐसे अनेक कार्य हैं, जिनमे विद्यालय के छात्र उपयोगी कार्य कर सकते हैं। इससे विद्यालय को यश तथा जनता की श्रद्धा मिलेगी और छात्रो को सामाजिक अनुभव।

१०—जो प्रत्येक स्तर पर छात्रों को अध्येय वस्तु चुनने तथा शिक्षण-काल की समाप्ति के उपरान्त उपयुक्त कार्य प्राप्त करने मे यथोचित सहायता करते हैं :—

विद्यालय-जीवन मे छात्रो के सम्मुख अध्येय विषय चुनने की बडी समस्या रहती है। कोई अभिभावक चाहते हैं कि उनका पुत्र या पुत्री डाक्टर बने, कोई चाहते हैं कि इन्जीनियर बने। छात्र की अपनी रुचि किसी और ओर होती है। कभी विभिन्न अध्यापक उसको विभिन्न क्षेत्रो मे भेजना चाहते हैं। यह परिस्थिति छात्र के लिए बहुत द्विविधा-जनक हो जाती है। इस परिस्थिति मे उद्धार भी विद्यालय ही कर सकता है। उसे चाहिए कि वह अपने सगठन मे ऐसे विशेषज्ञ रखे जो वैज्ञानिक ढङ्ग से जाँच-पड़ताल करके छात्रो तथा उनके अभिभावकों का पथ-प्रदर्शन कर सकें।

जब छात्र विद्यालय का स्नातक हो जाता है, तब उसके सामने जीविका की समस्या आती है। अपने छात्र को समाज के आर्थिक जीवन मे उचित स्थान मिल सके, इसके लिए विद्यालय को भी प्रयत्न करना चाहिए। विद्यालय व्यवसायदर्शियों, सेवा-योजन कार्यालयों तथा औद्योगिक सगठनो से सम्पर्क रखकर अपने छात्रो को काम दिला सकते हैं और यदि कभी उनके तथा उनके वृत्ति-दाताओं के बीच मे कोई मतभेद या गलतफहमी उत्पन्न हो जाए, तो उसे दूर करने मे भी सहायता कर सकते हैं।

अध्ययन समाप्ति के पश्चात् भी विद्यालय की सहायता मिलते रहने से युवक गुरुजनो के प्रति श्रद्धावान् और विद्यालयो की आवश्यकताओ की पूर्ति मे सचेष्ट रहेगा। इस सम्बन्ध से समाज तथा विद्यालय—दोनों ही लाभान्वित होगे। अमेरिका आदि देशों मे ऐसी परम्परा है। उसकी समृद्धि के अनेक कारणों मे से एक यह भी है।

इस प्रसंग मे दूसरा प्रश्न यह है कि—'क्या करते हुए समाज अपने विद्यालयो से अधिक से अधिक लाभान्वित हो सकता है ?' हमारी सम्मति मे अधिक से अधिक लाभान्वित होने के लिए समाज को चाहिए कि—

व्यवहारों में संशोधन करने, और व्यावहारिक कुशलताओं के प्रकाश में अपने आचरणों तथा क[illegible] तौर तरीकों को बार बार सुधारने एवं निखारने का अवसर मिलेगा।

(ड) समाज के लोगों की दृष्टि में विद्यालय की प्रतिष्ठा तथा उसके आदर्शों की मान्यता में वृद्धि होगी, फलतः उसका सामाजिक स्तर ऊँचा हो सकेगा [illegible] वे अपने छात्रों के लिए अधिक [illegible] बन जाएँगे।

(ढ) विद्यालय को समाज के निर्माण में अभिभावकों तथा समाज के सदस्यों से अधिक से अधिक सहयोग मिल सकेगा। अध्यापक अभिभावकों का तथा अभिभावक अध्यापक का दृष्टिकोण समझ कर स्वयं को सतर्क रखेंगे, एवं छात्र और छात्रों को इधर उधर बातें मिलाकर काम टालने तथा अनुचित व्यवहार करने का अवसर नहीं रहेगा। अध्यापकों को यह भी अवसर रहेगा कि वे अभिभावकों तथा समाज के लोगों को उनके शिक्षा विषयक उत्तरदायित्व का अनुभव करा सकेंगे।

यह बात तो समाज के उन प्रौढ़ व्यक्तियों के विषय में रही, जिन्होंने स्वयं विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की है। अपने देश में दुर्भाग्य से ऐसे लोग भी हैं जिन्होंने किसी विद्यालय में कभी शिक्षा नहीं पाई। उनमें बहुत से तो ऐसे हैं, जो निपट निरक्षर हैं। ऐसे लोगों के लिए शिक्षा की व्यवस्था करने का उत्तरदायित्व भी विद्यालय को विशेष रुचि के साथ स्वीकार करना चाहिए।

अभिभावकों की ओर से असहयोग की जो शिकायत प्रायः विद्यालय की रहती है, वह अधिकतर ऐसे ही अभिभावकों की ओर से रहती है। यदि किसी प्रकार इनसे विद्यालय का सम्पर्क स्थापित हो जाए, तो सम्पूर्ण समस्या का अधिकांश स्वयं हल हो जाए। इस प्रकार शिक्षा के स्वरूप एवं महत्व से परिचित होकर अभिभावक स्वयं अपने बच्चों की शिक्षा में उचित रुचि लेने लगेंगे।

ट— जो अपने आपको समाज की सांस्कृतिक गति-विधियों का केन्द्र बना लेते हैं :—

प्रत्येक समाज में पुस्तकालयों तथा वाचनालयों के संचालन, विभिन्न उपयोगी विषयों पर अधिकारी विद्वानों के प्रवचन, राष्ट्रीय पर्वों के आयोजन तथा शिक्षा प्रद मनोरंजन-कार्यक्रमों के संगठन आदि के रूप में नानाविध सांस्कृतिक गति-विधियाँ चलती रहती हैं। इनके माध्यम से समाज के शिक्षित एवं अशिक्षित— सभी वर्गों के शिक्षण एवं मनोरंजन—दोनों होते रहते हैं। इन सबको जितने सुव्यवस्थित एवं सुसस्कृत रूप में विद्यालय चला सकता है, उतना कोई अन्य संगठन नहीं चला सकता। उसके पास अध्यापकों के रूप में विद्वान् एवं सुसंस्कृत कार्यकर्ता, छात्रों के रूप में उत्साही स्वयं-सेवक, क्रीडा-प्रांगणों के रूप में बड़े-बड़े मैदान तथा बैठने के लिए आवश्यक साज-सज्जा—सब कुछ होता है। अन्यों के नेतृत्व में चलाए जाने पर इन आयोजनों में जो गन्दगियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, विद्यालयों के नेतृत्व में वे भी नहीं हो सकेंगी और सांस्कृतिक जीवन का प्रवाह शुद्ध रूप में बहता रहेगा। विद्यालय को भी

ऐसे आयोजनो मे सामाजिक जीवन मे महत्व मिलेगा, और समाज-सेवी व्यक्ति स्वत: उनकी ओर सेवा और सहायता प्राप्त करने के लिए आकृष्ट होगे।

६—जो समाज के अन्य अभिकरणों द्वारा आयोजित सांस्कृतिक गतिविधियों मे भी अपना उचित योग-दान करते रहते हैं:—

समाज मे कुछ ऐसी भी गति विधियाँ चलती रह सकती हैं, जिनका आयोजन समाज के स्वतन्त्र अभिकरणो द्वारा किया जाता है। ऐसे आयोजनो मे विद्यालय को, जो भी सहायता और सेवा संभव हो, करनी चाहिए। शिक्षको के नेतृत्व मे छात्रो के दल जाकर प्रबन्ध-व्यवस्था मे व्यवस्थापकों को सहायता कर सकते हैं। सजावट मे सहायता करना, विज्ञापन करना, जल पिलाना, भूले भटको को यथास्थान पहुँचाना, रोगियो के लिए चिकित्सा की व्यवस्था करना, आगन्तुको को यथास्थान बैठाना तथा आवश्यकता पड़ने पर शान्ति स्थापित करना आदि—ऐसे अनेक कार्य हैं, जिनमे विद्यालय के छात्र उपयोगी कार्य कर सकते हैं। इससे विद्यालय को यश तथा जनता की श्रद्धा मिलेगी और छात्रों को सामाजिक अनुभव।

१०—जो प्रत्येक स्तर पर छात्रों को अध्येय वस्तु चुनने तथा शिक्षण-काल की समाप्ति के उपरान्त उपर्युक्त कार्य प्राप्त करने मे यथोचित सहायता करते हैं:—

विद्यालय जीवन मे छात्रो के सम्मुख अध्येय विषय चुनने की बड़ी समस्या रहती है। कोई अभिभावक चाहते हैं कि उनका पुत्र या पुत्री डाक्टर बने, कोई चाहते हैं कि इन्जीनियर बने। छात्र की अपनी रुचि किसी और ओर होती है। कभी विभिन्न अध्यापक उसको विभिन्न क्षेत्रो मे भेजना चाहते हैं। यह परिस्थिति छात्र के लिए बहुत द्विविधा-जनक हो जाती है। इस परिस्थिति मे उद्धार भी विद्यालय ही कर सकता है। उसे चाहिए कि वह अपने सगठन मे ऐसे विशेषज्ञ रखे जो वैज्ञानिक ढङ्ग से जाँच-पड़ताल करके छात्रो तथा उनके अभिभावकों का पथ-प्रदर्शन कर सकें।

जब छात्र विद्यालय का स्नातक हो जाता है, तब उसके सामने जीविका की समस्या आती है। अपने छात्र को समाज के आर्थिक जीवन मे उचित स्थान मिल सके, इसके लिए विद्यालय को भी प्रयत्न करना चाहिए। विद्यालय व्यवसायपतियों, सेवा-योजन-कार्यालयों तथा औद्योगिक सगठनो से सम्पर्क रखकर अपने छात्रो को काम दिला सकते हैं और यदि कभी उनके तथा उनके वृत्ति-दाताओ के बीच मे कोई मतभेद या गलतफहमी उत्पन्न हो जाए, तो उसे दूर करने मे भी सहायता कर सकते हैं।

अध्ययन समाप्ति से पश्चात् भी विद्यालय की सहायता मिलते रहने से युवक गुरुजनो के प्रति श्रद्धावान् और विद्यालयो की आवश्यकताओ की पूर्ति मे सचेष्ट रहेगा। इस सम्बन्ध से समाज तथा विद्यालय—दोनों ही लाभान्वित होगे। अमेरिका आदि देशो मे ऐसी परम्परा है। उसकी समृद्धि के अनेक कारणो मे से एक यह भी है।

इस प्रसग मे दूसरा प्रश्न यह है कि—'क्या करते हुए समाज अपने विद्यालयों से अधिक से अधिक लाभान्वित हो सकता है।' हमारी सम्मति मे अधिक से अधिक लाभान्वित होने के लिए समाज को चाहिए कि-

१—वह आर्थिक दृष्टि से असम्पन्न अध्यापक का भी सम्मान करे :—

विद्या और जल सदैव नीचे की ओर प्रवाहित होते हैं, इसीलिए सभी विद्वानों ने कहा है कि छात्र को गुरु के प्रति श्रद्धावान् होना चाहिए। हम एक कदम आगे बढ़कर यह कहना चाहते हैं कि केवल छात्र को ही नहीं, सम्पूर्ण समाज को अध्यापक के सम्मुख श्रद्धावान् होना चाहिए। यदि समाज की ऐसी वृत्ति रहेगी तो छात्र स्वयमेव श्रद्धालु होगा। इसका परिणाम यह होगा कि अध्यापक स्नेह से विद्यादान करेगा और छात्र तथा समाज—दोनों उससे लाभान्वित होंगे।

समाज द्वारा अध्यापक के प्रति सम्मान प्रकट करने का एक लाभ यह भी होगा कि समाज में युवकों द्वारा बड़ों का सम्मान करने की परम्परा बनेगी और सभी को सम्मान मिलेगा। जो व्यक्ति अपने विद्या-गुरुओं का आदर नहीं करेगा, वह अपने अशक्त एवं वृद्ध माता-पिता का आदर कर सकेगा, इसकी सम्भावना बहुत कम है।

२—वह ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करे कि अध्यापन के कार्य की ओर योग्य, प्रतिभा-सम्पन्न, सच्चरित्र एवं समाज-सेवी व्यक्ति आकृष्ट हों :—

किसी कार्य की ओर कोई व्यक्ति निम्नलिखित पाँच ही कारणों से आकृष्ट होकर आता है—

- (अ) व्यक्ति समझता हो कि उस कार्य को स्वीकार करके ही वह अपने आदर्शों के प्रति सच्चा रहते हुए समाज की सेवा कर सकता है,
- (आ) उस कार्य के माध्यम से ही वह जीवन में अभीष्ट सफलता प्राप्त कर सकता है,
- (इ) वह कार्य उसे समाज में समुचित सम्मान दिला सकेगा;
- (ई) उस कार्य से उसे समाज में सुख और सम्मान के साथ रहने योग्य धन मिल सकेगा;
- (उ) उसके लिए उस कार्य को स्वीकार करने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग ही नहीं है।

इन कारणों में से प्रथम, द्वितीय तथा पंचम कारण से जो अध्यापन कार्य स्वीकार करना चाहते हैं, वे तो प्रत्येक परिस्थिति में इस ओर आयेंगे ही। यदि सम्मान एवं अर्थ की दृष्टि से समुचित परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी जायें तो ये व्यक्ति निश्चिन्तता और प्रसन्नता के साथ अधिक से अधिक अच्छा काम कर सकेंगे और समाज इनसे पूरी तरह लाभान्वित हो सकेगा। तृतीय और चतुर्थ कारणों से अध्यापक बनने की इच्छा दुर्भाग्यवश आज के समाज में कोई नहीं करता। आज का समाज न तो अध्यापक का सम्मान करता है, और न उसे पर्याप्त धन देता है। फलतः प्रतिभा-सम्पन्न तथा सम्मान प्रिय व्यक्ति प्रथम तो इस ओर आते ही नहीं हैं और जो तात्कालिक परिस्थिति-जन्य [illegible] के कारण भूलकर इधर आ भी जाते हैं, वे अवसर मिलते ही अन्य व्यवसायों में चले जाते हैं। फल यह होता है कि जो रह जाते हैं, उनमें [illegible] ही [illegible] बहुत कम [illegible] और [illegible] हैं, जो [illegible] का जिनमें

चाहिए। यह स्थिति समाप्त होनी चाहिए। राष्ट्र के नेताओ को चाहिए कि वे अध्यापक की आर्थिक दशा मे ऐसा सुधार कर दें कि अच्छे व्यक्ति इस ओर आएँ और उनमे से भी उपयुक्त व्यक्ति चुनकर लिए जा सकें।

राज्य-सरकारें तथा केन्द्रीय सरकार अब इस विषय मे सावधान और सचेष्ट हो रही हैं। दुर्भाग्यवश मनुष्य निर्माण करने वाले सामाजिक अभिकरणो को उनकी ओर से प्राथमिकता नहीं मिल रही है। फलत एक तरफ समृद्धि बढ़ रही है परन्तु दूसरी ओर चरित्र गिर रहा है। एक दुभाग्यपूर्ण बात यह भी है कि जनता मे अपने-अपने बच्चो को शिक्षित करने की चेतना तो बढ़ रही है परन्तु अध्यापको की स्थिति सुधारने के विषय मे वह लगभग उदासीन है। एक बात सभी सम्बद्ध व्यक्तियो को समझ लेनी चाहिए कि अध्यापको की स्थिति मे सुधार किये बिना वर्कशॉपों सेमिनारो, आश्वासनो तथा उपदेशो से कोई लाभ होने वाला नही है।

३—वह विद्यालय के लिए वित्त तथा अन्य आवश्यक उपकरण उदारता के साथ जुटाए :—

विद्यालय के संगठन और सचालन के लिए किस प्रकार की साधन-सम्पत्ति अपेक्षित होती है, इसकी चर्चा अगले किसी अध्याय मे की जायगी। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि उसके जुटाने मे समाज को उदार वृत्ति रखनी चाहिए। बिना साधन-सम्पत्ति के अध्यापको का बहुत सा समय तथा श्रम व्यय चला जायगा।

४—वह विद्यालय द्वारा चाहे हुए सहयोग को प्रस्तुत करना अपना प्रथम कर्त्तव्य मानें :—

नई पीढ़ी के शिक्षण के विषय मे अभिभावको तथा समाज के कर्त्तव्य की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इस विषय मे समाज मे कर्त्तव्य-चेतना उत्पन्न होनी चाहिये। बहुत से अभिभावक तथा समाज के व्यक्ति विद्यालय के सहयोगी न बनकर आलोचक की भूमिका मे काम करते हैं। उचित यह है कि वे पहले सहयोग दें और यदि उसका उचित उपयोग न किया जाय, तब आलोचक बनें। कोरी आलोचना से विद्यालय के हाथ कमजोर होते हैं और राष्ट्र-निर्माण के कार्य मे बाधा पड़ती है। आलोचना करते समय यह बात तो सदैव ध्यान रखनी चाहिये कि वह छात्रों के सम्मुख कभी न की जाए।

५—वह विद्यालय द्वारा प्रयोजित गति-विधियों में उत्साह से भाग ले :—

शिक्षित-पुन. शिक्षण, अशिक्षित-शिक्षण, तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमो मे यदि समाज के लोग उत्साह से भाग नहीं लेंगे, तो वे गतिविधियाँ उत्साह-हीनता के वातावरण मे कुछ दिन चलकर बन्द हो जायेंगी। इसमे विद्यालय तो घाटे मे रहेगा ही, समाज को भी उसकी विशिष्ट योग्यताओ से लाभान्वित होने का अवसर नही मिलेगा। साथ ही असहयोग का एक ऐसा वातावरण समाज में बन जायगा कि समाज के छात्रो के समुचित विकास मे एक बड़ी बाधा उपस्थित हो जायगी। इसके साथ समाज को एक हानि यह भी होगी कि [illegible] का प्रसार रुक जायगा और नैतिक

अध्यापक बन्धुओं से हमारा नम्र निवेदन है कि इस कुचक्र को तोड़ने में वे पहल करें। अपने वर्गीय सङ्गठन तथा सुशिक्षण से वे वर्तमान समाज तथा भावी समाज (अपने छात्रों) दोनों को शिक्षक के महत्व और महत्ता का अनुभव कराने का प्रयत्न करें, जिससे आज का समाज जो कुछ कर सके—वह तो करे ही, अगली पीढ़ी का समाज अध्यापकों को समाज में उचित गरिमापूर्ण स्थान दे सके। समाज का प्रतिनिधि राज्य अपनी ओर से कुछ पहल कर रहा है परन्तु *मनचाही स्थिति बन जाने तक प्रतीक्षा* करना हमारे वर्ग के सम्मान के अनुकूल नहीं होगा।

परिवार और विद्यालय

समाज और विद्यालय के सम्बन्धों के विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है। अब थोड़ा सा विचार विद्यालय और परिवार के सम्बन्धों पर भी कर लेना चाहिए। परिवार समाज की सबसे छोटी सामाजिक इकाई होते हैं। समाज और विद्यालय के बीच सम्बन्धों की चर्चा की जा चुकी है, उनमें बहुत से परिवार के माध्यम से ही चलते हैं। उदाहरणार्थ—समाज के जो बच्चे विद्यालय में शिक्षा ग्रहण करते हैं, वे परिवारों में ही निकल कर वहाँ पहुँचते हैं। इसी प्रकार जो स्नातक विद्यालय से निकल कर समाज में जाते हैं, वे पहले परिवार का अंग बनकर ही समाज के अंग बनते हैं। *इसलिए विद्यालय और परिवार के सम्बन्ध पर विचार करना उचित ही है।*

परिवार : विद्यालय के पोषक

परिवार 'धन' और 'जन' द्वारा विद्यालयों के पोषक होते हैं। परिवारों से निकल कर ही बच्चे विद्यालय में जाते हैं अतः इस रूप में वे भी विद्यालयों के पोषक होते हैं। साधारणतया शुल्क के तथा कभी कभी दान के रूप में धन देकर वे विद्यालयों का आर्थिक पोषण भी करते ही हैं। अपनी सन्तानों को विद्यालयों में भेजे बिना परिवार अपने को कर्तव्य मुक्त नहीं समझते। इस प्रकार वे उन्हें मान्यता का पोषण भी प्रदान करते हैं।

परिवार : विद्यालय से पूरक

विद्यालय की सीमाओं से बाहर आकर छात्र अपना अधिकतर समय परिवार में तथा कुछ समय परिवार के बाहर खुले समाज में बिताते हैं। फलतः परिवार उन्हें विद्यालय में सीखे हुए विचारों के आचरण का अवसर प्रदान करते हैं। सामाजिक गुणों के अभ्यास के लिए आवश्यक आत्मीयता की जो कमी विद्यालय में रह जाती है, परिवार उसकी कमी की पूर्ति भी करते हैं। अध्ययन की दृष्टि से गृहकार्य आदि जो कुछ विद्यालय में नहीं किया जा पाता, परिवार उसके लिए उचित स्थान बन जाते हैं। व्यक्तित्व निर्माण के लिए आवश्यक भोजन छादन आदि की व्यवस्था करके भी परिवार विद्यालय के पूरक का ही कर्तव्य पूरा करते हैं। अच्छे शिक्षित एवं सुसंस्कृत परिवार अच्छा वातावरण बनाकर शिक्षा व विद्यालयेतर क्षेत्र में भी अपना योगदान

करते रहते हैं। उनसे विद्यालयों को सुसंस्कृत बच्चे मिलते हैं, जिन पर विद्यालयों को अपेक्षाकृत कम श्रम व्यय करना पड़ता है।

परिवार : विद्यालय के आदर्श

परिवार विद्यालय के आदर्श भी होते हैं। छात्र स्नातक बनकर पहले परिवारों में ही जाते हैं और वहाँ आदर्श पुत्र, पति, पिता, पुत्री, पत्नी, माता, भाई तथा बहन आदि के रूप में उत्तरदायित्व वहन करते हैं। विद्यालय को सदैव यह ध्यान रखना पड़ता है कि जहाँ उसके स्नातक सार्वजनिक जीवन के विभिन्न पदों पर योग्यतापूर्वक काम कर सकें, वहाँ वे पारिवारिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह में भी अयोग्य न सिद्ध हों। उसे अपने पाठ्यक्रम आदि का निर्धारण इस बात को भी दृष्टि में रखकर करना पड़ता है। इस प्रकार परिवार विद्यालय के लिए आदर्श रहते हैं।

परिवार विद्यालय के लिए एक अन्य प्रकार से भी आदर्श होता है। किसी भी स्वस्थ और सुव्यवस्थित परिवार का सचालन जिन सिद्धान्तों के आधार पर होता है और उसके सदस्य जिस प्रकार परस्पर अधिकारों और कर्त्तव्यों की मर्यादाओं से बँधे रहते हैं, सम्पूर्ण समाज तथा विद्यालय में भी उन्ही को मान्यता मिलनी चाहिए। जो विद्यालय इस प्रकार परिवार को आदर्श समझते हैं, उनमें अनुशासन और व्यवस्था की समस्याएँ कभी उत्पन्न नहीं होतीं। इसी बात को दृष्टि में रखकर एक विद्वान् ने कहा है—"परिवार सामाजिक व्यवहार की प्रथम पाठशाला होते हैं।"

विद्यालय की स्थिति

समाज और विद्यालय के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण करते हुए यह दिखाया जा चुका है कि वे परस्पर पोषक, पूरक तथा आदर्श होते हैं। यही बात परिवार तथा विद्यालय के सम्बन्धों के विषय में समझनी चाहिए। विद्यालय परिवारों से अशिक्षित बच्चों को लेते हैं और उन्हें पूरी तरह शिक्षित एवं योग्य बनाकर परिवारों को वापस कर देते हैं। इस प्रकार वे परिवारों के पोषक होते हैं। बच्चे परिवारों में उत्पन्न होते हैं। उन्हें शिक्षित करना प्रथमतः परिवारों का ही उत्तरदायित्व है। इस उत्तरदायित्व को विद्यालय उठा लेते हैं, इस प्रकार वे परिवारों के पूरक होते हैं। ऊपर की पंक्तियों में कहा जा चुका है कि विद्यालय समाज के संक्षिप्त, सरलीकृत एवं परिष्कृत रूप होते हैं। इस कारण उनमें सभी परिस्थितियाँ आदर्श रूप में रखी जाती हैं। अपनी आदर्श परिस्थितियों के कारण वे परिवार के लिये आदर्श होते हैं। जो व्यवहार सिद्धान्त विद्यालय में चलते हैं, यदि उन्हें परिवार अपनाए रहें, तो वे सुख-शान्ति सम्पन्न तथा तेजस्वी बने रह सकते हैं।

परस्पर उपयोगी कैसे हों ?

विद्यालय तथा समाज के विषय में इस प्रश्न का उत्तर विचार ... किया जा चुका है। उसे दुहरा थोड़े से परिवर्तन के साथ इस प्रश्न का उत्

आता है। इसलिए इस विषय मे अधिक लिखकर पुस्तक का कलेवर नही बढ़ाया जा रहा है। पाठक वहीं देखने की कृपा करें।

उपसंहार

इस प्रकार विद्यालय, समाज तथा परिवार से सम्बन्धित प्रश्नों पर संक्षेप से विचार हो चुका है। इसमे जितनी बातें विद्यालय के संगठन और सचालन के लिए उपयोगी हैं, उनका ध्यान रखते हुए किस प्रकार अध्यापक, प्रधानाध्यापक तथा कर्मचारी काम करें—इसकी चर्चा अगले अध्यायो मे की जायगी।

४

भारतीय विद्यालयों का साध्य तथा कार्य-पद्धति

अध्याय-संक्षेप—

प्रस्तावना, "सफल जीवन" पहले निर्णय, सफल जीवन का स्वरूप परस्पर-विरोधी, प्रतीक्षा नही की जा सकती, केवल एक मार्ग, संविधान-परि निर्णय, राष्ट्रीय पुनर्निर्माण मे लगा हुआ जीवन सफल; विशिष्ट समाज उपयुक्त व्यक्ति आवश्यक, जनतन्त्र का स्वरूप एव विशेषताएँ, जनतन्त्र आवश्यक गुण, कतिपय सामान्य गुण; विद्यालय का साध्य गुणाधान; विद्या सामान्य कार्य-पद्धति ।

प्रस्तावना

प्रथम अध्याय मे कहा जा चुका है कि समाज की उगती हुए पीढ़ी को जीवन बिताने के लिए आवश्यक गुणो मे भूपित करने की प्रक्रिया को 'शिक्षण' जाता है। यह भी वहीं कहा जा चुका है यह प्रक्रिया विधि-बद्ध रूप से विद्या चला करती है। इतने कथन से यह बिलकुल स्पष्ट है कि अपने देश के विद्याल एक मात्र साध्य नई पीढ़ी मे आवश्यक गुणो का आधान है। परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होती कि वे आवश्यक गुण कौन-से हैं, और उनका आधान किस किया जायगा ? प्रस्तुत अध्याय मे हम इन्ही दा ... देने ... क

"सफल जीवन"

जिन गुणो की चर्चा हम इस ...
आवश्यक मानते हैं क्योंकि वे ...

[आ]वश्यक होंगे। फलतः जब तक यह निर्णय न कर लिया जाये कि किस प्रकार के [जी]वन को सफल समझना उचित होगा, उसके लिये आवश्यक गुणों की चर्चा सम्भव [न]हीं है। आइये, पहले सफल जीवन के स्वरूप पर ही विचार कर लिया जाए।

सफल जीवन का स्वरूप

दर्शन परस्पर विरोधी—भारतवर्ष चिरकाल से विचार-स्वतन्त्रता-वादी देश [र]हा है। परिणामस्वरूप जितने दार्शनिक सम्प्रदाय यहाँ उत्पन्न हुए, उतने समार [के] सभी देशों मे मिलाकर भी नही हुए। उनके अतिरिक्त विदेशी आक्रमणों के साथ [आ]कर अनेक विदेशी विचार-धाराएँ भी यहाँ आकर जम गई। इस देश मे प्रचलित [दा]र्शनिक विचार-धाराओं की गणना की जाये, तो निश्चय ही उनकी सख्या कोडियों [मे] निकलेगी। मानव-जीवन के उद्देश्य का चिन्तन प्रत्येक दर्शन का प्रिय विषय होता [है]। प्रत्येक दर्शन मानव-जीवन के उद्देश्य के विषय मे कोई न कोई धारणा रखता है [औ]र साथ मे यह भी घोषणा करता है कि जो व्यक्ति अपने जीवन को उसके द्वारा [नि]र्धारित उद्देश्य की प्राप्ति मे खपा देता है, उसे ही अपने जीवन को सफल समझना [च]ाहिए। इतना ही नही, वह यह भी कहता है कि जिस व्यक्ति ने अपने जीवन को उसके द्वारा निर्धारित उद्देश्य की प्राप्ति मे नही लगाया, उसे समझना चाहिए कि उसका जीवन बिल्कुल नष्ट हो गया।

प्रतीक्षा नहीं की जा सकती—दार्शनिकों मे यह झगडा सृष्टि के आरम्भ से चल रहा है और कोई नही कह सकता कि कब समाप्त होगा। यदि किसी व्यक्ति को अपने लिए सफल जीवन का स्वरूप निश्चित करना हो, तो वह उनमे से जिसकी बात उसकी समझ मे आजाए, उसके पीछे चल सकता है। परन्तु हमे तो सम्पूर्ण समाज के लिए सफल जीवन का स्वरूप निर्धारित करना है, अतः हम किसी एक को अपना पथ-प्रदर्शक बनाकर नही चल सकते। और यदि प्रत्येक दार्शनिक से पूछ-पूछ कर प्रत्येक की पूर्ण सम्मति से सफल जीवन के स्वरूप को निर्धारित करने का प्रयत्न किया जाए, तो हमें उतनी ही सफलता मिलने की आशा है, जितनी मेढक तौलने के प्रयत्न में मिल सकती है। यह भी उचित एवं सम्भव नही है कि जब तक वे आपस मे पूरी तरह सहमत न हो लें, तब तक हम प्रतीक्षा करते रहें।

केवल एक मार्ग—ऐसी परिस्थिति मे हमारे सामने एक यही मार्ग रह जाता है कि हम उन सब विचारधाराओं मे से सामान्य तत्वों को ग्रहण करके उनके आधार पर "सफल जीवन का स्वरूप" बना लें और उसी को अपना राष्ट्रीय साध्य मानकर चल दें। इस प्रकार स्वरूप-निर्णय की बाधा को पार करने के पश्चात् उसके लिये आवश्यक गुणों के चिन्तन एवं निर्धारण—दोनों सरल हो जाएँगे।

संविधान परिषद् का निर्णय—शताब्दियों की पराधीनता के पश्चात् १५ अगस्त, १९४७ को भारत स्वाधीन हुआ। स्वाधीनता के साथ उसे स्वतन्त्र वायु-मडल मे साँस लेते हुए अपने लिए संविधान बनाने का अधिकार प्राप्त हुआ। इस

अधिकार का प्रयोग करने के लिए सम्पूर्ण देश के प्रतिनिधि संविधान परिषद् के रूप में एकत्रित हुए। इस संविधान-परिषद् में देश के सभी दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा वर्गीय हितों के प्रतिनिधि विद्यमान थे। सबने गम्भीर विचार विनिमय के पश्चात् एक विशेष प्रकार के राष्ट्रीय समाज तथा राज्य की स्थापना को अपने राष्ट्रीय प्रयत्नों का उद्देश्य निश्चित किया। अपने प्रयोजन की दृष्टि से हमें संविधान परिषद् के निर्णय को इस देश में विद्यमान समस्त विचार-धाराओं का सामान्यीकृत रूप मान लेना उचित प्रतीत होता है। शुद्ध दार्शनिक चिन्तन के आधार पर भी हम उस परिणाम पर पहुँच सकते हैं परन्तु अनावश्यक विस्तार के भय से हम उससे बचकर आगे बढ़ना उचित समझते हैं।

राज्य और राष्ट्र के भावी स्वप्न के विषय में भारतीय संविधान की प्रासंगिक पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं :—

"हम भारत के लोग भारत को एक सर्व-प्रभुत्व सम्पन्न जन-तन्त्रीय गणराज्य में परिणत करने तथा इसके समस्त नागरिकों के लिए सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, श्रद्धा तथा पूजा की स्वाधीनता और स्थिति तथा अवसर की समानता देने एवं व्यक्ति के गौरव तथा राष्ट्रीय एकता का आश्वासन देने वाली भ्रातृ-भावना को विकसित करने का गम्भीर निश्चय करके आज २६ नवम्बर, १९४९ को अपनी संविधान परिषद् में इस संविधान को स्वीकार करते, कानून का रूप देते तथा अपने आप को प्रदान करते हैं।"

"राज्य अधिक से अधिक प्रभावोत्पादक ढंग से एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था को जन्म देगा, जिसमें सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय की भावना राष्ट्रीय जीवन की समस्त संस्थाओं में व्याप्त रहेगी और वह उसकी रक्षा करते हुए जनता के कल्याण में प्रयत्न शील रहेगा।"

"राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की वृद्धि करने, राष्ट्रों के बीच न्यायानुमोदित एवं सम्मानपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना करने, सगठित राष्ट्रों के पारस्परिक व्यवहारों में सन्धियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के प्रति आदर-भाव भरने तथा अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के शान्तिमय निबटारों को प्रोत्साहन देने का प्रयत्न करेगा।"

राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में लगा हुआ जीवन सफल—इन उद्धरणों से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि राष्ट्र के प्रतिनिधियों ने मिलकर भारत को एक सर्वशक्ति सम्पन्न जन-तन्त्रीय गणराज्य तथा भारतीय जनता को एक शान्ति-प्रिय जनतन्त्रीय समाज में परिणत करना—अपने राष्ट्रीय प्रयत्नों का लक्ष्य निश्चित किया है। फलतः हम यह कह सकते हैं कि लौकिक दृष्टि से हमें उस जीवन को सफल समझना चाहिए, जो राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के ऊपर वर्णित स्वप्न को साकार करने में खप जाए। सफल जीवन का यह स्वरूप पारलौकिकता-प्रधान दर्शनों की मान्यताओं से एकदम विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि यह उनको व्यावहारिक रूप देने के लिए व्यक्तिगत जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्र को बिल्कुल स्वतन्त्र छोड़ देता है।

विशिष्ट समाज के लिए उपयुक्त व्यक्ति आवश्यक

किसी भी समाज की रचना व्यक्तियों से मिलकर होती है। जिस प्रकार किसी भवन की दृढ़ता अन्य बातों के साथ-साथ उसके निर्माण में प्रयुक्त ईंटों और गारे की उपयुक्तता पर भी निर्भर होती है, उसी प्रकार समाज को विशिष्ट प्रकार का बनाने के लिए विशिष्ट गुणों से युक्त व्यक्ति भी अनिवार्यतः आवश्यक होते हैं। जनतन्त्रीय समाज की स्थापना में उपयोगी होने के रूप में सफल जीवन का स्वरूप निर्धारित हो जाने पर अब हमारे सम्मुख यह प्रश्न स्वतः उपस्थित हो गया है कि इस प्रकार के समाज के लिये व्यक्ति में किन-किन *गुणों का आधान आवश्यक होगा ?* इस प्रश्न का उत्तर भी सीधे सीधे निकलना कठिन है। पहले हमें यह विचार कर लेना चाहिए कि अन्य तन्त्रों की तुलना में जनतन्त्र की अपनी कौन-कौन सी विशेषताएँ होती हैं। उनके आधार पर ही यह निश्चय किया जा सकेगा इस तन्त्र के लिए कौन-कौन से गुण उपयोगी होंगे।

जनतन्त्र का स्वरूप एवं विशेषताएँ

*साधारणतया यह समझा जाता है कि जनतन्त्र एक विशेष प्रकार की शासन-*पद्धति है। इसकी प्रसिद्ध परिभाषा 'जनता का, जनता के लिए, जनता द्वारा प्रशासन" ही इस धारणा का आधार प्रतीत होती है। परन्तु अब उसे केवल एक शासन-पद्धति ही नहीं, जीवन-पद्धति[1] माना जाता है। यदि "प्रशासन" शब्द का प्रयोग इतने व्यापक अर्थों में किया जा सके और मानव जीवन के आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में चलने वाले प्रशासन भी इसकी सीमा में आजाएँ, तो यह परिभाषा भी हमें "जीवन-पद्धति" का अर्थ दे सकती है। हमारे संविधान में "जनतन्त्र" शब्द इसी व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, यह बात सदैव हमारे ध्यान में रहनी चाहिए।

जीवन की समस्त पद्धतियों को एकतन्त्र, वर्गतन्त्र, तथा जनतन्त्र—इन तीन स्थूल वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। जैसा कि नामों से स्पष्ट है, जीवन-सम्बन्धी प्रत्येक प्रश्न एवं समस्या के हल के विषय में अन्तिम निर्णय करने का अधिकार एकतन्त्र में किसी एक परम्परागत अथवा निर्वाचित व्यक्ति को, वर्गतन्त्र में किसी विशिष्ट आधार पर बने हुए वर्ग को, तथा जनतन्त्र में सम्पूर्ण नागरिक-समष्टि

---

1 Democracy is "a mode of associated living of conjoint communicated experience."—*Democracy & Eduation*, p. 101.

It is a form of Government, it is a kind of economy, it is an order of society; it is all these things together.

—*The Education of Free Man in American Democracy*, p. 32.

"Unless Democracy comes to govern all human behaviour and unless it is reflected in all our thought & action; it can not survive."

(९) जो व्यक्ति अथवा वर्ग जितना ही अधिक असहाय अथवा असमृद्ध है, उसे इतनी ही अधिक सहानुभूति मिलनी चाहिए।

(१०) अल्पमतों को अपने हितों की रक्षा के लिए न्यायोचित संरक्षण मिलने चाहिए।

(११) मतभेदों को न केवल सहा जाना चाहिए, अपितु उन्हें आदर के साथ सुनकर उन पर विचार किया जाना चाहिए।

(१२) एक समाज के व्यक्तियों की भाँति सम्पूर्ण विश्व के सभी राष्ट्रों को भाईचारे, शान्ति और सहयोग के साथ रहना चाहिए।

संक्षेप में यों कह सकते हैं कि जनतन्त्रीय व्यवस्था स्वतन्त्रता, समता, विश्व-बन्धुत्व एवं योग्यता से महान् आदर्शों से अनुप्राणित होकर चलती है। अन्य तन्त्रों में या तो यह विशेषता होती ही नहीं है, और यदि होती भी है तो वह बहुत ही सीमित क्षेत्र में रहती है।

जनतन्त्र के लिए आवश्यक गुण

जनतन्त्र की इस विशेषता को समझ कर अब हम यह निश्चय कर सकते हैं कि इस पर आधारित राष्ट्र और समाज के निर्माण तथा संचालन के लिए उसके प्रत्येक व्यक्ति में किन गुणों का आधान आवश्यक होगा। हमारे विचार से जनतन्त्रीय व्यवस्था को दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक व्यक्ति में निम्नलिखित गुण उत्पन्न किये जाने चाहिए :—

१—अपने समाज के प्रत्येक व्यक्ति के साथ गहरा आत्मवद्भाव[1] ;

आत्मवद्भाव अनेकानेक सामाजिक गुणों का जनक है। उपरिलिखित जनतन्त्रीय मान्यताओं में व्यक्ति के जिन आधारभूत अधिकारों की चर्चा की गई है, उन्हें प्रत्येक व्यक्ति अपने लिये तो चाहता ही है, परन्तु अन्य व्यक्ति भी उन्हें अपने लिए चाह कर अनुचित नहीं करते, यह बात तभी समझ में आ जाती है, जबकि किसी की अनुभूति में यह बात उतर जाती है कि दूसरे भी अपने ही समान हैं। आत्मवद्भाव को ही दूसरे शब्दों में समता का भाव कहते हैं। इसके बिना जनतन्त्र की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

मनुष्य की कुछ ऐसी प्रकृति है कि वह दुःख चाहे, अकेले झेल ले परन्तु आनन्द मनाने के लिए साथी चाहता है। ऐसे अवसरों पर वह साथी भी उन्हें ही बनाना चाहता है, जिन्हें अपना आत्मीय मानता है। यह भी सम्भवतः प्रत्येक मनुष्य के स्वभाव का अंग ही है कि वह जिन्हें अपना आत्मीय मानता है, उनके दुःख में दौड़ कर सम्मिलित हो जाना चाहता है। जनतन्त्रीय व्यवस्था के सुसंचालन के लिए यह

---

१. आत्मौपम्येन भूतेषु समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ गीता ६।३२

आवश्यक है कि समाज अथवा राष्ट्र के प्रत्येक घटक (व्यक्ति) के हृदय में आनन्द में सम्पूर्ण राष्ट्र के अन्य व्यक्तियों को साथी बना लेने तथा दु:ख के स उनका सहयोगी बन जाने की भावना हो। इसी भावना को दूसरे शब्दों में भ या भ्रातृत्व की भावना भी कहते हैं। यह भावना प्रत्येक व्यक्ति मे जितनी ही गहरी होगी, वह दूसरों के हित की बात उतनी ही अधिक ममता के साथ स और जनतन्त्र ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थपरता, अनुदारता तथा छल आदि दुर्गुणों से समस्याओ से उतना ही अधिक निर्मुक्त होकर चलेगा।

२—वैयक्तिक एवं सामाजिक समस्याओं के विषय में व्यापक सामान्य ज्ञा

समाज की रचना किसी तन्त्र पर आधारित हो, अपनी व्यक्तिगत तथा निकटवर्ती समाज मे उठने वाली समस्याओ तथा उनके हलो से प्रत्येक व्यक्ति परिचित होना पड़ता है। उसके बिना उसका काम ही नहीं चल सकता। जनत व्यवस्था मे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत तथा निकटवर्ती सामाजिक समस को हल करने के साथ-साथ सम्पूर्ण समाज और राष्ट्र की समस्याओ के विषय चिन्तन एवं सम्मति-दान करना पडता है। सबकी सम्मतियों के सहारे ही राष्ट्र- का निर्धारण होता है। विशेषज्ञों की सम्मतियों पर भी अन्तिम मुहर जनता अ उसके प्रतिनिधियो को ही लगानी पड़ती है। स्वस्थ राष्ट्रनीति राष्ट्र को समृद्धि शिखर पर चढा देती है और अस्वस्थ राष्ट्र-नीति से वह सर्वनाश के गर्त मे गि विनष्ट हो जाता है। नागरिको मे स्वस्थ राष्ट्रनीति के निर्धारण की योग्यता व्या सामान्य ज्ञान से ही उत्पन्न हो सकती है। जिस राष्ट्र के नागरिको मे यह योग नही उत्पन्न हो पाती वहाँ का जनतन्त्र व्यवहारतः वर्ग तन्त्र मे बदल जाता है अन्त मे जनता को वर्ग-विशेष की इच्छाओं के अनुसार चलने के लिए विवश हो ज पड़ता है।

३— स्वस्थ चिन्तन, अभीष्ट प्रभावोत्पादक अभिव्यजन तथा सहचिन्त का अभ्यास :—

स्वस्थ चिन्तन—उपस्थित परिस्थिति मे पूर्वाग्रह-मुक्त वस्तुगत विश्लेषण सही सामान्य निर्धारण[3] तथा सत्यापन[4] पर आधारित चिन्तन को स्वस्थ कहा सकता है। उसमे चिन्तक के पूर्वाग्रहो तथा बाह्य प्रभावो का प्रवेश होते ही व अस्वस्थ हो जाता है। प्रत्येक विषय मे ठीक निर्णय पर स्वस्थ चिन्तन के माध्यम ही पहुँचा जा सकता है। सहचिन्तन तथा चुनाव-प्रचार के अवसरो पर जब विभि व्यक्ति परस्पर विरोधी विचार प्रकट करते हैं और जब भावनायें भड़का कर अपने अपने पक्ष मे सम्मति दान कराने का प्रयत्न चला करता है, तब व्यापक सामान्य ज्ञान से सम्पन्न तथा स्वस्थ चिन्तन का अभ्यासी व्यक्ति ही बहकाने से बच सकता है। अभ्य

1. Co-operative thinking. 2. Unprejud... obje... analysis. 3. Correct generalization 4. Ver...

प्रकार के तन्त्रों मे, जहाँ एक या कुछ व्यक्तियो को सबके बदले निर्णय करना पड़ता है, थोड़े से व्यक्तियो मे ही इस योग्यता के उत्पन्न कर लेने से काम चल सकता है, पर जनतन्त्री पद्धति मे यह गुण सर्वसाधारण मे उत्पन्न करना आवश्यक होता है।

जनतन्त्रीय पद्धति की एक कमी यह बताई जाती है कि उसमे निर्णय करने मे समय बहुत लगता है। अस्वस्थ चिन्तन के अभ्यासी व्यक्तियो के कारण ही यह आरोप लगा करता है। ऐसे व्यक्ति न तो दूसरे व्यक्तियो की बात जल्दी समझ पाते हैं, और न वे जल्दी यह जान पाते हैं कि उनकी स्थापना मे किस स्थल पर क्या दोष है। परिणाम यह होता है कि विचार-विनिमय वाद-विवाद मे बदल कर लम्बा खिचता चला जाता है। यदि विचार-विनिमय मे भाग लेने वाले सभी व्यक्ति स्वस्थ चिन्तन के अभ्यासी हो, तो व्यर्थ की बातचीत मे बिगड़ने वाला समय बच जाता है।

जीवन मे सफलता प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति के लिए यह अत्यन्त आवश्यक होता है कि वह अपनी तथा दूसरो की व्यक्तिगत विशेषताओ तथा कमियो की सीमाओ को स्पष्टतया समझे। इसके अभाव मे मानव-सम्बन्ध-मूलक अनेकानेक समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। स्वस्थ चिन्तन का अभ्यासी किसी अन्य की सीमाएँ जान पाए या न जान पाए, परन्तु अपनी सीमाओ को अच्छे प्रकार समझ लेता है और इस प्रकार प्राप्त आत्म-ज्ञान के सहारे बहुत सी उलझनो मे फँसने से बचा रहता है। उसकी इस वृत्ति से समाज को भी लाभ होता ही है।

अभीष्ट प्रभावोत्पादक अभिव्यंजन—अपने विचारो और भावो को अभीष्ट प्रभावोत्पादक रूप मे व्यक्त करना एक महत्त्वपूर्ण कला है। जब कभी निर्णय पारस्परिक विचार-विनिमय के बाद किये जाते हो, तब इस कला का महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है। यही कारण है कि जिस-जिस समाज मे जनतन्त्रीय पद्धति प्रचलित रही है, उस-उसमे इस कला को विशेष महत्त्व दिया गया है। वैदिक राष्ट्रगीत "आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो" मे भगवान् से प्रार्थना की गई है कि राष्ट्र के युवक सभाचतुर[1] हो। अमेरिका आदि जनतन्त्रीय देशो मे इस कला के शिक्षण के लिए अनेक विद्यापीठ खुले हुए हैं। कार्नेगी इन्स्टीट्यूट उन्हीं मे से एक है। प्राचीन यूनानी शिक्षा मे भी इसको महत्त्वपूर्ण स्थान मिला हुआ था।

इसके अभाव मे बहुत बार ऐसा होता है कि व्यक्ति अपनी सही बात भी दूसरो को नहीं समझा पाता और जिनके पास यह कला होती है वह अपनी गलत बात को भी श्रोताओ से मनवा लेता है। सहचिन्तन पर आधारित पद्धति मे यह विशेषता प्रत्येक नागरिक मे यथासम्भव अधिक से अधिक होनी चाहिए। *यहाँ अभिव्यंजना से* तात्पर्य लिखित और मौखिक—दोनो प्रकारो के अभिव्यंजनो से है। सभी जानते हैं कि जनतन्त्रीय पद्धति मे और विशेषतया आजकल समाचार-पत्रो आदि लिखित उपकरणो का महत्त्व मौखिक से अधिक हो गया है।

---

१. "सभेयो युवास्य यजमानस्य जायताम्।"

सहचिन्तन—जनतन्त्रीय पद्धति में प्रत्येक समस्या का हल सहचिन्तन के माध्यम के किया जाता है। बौद्धिक स्तर पर सम्पूर्ण जनतन्त्रीय व्यवस्था सहचिन्तन का ही विशाल रूप है। इसमें विचार-विनिमय अनेक औपचारिक समूहों में होता है। जनतन्त्रीय समाज के घटकों को विभिन्न प्रकार के समूहों की रचना तथा कार्य-पद्धतियों से परिचित होना चाहिए। उन्हें आत्मसंयम का इतना अभ्यासी भी होना चाहिए कि वे सदैव शिष्ट तथा यथावसरभाषी रहें। इस गुण के अभाव में समूह ठीक निर्णय तो कर ही नहीं पाते, वे कभी-कभी युद्ध-भूमि का रूप धारण कर लेते हैं। जिन्हें सहचिन्तन का अभ्यास नहीं होता, वे अत्यन्त प्रतिभा सम्पन्न होते हुए भी जनतंत्रीय नागरिक का कर्तव्य कदापि नहीं निभा सकते।

४—मिल-जुलकर काम करने का अभ्यास :—

जनतन्त्रीय पद्धति में सहचिन्तन के आधार पर किये हुए निर्णयों को क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व भी सबके ऊपर ही होता है। जिस समय कोई समूह किसी काम में जुटा हुआ होता है, उस समय उसके प्रत्येक सदस्य की तीन में एक स्थिति अवश्य होती है। प्रत्येक व्यक्ति या तो उस समूह का नेता होता है, या नेता का सहयोगी होता है, या होता है उसका अनुगामी। जो व्यक्ति इन तीनों में से कोई स्थिति नहीं बना पाता, वह उस समूह की दृष्टि से व्यर्थ होता है और वह उसमें निभ नहीं पाता है। इस विषय में जो स्थिति छोटे समूहों की होती है, वही विशालतर परिमाण में समाज की होती है।

ऐसे समूहों में काम करने वाले व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह समूह की सफलता को ही अपनी व्यक्तिगत सफलता अनुभव करता हुआ अपना सर्वोत्तम सहयोग अपने सहकारियों को दे और अन्यों के सहयोग को सद्भावना के साथ स्वीकार करे। उसके मन में अपनी स्थिति तथा कार्य के विषय में अहंकार तथा ग्लानि का भाव कभी नहीं उत्पन्न होना चाहिए। इस प्रकार का व्यवहार वस्तुतः अभ्यास का विषय होता है। इसके बिना बहुधा उचित मानते हुए भी बहुत से लोग समूहों में पूर्ण मनोयोग से काम नहीं कर पाते और बहुत बढ़िया-बढ़िया योजनाएँ यों ही पड़ी रह जाती हैं। अपने देश में योजनाओं के क्षेत्र में जो शिकायतें सुनने को मिलती हैं, उनसे कारणों की खोज इस दृष्टि से भी की जानी चाहिए।

५—कर्त्तव्यनिष्ठा :—

जनतन्त्रीय समाज के प्रत्येक घटक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने कर्त्तव्यों के प्रति निष्ठावान् तथा अन्यों के अधिकारों का सम्मान करने वाला हो। ऐसी स्थिति रहने पर प्रत्येक के अधिकार स्वतः सुरक्षित रहेंगे। विपरीत स्थिति में सर्वत्र अस्तव्यस्तता फैल जायगी, सौहार्द नष्ट हो जाएगा और पद-पद पर पुलिस की सहायता से काम चलाना पड़ेगा।

ऐसा नहीं समझना चाहिए कि किसी राष्ट्र में व्यक्ति की कर्त्तव्यनिष्ठा का क्षेत्र राज्य के क्रिया-कलाप ही होते हैं। वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति परिवार आदि अनेक

सामाजिक समूहों का सदस्य होता है और उससे आशा की जाती है कि वह सर्वत्र कर्त्तव्यनिष्ठ रहे। पुत्र, भाई, पिता, बहन, माँ, पति, पत्नी, मित्र तथा पड़ोसी आदि सभी रूपों में उसे कर्त्तव्य-निष्ठ रहना चाहिए। उसे मर्यादोल्लंघन के विचार को तो *मन में भी नहीं* आने देना चाहिए।

कर्त्तव्य-निष्ठा की सबसे बड़ी शत्रु व्यक्तिगत सुख, लाभ, सम्मान तथा सुविधा को सर्व-प्राथमिकता देने की भावना है। दूर-दृष्टि से विचार करने से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि यह भावना समाज के *विभिन्न अंगों की सेवा-कुशलता को क्षति पहुँचाती* हुई मन में ऐसी भावना रखने वाले व्यक्ति के लिए भी हानिकर एवं दुःखदायी सिद्ध होती है। ऐसी व्यापक दृष्टि प्रत्येक व्यक्ति के पास नहीं होती। ऐसे विरले ही महानुभाव होते हैं, जो एकान्त में भी कर्त्तव्यच्युत नहीं होते। परन्तु दृढ़ कर्त्तव्यनिष्ठा का आधान जनतन्त्रीय व्यवस्था की आधारभूत आवश्यकता है।

इस प्रसंग में यह बात विशेष रूप से ध्यान रखनी चाहिए कि जनतन्त्रीय नागरिक का यह भी एक कर्त्तव्य ही है कि वह कभी भी राष्ट्रीय जीवन से तटस्थ अथवा उदासीन न रहे। जो तन्त्र जनता के सक्रिय सहयोग पर ही आधारित है, *उसमें तटस्थता अथवा उदासीनता किस प्रकार क्षम्य मानी जा सकती है?* उसमें तो प्रत्येक नागरिक को अपनी सम्पूर्ण शक्ति से भाग लेते ही रहना चाहिए।

६—उदारता-मूलक सहिष्णुता :—

जनतन्त्रीय पद्धति की आधारभूत मान्यताओं में से छठी, आठवीं, दसवीं तथा ग्यारहवीं के अनुसार वही राष्ट्र आचरण कर सकता है, जिसके सदस्य सहिष्णु हों। उनकी सहिष्णुता का आधार भी विवशता की भावना नहीं, अपितु उदारता होनी चाहिए। आत्मवद्भाव तथा आत्मीयता की भावनाओं के उत्पन्न हो जाने पर उदारता-मूलक सहिष्णुता स्वयं उत्पन्न हो जाती है परन्तु विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करने *के लिये इसका पृथक् परिगणन कर दिया है।*

सम्पूर्ण मानव-जाति को एक विशाल भाईचारा मानकर सबके साथ शान्ति और सहयोग के साथ रहना सहिष्णुता के आधार पर ही चल सकता है। समाज में सुख-सुविधाओं का वितरण आवश्यकताओं की विभिन्नता के कारण तराजू के बराबर-बराबर तौल कर नहीं किया जा सकता। ऐसा करना जनतन्त्रीय विचारधारा की आधारभूत मान्यताओं के विरुद्ध होगा। इसमें तो प्रत्येक व्यक्ति को इतना उदार बनना पड़ेगा कि समाज के अन्य व्यक्तियों की सुख-सुविधा को ध्यान में रखते हुए अपने व्यवहार पर नियन्त्रण रखना, अधिक आवश्यकता ग्रस्त व्यक्तियों को प्रसन्नतापूर्वक अपने से अधिक सुविधाएँ मिल जाने देना, और अवसर आने पर अपनी सुख-सुविधाओं को अपने हाथ से दूसरों को दे डालना, उसके लिए आनन्ददायक बन जाय। प्रत्येक व्यक्ति को बहुमत के निर्णय को, व्यक्तिगत रूप से मतभेद रखते हुए भी आदर के साथ सहना ही पड़ेगा। कभी-कभी ऐसे निर्णय अपने व्यक्तिगत विरोधियों द्वारा

सहचिन्तन—जनतन्त्रीय पद्धति में प्रत्येक समस्या का हल सहचिन्तन के माध्यम से किया जाता है। बौद्धिक स्तर पर सम्पूर्ण जनतन्त्रीय व्यवस्था सहचिन्तन का ही विधान रूप है। इसमें विचार-विनिमय अनेक औपचारिक समूहों में होता है। जनतन्त्रीय समाज के घटकों को विभिन्न प्रकार के समूहों की रचना तथा कार्य-पद्धतियों से परिचित होना चाहिए। उन्हें आत्मसंयम का इतना अभ्यासी भी होना चाहिए कि वे सदैव शिष्ट तथा यथावसरभाषी रहें। इस गुण के अभाव में समूह ठीक निर्णय तो कर ही नहीं पाते, वे कभी-कभी युद्ध-भूमि का रूप धारण कर लेते हैं। जिन्हें सहचिन्तन का अभ्यास नहीं होता, वे अत्यन्त प्रतिभा सम्पन्न होते हुए भी जनतंत्रीय नागरिक का कर्तव्य कदापि नहीं निभा सकते।

४—मिल-जुलकर काम करने का अभ्यास :—

जनतन्त्रीय पद्धति में सहचिन्तन के आधार पर किये हुए निर्णयों को क्रिया-न्वित करने का उत्तरदायित्व भी सबके ऊपर ही होता है। जिस समय कोई समूह किसी काम में जुटा हुआ होता है, उस समय उसके प्रत्येक सदस्य की तीन में एक स्थिति अवश्य होती है। प्रत्येक व्यक्ति या तो उस समूह का नेता होता है, या नेता का सहयोगी होता है, या होता है उसका अनुगामी। जो व्यक्ति इन तीनों में से कोई स्थिति नहीं बना पाता, वह उस समूह की दृष्टि से व्यर्थ होता है और वह उसमें निभ नहीं पाता है। इस विषय में जो स्थिति छोटे समूहों की होती है, वही विशालतर परिमाण में समाज की होती है।

ऐसे समूहों में काम करने वाले व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह समूह की सफलता को ही अपनी व्यक्तिगत सफलता अनुभव करता हुआ अपना सर्वोत्तम सहयोग अपने सहकारियों को दे और अन्यों के सहयोग को सद्भावना के साथ स्वीकार करे। उसके मन में अपनी स्थिति तथा कार्य के विषय में अहंकार तथा ग्लानि का भाव कभी नहीं उत्पन्न होना चाहिए। इस प्रकार का व्यवहार वस्तुतः अभ्यास का विषय होता है। इसके बिना बहुधा उचित मानते हुए भी बहुत से लोग समूहों में पूर्ण मनोयोग से काम नहीं कर पाते और बहुत बढ़िया-बढ़िया भावनाएँ यों ही पड़ी रह जाती हैं। अपने देश में दायित्वों के प्रति जो शिकायतें सुनने को मिलती हैं, उनके कारणों की खोज इस दृष्टि से भी की जाना चाहिए।

५—कर्त्तव्य-विवेक :—

जनतन्त्रीय समाज के प्रत्येक घटक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने कर्तव्यों के [illegible] तथा अन्यों के अधिकारों का सम्मान करने वाला हो। [illegible] रहकर [illegible] निर्णय में [illegible] अधिकारों [illegible] होकर, चाहे वे स्वयं ही [illegible] और [illegible] को [illegible] के रूप में [illegible] पड़ता है।

[illegible] कि किसी [illegible] को कर्तव्य [illegible] का प्रश्न [illegible] ही [illegible] है। वस्तुतः [illegible]

सामाजिक समूहों का सदस्य होता है और उससे आशा की जाती है कि वह सर्वत्र कर्त्तव्यनिष्ठ रहे। पुत्र, भाई, पिता, बहन, माँ, पति, पत्नी, मित्र तथा पड़ौसी आदि सभी रूपों में उसे कर्त्तव्य-निष्ठ रहना चाहिए। उसे मर्यादोल्लघन के विचार को तो मन में भी नहीं आने देना चाहिए।

कर्त्तव्य-निष्ठा की सबसे बड़ी शत्रु व्यक्तिगत सुख, लाभ, सम्मान तथा सुविधा को सर्व-प्राथमिकता देने की भावना है। दूर-दृष्टि से विचार करने से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि यह भावना समाज के विभिन्न अंगों की सेवा-कुशलता को क्षति पहुँचाती हुई मन में ऐसी भावना रखने वाले व्यक्ति के लिए भी हानिकर एवं दुःखदायी सिद्ध होती है। ऐसी व्यापक दृष्टि प्रत्येक व्यक्ति के पास नहीं होती। ऐसे विरले ही महानुभाव होते हैं, जो एकान्त में भी कर्त्तव्यच्युत नहीं होते। परन्तु दृढ कर्त्तव्यनिष्ठा का आधान जनतन्त्रीय व्यवस्था की आधारभूत आवश्यकता है।

इस प्रसंग में यह बात विशेष रूप से ध्यान रखनी चाहिए कि जनतन्त्रीय नागरिक का यह भी एक कर्त्तव्य ही है कि वह कभी भी राष्ट्रीय जीवन से तटस्थ अथवा उदासीन न रहे। जो तन्त्र जनता के सक्रिय सहयोग पर ही आधारित है, उसमें तटस्थता अथवा उदासीनता किस प्रकार अन्तक मानी जा सकती है? उसमें तो प्रत्येक नागरिक को अपनी सम्पूर्ण शक्ति से भाग लेते ही रहना चाहिए।

६—उदारता-मूलक सहिष्णुता :—

जनतन्त्रीय पद्धति की आधारभूत मान्यताओं में से छठी, आठवी, दसवी तथा ग्यारहवें के अनुसार वही राष्ट्र आचरण कर सकता है, जिसके सदस्य सहिष्णु हों। उनकी सहिष्णुता का आधार भी विवशता की भावना नहीं, अपितु उदारता होनी चाहिए। आत्मवद्भाव तथा आत्मीयता की भावनाओं के उत्पन्न हो जाने पर उदारता-मूलक सहिष्णुता स्वयं उत्पन्न हो जाती है परन्तु विशेष रूप में ध्यान आकृष्ट करने के लिये इसका पृथक् परिगणन कर दिया है।

सम्पूर्ण मानव-जाति को एक विशाल भाईचारा मानकर सबके साथ शान्ति और सहयोग के साथ रहना सहिष्णुता के आधार पर ही चल सकता है। समाज में सुख-सुविधाओं का वितरण आवश्यकताओं की विभिन्नता के कारण तराजू के बराबर-बराबर तौल कर नहीं किया जा सकता। ऐसा करना जनतन्त्रीय विचारधारा की आधारभूत मान्यताओं के विरुद्ध होगा। इसमें तो प्रत्येक व्यक्ति को इतना उदार बनना पड़ेगा कि समाज के अन्य व्यक्तियों की सुख-सुविधा को ध्यान में रखते हुए अपने व्यवहार पर नियन्त्रण रखना, अधिक आवश्यकता-ग्रस्त व्यक्तियों को प्रसन्नतापूर्वक अपने से अधिक सुविधाएँ मिल जाने देना, और अवसर आने पर अपनी सुख-सुविधाओं को अपने हाथ से दूसरों को दे डालना, उसके लिए आनन्ददायक बन जाय। प्रत्येक व्यक्ति को बहुमत के निर्णय को, व्यक्तिगत रूप से मतभेद रखते हुए भी आदर के साथ सहना ही पड़ेगा। कभी-कभी ऐसे निर्णय अपने व्यक्तिगत विरोधियों द्वारा

अहंकारपूर्वक समर्थित भी होते हैं। जिनमें ऐसी सहिष्णुता नहीं है, वे जनतन्त्रीय व्यवस्था नहीं चला सकते।

७—स्वावलम्बन-शीलता

विश्व का प्रत्येक प्राणी स्वतन्त्रता को प्यार करता है परन्तु वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति उसी सीमा तक स्वतन्त्र रह पाता है, जिस सीमा तक वह स्वावलम्बी होता है। यह बात व्यक्ति और समाज—दोनों पर समान रूप से लागू होती है। जो व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों की कृपा पर निर्भर रहता है, वह या तो अपने विचार और कार्य की स्वतन्त्रता खो बैठता है, या अन्यों का शोषक बन जाता है। दोनों प्रकार के व्यक्ति जनतन्त्रीय व्यवस्था की दृष्टि से अवांछनीय होते हैं, क्योंकि इसमें स्वतन्त्र रहना तथा स्वतन्त्र रहने देना—दोनों ही बातें आवश्यक होती हैं।

सब प्रकार के स्वावलम्बनों में आर्थिक स्वावलम्बन सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता है। आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी उसी व्यक्ति को कहते हैं, जो अपने व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह के योग्य धन अपनी योग्यता से कमा लेता है। वही व्यक्ति ऐसा कर सकता है, जो समाज अथवा राष्ट्र के लिए उपयोगी किसी कला अथवा विज्ञान में विशेष योग्यता प्राप्त करके उसका प्रयोग समाज के हित में करने लगता है। इससे न केवल वह व्यक्ति ही अपितु उसका समाज भी समृद्ध एवं आत्म-निर्भर बनता है। इस योग्यता को "जीविकोपार्जन-योग्यता" इस शीर्षक से भी कहा जा सकता है।

इस योग्यता को प्राप्त करके व्यक्ति तो स्वावलम्बी हो ही जाता है, समाज को भी उसकी योग्यता से बहुत बड़ा लाभ यह हो जाता है कि उसे विचार विनिमय के अवसर पर विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञों की व्यवहार-सिद्ध सम्मतियाँ प्राप्त होती रहती हैं और वह बेकार एवं परोपजीवी व्यक्तियों द्वारा उठाई हुई बहुत-सी समस्याओं से मुक्त रहता है।

आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से निरन्तर अधिकाधिक जटिल होते हुए समाज में किसी भी व्यक्ति के लिए अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बिल्कुल स्वावलम्बी बना रहना असम्भव है। ऐसे व्यक्ति को भी स्वावलम्बी ही समझना चाहिए, जो दूसरों द्वारा की हुई अपनी सेवा या सहायता के बदले श्रम या धन के रूप में और प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उपयुक्त मूल्य चुका देते हैं। परन्तु इस मूल्य को समाजानुमोदित विधियों से (भ्रष्टाचार का आश्रय लेकर नहीं) अर्जन प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं करना चाहिए। इसी व्यापक अर्थ में 'स्वावलम्बन' शब्द का प्रयोग इस प्रसंग में समझा जाना चाहिए।

८—जनतन्त्रीय पद्धति में अविचल आस्था :—

जनतन्त्रीय पद्धति में प्रत्येक स्तर एवं पग पर चलने वाले विचार-विनिमय में समाज के धनी और निर्धन, प्रतिभासम्पन्न और कमसमझ तथा प्रभावशाली और

सामान्य जन—सभी समानता के आधार पर भाग लेते हैं। उनमे निर्णयो मे कभी-कभी क्षोभजनक विलम्ब भी लग जाता है। कभी-कभी विचारको को एक-दूसरे की बुद्धि अथवा नियत मे भी सन्देह हो जाता है। कभी-कभी निर्णय गलत हो जाते हैं और पूरे समाज को घोर हानि उठानी पडती है। कभी-कभी निर्णय अपने हितो तथा मान्यताओ के सरासर विरुद्ध हो जाते हैं। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि इस पद्धति का परित्याग कर देने से प्रगति एव समृद्धि की गति तीव्र हो सकती है। ऐसी सब परिस्थितियो मे वही व्यक्ति दृढता से खडा रह सकता है, जिसको इस पद्धति मे दृढ आस्था हो।

ऊपर की पक्तियो मे कहा जा चुका है कि जनतन्त्रीय पद्धति समता, स्वतन्त्रता, भ्रातृत्व तथा योग्यता के पायो पर खडी रहती है। समता का अतियोग योग्य व्यक्तियों के अनादर मे परिणत हो सकता है। स्वतन्त्रता का अतियोग समाज मे उच्छृङ्खलता की स्थिति उत्पन्न कर सकता है। भ्रातृत्व के अतियोग से अपराधियो तथा जनतन्त्र-विरोधियों को उनकी दुरभिरुचियो से रोकना असम्भव हो सकता है। और योग्यतावाद के नाम पर जनता के जनतन्त्री अधिकार छीने जा सकते हैं। जिस व्यक्ति की जनतन्त्रीय पद्धति मे गहरी आस्था है, वह अपने व्यवहारो मे सब प्रकार के अतिवादो से दूर रहकर तथा अन्यो को भी रखकर जनतन्त्रीय व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त करता रहता है।

जब कभी जनतन्त्री राष्ट्रो का, अजनतन्त्रीय राष्ट्रो के साथ सघर्ष हो जाता है, तब प्रत्येक नागरिक की सच्ची परीक्षा का अवसर उपस्थित होता है। विदेशी जासूस धन और छल के बल से राष्ट्रीय रहस्या का पता लगाने, जनता म असन्तोष उत्पन्न करने तथा तोड-फोड के कार्यों को भडकाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसी परिस्थिति मे सकटो को वे ही जनतन्त्री राष्ट्र पार कर पाते हैं, जिनके घटक किसी प्रकार के के प्रलोभनो तथा दबाव मे आने स स्पष्ट इनकार कर देते है और अपने प्रिय व्यक्तित्व को आदर्शों के लिए छोड देने के लिए तैयार हो जाते हैं। यह विशेषता गम्भीर आस्था से ही उत्पन्न हो सकती है।

कतिपय सामान्य गुण

इन गुणो की चर्चा तो जनतन्त्रीय व्यवस्था को दृष्टि मे रख कर की गई है। कतिपय ऐसे गुण भी हैं, जो तन्त्र-निरपेक्ष है। यदि वे व्यक्तियो मे उत्पन्न हो जाएँ, तो समाज किसी भी तन्त्र पर आधारित रहे, सुखी और समृद्ध रहेगा। हमारे विचार से ऐसे गुणो मे से प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(१) सयम, (२) ज्ञान की न बुझने वाला प्यास, (३) स्वास्थ्य-चेतना, (४) समृद्धि कामना, (५) समय-पालन, (६) श्रम-प्रेम, (७) दृढ-संकल्पता।

यदि ये तथा ऐसे ही अन्य आवश्यक गुण समाज के प्रत्येक घटक मे उत्पन्न हो जाएँ अथवा किये जा सकें, तो जनतन्त्र अपनी समस्त विशेषताओ से युक्त तथा

५

विद्यालय के अंग-प्रत्यंग

अध्याय-संक्षेप—

प्रस्तावना; उत्पादक संगठन का स्वरूप; विद्यालय का विश्लेषण; छात्रों की स्थिति; विद्यालय के प्रत्यंग; उपसंहार।

प्रस्तावना

यदि ऊपरी दृष्टि से विचार किया जाए, तो विद्यालय अध्यापकों और छात्रों का एक समूह मात्र प्रतीत होता है। परन्तु यदि हमें विद्यालय की स्थापना अथवा उसका संचालन करने के लिए सामग्री जुटाने का काम करना हो, तो हमें प्रतीत होने लगेगा कि वह छात्रों और अध्यापकों का समूह-मात्र न होकर कुछ और भी है। कुछ अधिक गम्भीरता से विचार करने पर हमें यह दिखाई पड़ने लगेगा कि विद्यालय छात्रों और अध्यापकों की भीड़ के अतिरिक्त जो कुछ "और" है, वह इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसके बिना, जिस कार्य के लिए ये सब यहाँ एकत्रित हुए या किये गये हैं, वह हो ही नहीं पाएगा। इस अध्याय में हम विद्यालय का विश्लेषण करके यह दिखाना चाहते हैं कि विद्यालय का वास्तविक रूप क्या होता है और वह किन अंग प्रत्यंगों से मिलकर बनता है।

उत्पादक संगठन का स्वरूप

उत्पादक [illegible] अपने आप में साध्य, साधक, साधन, उपादान तथा [illegible] है। 'साध्य' [illegible]ध्य होता है, जिसको दृष्टि

मे रखकर उस संगठन की स्थापना की गई होती है और बाद मे उसका संचालन चलता है। 'साधक' वे लोग होते हैं, जो उस लक्ष्य को अपनाकर उस संगठन का संचालन करते हे। जो व्यक्ति अथवा वस्तुएँ उस उद्देश्य की प्राप्ति मे सहायक सिद्ध होती हैं, उन्हें 'साधन' कहा जाता है। साधनो की प्राप्ति तथा सुरक्षा के लिए किये गये प्रयत्न और उनका उपयोग करते हुए सम्पादित क्रियाकलाप 'साधना' कहलाते हैं। इन पाँचो मे से एक को भी हटा देने से संगठन की सत्ता समाप्त हो जाती है। यदि हम उसके साथ अत्यधिक उदारता प्रदर्शित करना चाहें, तो हम उसे निष्क्रिय संगठन कह सकते हैं।

विद्यालय का विश्लेषण

विद्यालय भी एक उत्पादक संगठन होता है। इसका साध्य वे उद्देश्य होते हैं, जिनको दृष्टि मे रखकर राष्ट्र अथवा उसके किसी प्रतिनिधि ने उसकी स्थापना की हुई होती है और तदनन्तर भावना रूप मे जिनका ध्यान उसके व्यवस्थापक सदैव रखते हैं। अपने देश मे विद्यालयों का साध्य क्या है, इसकी चर्चा पिछले अध्याय मे की जा चुकी है। विद्यालयों के वस्तुतः साधक वे अध्यापक होते हैं, जो उसके उद्देश्यो को सच्चे हृदय से अपना लेते हैं। सामान्य रूप मे अध्यापक मात्र को भी साधक कहा जा सकता है। साधन जड और चेतन—दोनो प्रकार के हो सकते हैं। विद्यालय की दृष्टि मे चेतन साधन छात्रो के अभिभावक तथा वे कार्यालय-सहकारी तथा भृत्य आदि होते हैं, जिनका प्रयोजन साधको, अर्थात् अध्यापकों को साधना मे सब प्रकार की सुविधायें पहुँचाना तथा असुविधाओं से मुक्त रखना होता है। अचेतन अथवा जड़ साधनो के रूप मे भूमि, भवन, साज-सज्जा आदि वस्तुओं का ग्रहण होता है। समस्त साधनो का प्रयोग करते हुए अध्यापक लोग जो अध्यापन, कार्यक्रम-निर्माण, उसका क्रियान्वयन तथा अनुशासन की स्थापना आदि कार्य करते हैं, उन्हें सामूहिक रूप से हम साधना कह सकते हैं।

छात्रो की स्थिति

इस वर्गीकरण को पढ़कर यह प्रश्न स्वभावतः मन मे उठता है कि इस संगठन मे छात्रो की क्या स्थिति होती है। विद्यालयो की स्थापना राष्ट्र की उगती हुई पीढ़ी मे कतिपय वाछनीय गुणो का आधान करके उसे राष्ट्र का उपयोगी सदस्य बनाकर निकाल देने के लिए होती है। इसी दृष्टि से छात्र विद्यालयो मे प्रवृष्ट किये जाते हैं। वे वहाँ न तो स्वेच्छा से आते हैं और न रहते हैं। उनकी प्रवृत्तियो को वहाँ नानाविध उपायो से सुसंस्कृत बनाया जाता है। इस दृष्टि से वे एक प्रकार के उपादान होते हैं। जड उपादानों की अपेक्षा इनमे यह विशेषता अवश्य होती है कि इनमे चेतन होने के कारण अपनी इच्छाशक्ति होती है और वे उसके अप्रयोग, कुप्रयोग तथा सुप्रयोग द्वारा अध्यापक के कार्य को कठिन एवं सरल बना सकते हैं।

७

विद्यालय के साधक

अध्याय-संक्षेप :—

(अ) समाज के प्रतिनिधि व्यवस्थापक—व्यवस्थापक का अर्थ, व्यवस्थापक का महत्त्व, व्यवस्थापकों के प्रकार, व्यवस्थापकों के दोष, व्यवस्थापकों के कर्त्तव्य, व्यवस्थापक के रूप में सरकारी शिक्षा-विभाग, शिक्षा-विभाग तथा अन्य विभाग, व्यवस्थापक के रूप में स्थानीय निकाय, व्यवस्थापक के रूप में निजी संस्थाएँ।

(आ) व्यवस्थापकों के सहयोगी अध्यापक—अध्यापक का महत्त्व, अध्यापक का उत्तरदायित्व, अध्यापक की योग्यता, नियुक्ति में सावधानी आवश्यक, अध्यापकों की नियुक्ति-विधि, अध्यापकों की संख्या, अध्यापकों का लिङ्ग, अध्यापकों का वर्गीकरण, अध्यापक तथा अन्य लोग, अध्यापक तथा विद्यालय का हित, शिक्षक-संघ, प्रधानाध्यापक—महत्त्व, प्रधानाध्यापक के गुण, प्रधानाध्यापक के कर्त्तव्य, (विद्यालय की आन्तरिक व्यवस्था, विद्यालय की बाह्य व्यवस्था), उपसंहार।

(अ) समाज के प्रतिनिधि—व्यवस्थापक

व्यवस्थापक का अर्थ

हम पहले ही कह चुके हैं कि 'विद्यालय' समाज का लघु रूप होता है और समाज विद्यालय की स्थापना और संचालन अपने कुछ उद्देश्यों की पूर्ति के लिये करता है। सिद्धान्ततः इन कार्यों के लिये सम्पूर्ण समाज उत्तरदायी अवश्य होता है किन्तु कार्य का वास्तविक भार और उसका सम्पादन समाज के कुछ प्रतिनिधियों के कन्धों पर

रहता है। समाज के इन प्रतिनिधियों को हम "व्यवस्थापक" की संज्ञा दे सकते हैं। जनतन्त्रीय शासन-प्रणाली में व्यवस्थापक का कार्य वहाँ की सरकार, वहाँ के स्थानीय निकाय अथवा वहाँ की निजी संस्थाएँ करती हैं। भारतीय गणतन्त्र में तीनों प्रकार के व्यावस्थापक पाये जाते हैं।

व्यवस्थापक का महत्त्व

समाज के प्रतिनिधि के रूप में व्यवस्थापक विद्यालय के मुख्य साधक होते हैं। समाज की शिक्षा-विषयक आवश्यकताओं एवं उसके उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु वे इन विद्यालयों की स्थापना एवं व्यवस्था करते हैं। किसी भी देश की शिक्षा की उत्तमता, सफलता एवं प्रभावशालिता अथवा उसकी निकृष्टता, विफलता एवं प्रभावहीनता शिक्षा के व्यवस्थापकों की योग्यता पर निर्भर होती है। शिक्षा के वातावरण, उसके साधनों, अन्य सहयोगी साधकों तथा पाठ्य-क्रम इत्यादि का चयन एवं संग्रह व्यवस्थापक ही करता है। यदि व्यवस्थापक उदार, परोपकारी एवं योग्य होंगे, तो वे समाज की आवश्यकताओं एवं शिक्षा-उद्देश्यों से तादात्म्य अनुभव करते हुए, उनकी पूर्ति के लिये सतत प्रयत्नशील रहेंगे।

व्यवस्थापकों के प्रकार

हम पहले कह आये हैं कि आधुनिक जनतन्त्रीय शासन-प्रणाली में व्यवस्थापक तीन प्रकार के हो सकते हैं—सरकार, स्थानीय निकाय एवं निजी संस्थाएँ तथा व्यक्ति। इनका शिक्षा-विषयक दृष्टिकोण अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। यदि यह दृष्टिकोण स्वस्थ एवं उदार हो, तो शिक्षा भी उन्नतिशील एवं समर्थ होगी। किन्तु यदि दृष्टिकोण संकुचित और स्वार्थपूर्ण है, तो शिक्षा-क्षेत्र में अनेक समस्यायें उठ खड़ी होंगी और शिक्षा का वातावरण विषाक्त हो उठेगा। हमारे देश में तीनों ही प्रकार के व्यवस्थापक शिक्षा-क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं। सभी भारतीय विद्यालय या तो सरकारी हैं, या जिला परिषद तथा नगर-पालिका जैसे स्थानीय निकायों के नियन्त्रण में हैं अथवा व्यक्तिगत हैं।

व्यवस्थापकों के दोष

यों तो सरकार का कुछ न कुछ नियन्त्रण सभी प्रकार के विद्यालयों पर है, किन्तु हमें खेद के साथ स्वीकार करना पड़ता कि किसी भी मापदंड से भारतीय-विद्यालय-व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं है। विद्यालयों में कुछ को छोड़ कर, अधिकतर की व्यवस्था अत्यन्त शोचनीय है। इस दयनीय दशा का बहुत कुछ उत्तरदायित्व भारतीय व्यवस्थापकों पर है। इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक भारत में शिक्षा का व्यापक प्रसार अत्यन्त आवश्यक है किन्तु इस परिस्थिति से लाभ उठाकर, शिक्षा-प्रसार के नाम पर, अपना स्वार्थ साधन करना और शिक्षा को माध्यम बनाकर, अपनी निकृष्ट आकांक्षाओं की पूर्ति करना देश-द्रोह एवं अक्षमता है। आज समाज में ऐसे व्यक्तियों को

कमी नहीं है जो शिक्षा को व्यापार बना बैठे हैं। वे जन-सेवा के बहाने, अपना उल्लू सीधा करते हैं और विद्यालय को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति समझ कर, उचित और अनुचित मार्ग का अवलम्बन कर, अपना स्वार्थ साधते हैं।

व्यवस्थापकों का कर्त्तव्य

एक सच्चे और उत्तम व्यवस्थापक के लिये अत्यन्त आवश्यक है कि वह समाज के शिक्षा-आदर्शों और उद्देश्यों में पूर्ण तादात्म्य अनुभव करे और उनकी पूर्ति के साधनों एवं मार्गों का उचित मूल्यांकन करे। व्यवस्थापक का पद अत्यन्त गौरवपूर्ण और सम्माननीय होता है। उसे निःस्पृह, कर्मनिष्ठ, एवं परोपकारी साधक के रूप में कार्य करना चाहिए। उसमें जन-सेवा की भावना ही सर्वोपरि होनी चाहिए। जब उसमें स्वार्थ-भावना आ जाती है, तब वह अपने गौरवपूर्ण पद से स्खलित हो, श्रीहीन हो जाता है। ऐसी दशा में वह उस श्रद्धा का अधिकारी नहीं रह जाता, [illegible] सच्चे साधक की अनुगामिनी होती है।

यदि व्यवस्थापक अपने उत्तरदायित्व को ठीक प्रकार से समझने [illegible] गौरवपूर्ण पद को निष्कलंक रख सके, तो आधुनिक शिक्षा में व्याप्त अनेक [illegible] का हल स्वयं निकल आवे। किन्तु जब तक व्यवस्थापक में स्वार्थ-भावना, [illegible] एवं लोलुपता रहेगी, और विद्यालय को निजी सम्पत्ति समझ कर उसका [illegible] होगा, जब तक होनहार भावी नागरिकों के जीवन से खिलवाड़ किया जा[illegible] जब तक अध्यापकों का शोषण होगा, तब तक शिक्षा का वातावरण विष[illegible] रहेगा और समस्याएँ बढ़ती ही जायेंगी। हमें प्रसन्नता है कि सरकार और स[illegible] दोनों ही इस दिशा में अधिक सतर्क हो रहे हैं और शिक्षा के पवित्र वातावरण [illegible] विषाक्त करने वाले गन्दे तत्त्वों को दूर करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

ऊपर कही गई कुछ कड़वी बातों के लिये हम क्षमा प्रार्थी हैं, किन्तु हमारा विश्वास है कि भारतीय राष्ट्र की नवोदित शिक्षा-व्यवस्था के लिये [illegible] प्रकार के ऐसे दूरदर्शी, बुद्धिमान, सुयोग्य व्यवस्थापकों की आवश्यकता [illegible] निःस्वार्थ सेवाभाव के साथ शिक्षा की बागडोर अपने सुदृढ़ और सुयोग्य हाथ[illegible] सकें, जिससे राष्ट्रीय शिक्षा के उचित स्वरूप का निर्माण हो सके। व्यवस्थाप[illegible] [illegible] जितनी उच्च कोटि की होगी, हमारी शिक्षा-व्यवस्था भी उतनी [illegible] [illegible] हो सकेगी। [illegible] हम शिक्षा-व्यवस्थापकों में उन सभी गुणों [illegible] [illegible] हैं, जो एक सच्चे साधक के लिए [illegible] हैं। [illegible]

[illegible]

हो स्वार्थ को, सर्वोपरि रखते हैं। देश और समाज की चिन्ता, देश और समाज का कल्याण, अधिकतर भारतीय व्यवस्थापकों के लिये गौण हैं, मुख्य है—अपना स्वार्थ। व्यवस्थापकों का कर्त्तव्य है कि वे अपनी वृत्ति में परिवर्तन करके देश के लिए अधिक उपयोगी बनें।

कोई भी देश अथवा राष्ट्र, जो अपने नागरिकों की कल्याण-कामना करता है, उपर्युक्त परिस्थिति को अधिक समय तक सहन नहीं कर सकता। उनके स्वयं सुधार न करने पर अन्य शक्तियाँ सक्रिय होंगी, जिनकी गति-विधियों का उनकी स्थिति पर विभिन्न रूप से अनभीष्ट प्रभाव अवश्य पड़ेगा।

व्यवस्थापक के रूप में सरकारी शिक्षा-विभाग

हम कह चुके हैं कि भारतीय शिक्षा-व्यवस्था की साधक तीन शक्तियाँ हैं —सरकार, स्थानीय निकाय, तथा विभिन्न व्यक्तिगत संस्थाएँ। व्यवस्थापक के रूप में सरकारी मशीनरी कुछ जटिल-सी है। सम्पूर्ण भारतीय जनतन्त्र की शिक्षा का कुछ उत्तरदायित्व संघीय सरकार के ऊपर है। इस उत्तरदायित्व को पूर्ण करने के लिये भारत सरकार में शिक्षा-मन्त्री एवं उपमन्त्री होते हैं और उनकी सहायता के लिये उनके आधीन शिक्षा-मन्त्रालय है। शिक्षा-मन्त्रालय एक महत्वपूर्ण विभाग है और इसमें अनेक अधिकारी एवं कर्मचारी कार्य करते हैं।

किन्तु भारतीय संविधान के अनुसार शिक्षा राज्य-सरकार का विशेष उत्तरदायित्व है अतः प्रत्येक राज्य के मन्त्रि-मण्डल में एक शिक्षा-मन्त्री होता है। स्वतन्त्र भारत में प्रत्येक राज्य का शिक्षा-विभाग एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विभाग माना जाता जाता है और उसकी बागडोर किसी सुयोग मन्त्री के करों में ही दी जाती है। मन्त्री के अधीन शिक्षा-विभाग के सम्पूर्ण अधिकारी, कर्मचारी, शिक्षा-सचिव एवं सभा-सचिव आदि कार्य करते हैं। शिक्षा-विभाग का सर्वोच्च अधिकारी शिक्षा-संचालक, शिक्षा-मन्त्री का मुख्य परामर्शदाता होता है और विभाग के कार्य का संचालन एवं शिक्षा-नीतियों का पालन उसका मुख्य उत्तरदायित्व होता है। शिक्षा-सचिव, शिक्षा-मन्त्री एवं शिक्षा-संचालक के बीच की कड़ी होता है।

शिक्षा-विभाग तथा अन्य विभाग

स्वतन्त्रता से पूर्व अन्य विभाग अथवा मन्त्रालय शिक्षा के क्षेत्र में हस्तक्षेप करते थे और अपने से सम्बन्धित शिक्षा-क्रियाओं पर प्रभुत्व बनाये रखते थे। किन्तु क्रमशः संघीय एवं राज्य सरकारें यह प्रयत्न कर रही हैं कि किसी भी प्रकार की शिक्षा पर शिक्षा-विभाग का ही प्रभुत्व हो और हर प्रकार की शिक्षा शिक्षा-मन्त्रालय का ही उत्तरदायित्व रहे। विभिन्न प्रकार की शिक्षा के बीच उचित सामंजस्य स्थापित करने के दृष्टिकोण से यह नितान्त आवश्यक है कि शिक्षा का संचालन एक ही विभाग (शिक्षा-विभाग) द्वारा किया जाय।

शिक्षा-मन्त्रालय एवं शिक्षा-विभाग के साथ अन्य मन्त्रालयों एवं विभागों का सहयोग अत्यन्त आवश्यक है। भारत की वर्तमान परिस्थिति में सभी विभागों के सहयोग से ही शिक्षा योजनाएँ सफल हो सकती हैं। सभी की शक्ति और सहयोग का बल पाकर ही शिक्षा आगे बढ़ सकती है।

समाज द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वे समाज की शिक्षा-विषयक आवश्यकताओं और उद्देश्यों की पूर्ति करें। अतः शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर जन-प्रतिनिधियों एवं अधिकारियों की विभिन्न समितियाँ और परिषदें होनी चाहियें। सम्पूर्ण देश की शिक्षा-विषयक विस्तृत योजना होनी चाहिए, जिसका स्वरूप और उद्देश्य—दोनों पूर्णतया स्पष्ट हों। इस योजना का निर्माण अत्यन्त सावधानी एवं जनमत के सहयोग से किया जाना चाहिए और फिर सभी सम्बन्धित समितियों तथा परिषदों को योजना को मूर्त रूप देने में जुट जाना चाहिए। इसी उद्देश्य से भारत सरकार तथा राज्य सरकारें विभिन्न समितियों और परिषदों का निर्माण कर रही हैं ताकि सामान्य शिक्षा, प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा और अन्य शिक्षा के बीच सन्तुलन और सामंजस्य स्थापित किया जा सके।

व्यवस्थापक के रूप में स्थानीय निकाय

दूसरी व्यवस्थापिक शक्ति 'स्थानीय निकाय' हैं। ये अर्द्ध-सरकारी संस्थाएँ हैं और सरकार के नियन्त्रण में रहती हैं। जिला परिषदें, नगर पालिकाएँ और इस कोटि की अन्य संस्थाएँ प्रायः प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करती हैं। इनमें से अधिकांश की आर्थिक परिस्थिति ठीक नहीं रहती और न उनमें शिक्षा-साधक की योग्यताएँ ही पाई जाती हैं। स्तर-बन्दी से ऊपर उठना प्रायः इनके लिये सम्भव नहीं हो पाता और न इनमें शिक्षा के उच्च आदर्शों की अनुभूति हो पाती है। कहीं कहीं इनके द्वारा शिक्षा की जो दुर्गति होती है, उसे देख सुनकर अशिक्षित लोग भी लज्जित हो उठते हैं। इस कारण यह अत्यन्त आवश्यक है कि सरकार और जनता इन स्थानीय संस्थाओं को उन्नत एवं कर्त्तव्यशील बनाने के लिए सजग होकर सहायता प्रदान करें। ग्राम पंचायतें, जिला परिषदें और नगर-पालिकाएँ व्यवस्थापक के रूप में बहुत प्रशंसनीय कार्य कर सकती हैं, बशर्ते कि उनके सदस्यों में जन सेवा की भावना प्रबल हो। हम अनुभव करते हैं कि जब तक भारत में जनतन्त्र की भावना दृढ़ न हो जाय, तब तक स्थानीय निकायों पर सरकार का कड़ा नियन्त्रण रहना परमावश्यक है।

व्यवस्थापक के रूप में निजी संस्थाएँ

तीसरी व्यवस्थापक शक्ति 'निजी संस्थाएँ' हैं। ये विभिन्न प्रकार की हो सकती हैं। इनमें धार्मिक संस्थाएँ, ट्रस्ट, निजी संस्थाएँ अथवा व्यक्ति हो सकते हैं। इन निजी संस्थाओं और व्यक्तियों ने [illegible] दिया है, जिससे शिक्षा विषयक कार्य पूर्ण [illegible] के बराबर [illegible] है। इनके विषय में बहुत कुछ कहा जा सकता है किन्तु [illegible] [illegible] को [illegible] [illegible] यह नहीं है। [illegible] इतना ही कहना

पर्याप्त होगा कि व्यवस्थापक के रूप मे व्यक्तिगत सस्थाओ और व्यक्तियों मे क्रान्तिकारी परिवर्तन एव सुधार अत्यन्त आवश्यक हैं। राष्ट्र का कल्याण इस बात मे निहित है कि शीघ्रता से हम देश मे व्याप्त धार्मिक एव जातीय संकीर्णताओ को समाप्त कर दें। धार्मिक एव जातीय सकीर्णताओ ने एक नही, अनेक बार देश को रसातल मे भेज दिया है। इनके ध्वसात्मक तत्वो को जितना शीघ्र नष्ट किया जा सके, उतना ही उत्तम होगा। धार्मिक एव जातीय सस्थाओ द्वारा सचालित विद्यालय प्राय. अराष्ट्रीय तत्वों के गढ़ हैं। इनमे प्राय दूषित वातावरण मिलता है, जो देश के भावी नागरिको के मस्तिष्क को विकृत एव सकुचित बना देता है। ट्रस्ट द्वारा सचालित विद्यालयो मे भी ट्रस्ट करने वाले की इच्छा ही सर्वप्रधान होती है। व्यक्तियों द्वारा संचालित विद्यालय तो पूर्णत अभिशाप ही सिद्ध हुए हैं।

इन सब बातो को देख-सुनकर बड़ी निराशा होती है। सरकार प्रयत्न कर रही है कि इस दिशा मे अपेक्षित सुधार हो। ऐसे शिक्षा-अधिनियम बनाये जा रहे हैं कि कोई भी अन-रजिस्टर्ड सस्था विद्यालय का संचालन न कर सके। व्यक्तियो को व्यवस्थापक के रूप मे समाप्त करने के लिये भी सरकार क्रियाशील हो रही है। क्या हम आशा करें कि भारतीय विद्यालयो के व्यवस्थापक सच्चे अर्थ मे साधक बनकर, निकट भविष्य मे एक महान् आदर्श की स्थापना करेंगे ?

(आ) व्यवस्थापकों के सहयोगी—अध्यापक

अध्यापक आवश्यक सहयोगी

समाज के प्रतिनिधि व्यवस्थापक विद्यालय की स्थापना करते हैं और उनके द्वारा वे समाज की शिक्षा-विषयक आवश्यकता एव शिक्षा-आदर्शों की पूर्ति का प्रयत्न करते हैं। किन्तु यह सम्भव नहीं है कि वे अकेले ही इस भार को वहन करके सफल हो जायें, अतः साधक के रूप मे उन्हें अपना सहयोगी नियुक्त करना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। यह सहयोगी अध्यापक-वर्ग के रूप मे प्राप्त होता है। साधना के क्षेत्र मे सहयोगी का महत्व व्यवस्थापक से भी अधिक ऊँचा उठ जाता है, क्योंकि साधना का प्रमुख भार सहयोगी के कन्धों पर डाल कर साधक निश्चिन्त हो जाता है।

अध्यापक का महत्त्व

सदैव से अध्यापक का पद समाज मे अत्यन्त ऊँचा और गौरवपूर्ण रहा है। सम्भव है, कतिपय विशेष परिस्थितियो मे और आधुनिक अर्थ प्रधान व्यवस्था मे, अध्यापक की स्थिति कुछ हेय समझी जा रही हो, किन्तु इतिहास साक्षी है कि अदि प्राचीन काल से ही अध्यापक का पद विशिष्ट एव सम्मानित रहा है। अध्यापक, नवीन पीढ़ी का निर्माता, नवीन राष्ट्र का निर्माता तथा भावी नागरिको का निर्माता आदि नामो से विभूषित किया जाता है। अध्यापक को समस्त शिक्षा व्यवस्था की धुरी माना गया है। कोई भी शिक्षा-योजना अध्यापक के बिना अपूर्ण है। अध्यापक की तुलना कुशल माली, कुशल कुम्हार, कुशल कारीगर तथा कुशल मार्ग-दर्शक आदि से

की गई है। जैसे मिट्टी और चाक मात्र को एकत्र कर देने से सुन्दर पात्रों का निर्माण सम्भव नहीं है, वैसे ही विद्यालय-भवन बनवा कर छात्रों को एकत्रित कर देने मात्र से ही शिक्षा का उद्देश्य सफल नहीं हो सकता। उनमे प्राण फूँकने के लिये कुशल कुम्हार की भाँति कुशल अध्यापक की साधना आवश्यक होती है।

अध्यापक का उत्तरदायित्व

सम्भव है आधुनिक शिक्षा के सन्दर्भ मे ऊपर की युक्ति पुरानी जँचे, किन्तु हमारा अभिप्राय केवल उसके भावार्थ मे है। आधुनिक शिक्षा मे अध्यापक का पद अधिक महत्वपूर्ण तथा पहले से अधिक उत्तरदायित्व पूर्ण हो गया है। मनोविज्ञान के अध्ययन और शोधो ने अध्यापक के कार्य और उत्तरदायित्व के नये-नये दृष्टिकोण उपस्थित किये हैं। समाज उनसे नवीन आशायें रखने लगा है। अध्यापन की प्राचीन मान्यताएं समाप्त हो रही हैं और अध्यापक के समक्ष नवीन आदर्शों की स्थापना हो रही है। अब अध्यापक का केवल माली, केवल कुम्हार अथवा केवल कारीगर ही होना पर्याप्त नही है। वह उससे बहुत ऊँचा उठ चुका है। आधुनिक शिक्षा मे अध्यापक का पद सर्वाधिक महत्वपूर्ण एव उत्तरदायित्वपूर्ण है क्योंकि अब उसके लिए क्रियाशील दार्शनिक बनना भी आवश्यक होगया है।

आधुनिक शिक्षा स्वरूपत. बालक-केन्द्रित है। बालक के रूप मे उसका उपादान एक सजीव प्राणी होता है। सजीव और चेतन उपादान एक विशिष्ट प्रणाली की अपेक्षा रखता है। उसका उपयोग निर्जीव, अचेतन सामग्री के सदृश नही हो सकता। इस सजीव प्राणी मे नैसर्गिक शक्तियाँ अन्तर्निहित होती हैं। उनके विकास के लिये समुचित वातावरण की आवश्यकता रहती है। इस प्रकार के वातावरण का सृजन अध्यापक का उत्तरदायित्व होता है। परन्तु केवल वातावरण उपस्थित कर देना ही पर्याप्त नही होता। सर्वाङ्गीण विकास के लिये समुचित निर्देशन एवं पथ-प्रदर्शन की भी आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता पूर्ति करना भी अध्यापक का ही उत्तरदायित्व है। प्राचीन काल के अध्यापकों के समान आधुनिक अध्यापक बालक की मानसिक प्रगति से ही संतुष्ट नहीं हो सकता। आज वह अपने आपको बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास के लिये उत्तरदायी समझता है। बालक की शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, संवेगात्मक तथा रागात्मक शक्तियों की, अपनी सामर्थ्य के अनुसार, चरम उत्कर्ष ही आधुनिक अध्यापक को सन्तुष्ट कर सकता है। आत्म-सतुष्टि ही साधक की साधना का प्रमुख लक्ष्य होता है। साधक के रूप मे अध्यापक को यह अनुभव होना चाहिए कि उसकी साधना पूर्णतया सफल हुई है।

अध्यापक की योग्यता

यदि आधुनिक अध्यापक का पद इतना महत्वपूर्ण है, तो उसकी योग्यताएँ क्या होनी चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर सक्षेप मे देना अत्यन्त कठिन है। किसी भी शिक्षा-व्यवस्था की सफलता अथवा विफलता उसके अध्यापकों पर निर्भर रहती है।

उत्तम से उत्तम शिक्षा-व्यवस्था बुरे अध्यापकों के हाथों में पड़कर निकृष्ट सिद्ध हो जायगी और निकृष्ट शिक्षा-व्यवस्था भी उत्तम शिक्षकों की सहायता से उत्कर्ष को प्राप्त कर सकती है अतः अध्यापकों के व्यक्तिगत गुण, उनकी शैक्षणिक योग्यताएँ, उनका जीवन-दर्शन, उनका चरित्र एवं व्यक्तित्व, आज असाधारण रूप से महत्वपूर्ण हो उठे हैं। समाज में विद्यालय की प्रसिद्धि और उसका प्रभाव विद्यालय के अध्यापकों पर ही पूर्णतः निर्भर है। व्यवस्थापक का कर्त्तव्य है कि अपने सहयोगी अर्थात् अध्यापक की नियुक्ति करते समय उसे भले प्रकार से जाँच-पड़ताल ले। विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्यापक की योग्यताएँ परख लेना नितान्त आवश्यक है। वर्तमान परिस्थितियों में तो सुयोग्य अध्यापकों का मिलना ही कठिन हो रहा है, क्योंकि वर्तमान अध्यापक की दयनीय एवं शोचनीय आर्थिक और सामाजिक दशा के फलस्वरूप आज शिक्षा-क्षेत्र सुयोग्य व्यक्तियों को आकर्षित करने में बिल्कुल असमर्थ है। फिर भी किसी उन्नत समाज में अध्यापक की आदर्श योग्यताएँ निम्नांकित प्रकार की होनी चाहिये :—

(१) शैक्षणिक योग्यताएँ—अध्यापक का प्रमुख कार्य है—अध्यापन। कुशल अध्यापक वही है, जो अध्यापन-कार्य में सफल हो। अध्यापन-कार्य में सफल होने के लिये अध्यापक के लिए विद्या-व्यसनी होना आवश्यक है। उसे अपने विषय में पारगत होना चाहिए। केवल प्रमाण-पत्र और डिग्रियों को प्राप्त कर लेने से ही कोई कुशल अध्यापक नहीं बन जाता है। उसे अपने विषय पर अधिकार होना चाहिये। जब तक अध्यापक किसी वस्तु का प्रतिपादन कक्षा में अधिकार-पूर्वक नहीं करेगा, तब तक उसका अध्यापन वांछित फल प्रदान नहीं कर सकता। विषय पर अधिकार—विषय का सम्यक् ज्ञान, अध्यापक की सर्वोपरि आवश्यकता है। अन्य गुणों में कुछ कमी हो तो समाज सहन भी कर सकता है, किन्तु अध्यापक में वांछित विद्या-विषयक योग्यता का अभाव वह कदापि सहन नहीं कर सकता है। जो कुछ अध्यापक कक्षा में कहता है, जो कुछ ज्ञान वह विद्यार्थियों को देना चाहता है, अथवा जिस विषय में वह विद्यार्थियों का पथ-प्रदर्शन करता है, वह विद्यार्थियों पर स्थायी प्रभाव डालता है। यदि अध्यापक का ज्ञान अधूरा है, यदि वह अपने विषय में पूर्ण पारगत नहीं है, तो वह विद्यार्थियों की बहुत बड़ी हानि कर सकता है। अन्य किसी भी व्यक्ति की बात को विद्यार्थी उतना प्रामाणिक नहीं मानता, जितना अपने अध्यापक की बात को। ऐसी स्थिति में यदि अध्यापक अशुद्ध कथन कर जाय, तो उसका क्या परिणाम होगा, इसकी कल्पना हम भले प्रकार कर सकते हैं।

इसलिये अध्यापक की विद्वत्ता सदेह से परे होनी चाहिए। इस प्रकार की विद्वत्ता अध्यापक कैसे प्राप्त करे ? उक्ति है कि अच्छा अध्यापक होने के लिये अच्छा विद्यार्थी होना आवश्यक है। विद्यार्थी-जीवन यदि उचित प्रकार से व्यतीत हुआ है, तो अध्यापक को विषय का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिये। किन्तु ज्ञान को कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती है। इसमें सदैव परिवर्तन होता रहता है, अतः अध्यापक को अपने ज्ञान को आधुनिकतम रखने के लिये स्वाध्याय, चिन्तन, मनन, अन्वेषण आदि

का आश्रय लेना पड़ता है। अध्यापक के लिये स्वाध्याय का अत्यधिक महत्व है। ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में नवीन बातों, तथ्यों तथा नवीन दृष्टिकोणों की वृद्धि होती रहती है। अध्यापक को अत्यन्त सतर्क, सजग और क्रियाशील होने की आवश्यकता है। विभिन्न स्रोतों से उसे अपने विषय की जानकारी बढ़ाते रहना चाहिये। अध्यापक जिस दिन विद्यार्थी बनना बन्द कर देगा, उसी दिन अध्यापक के रूप में उसकी क्षमता निस्तेज हो जायगी। निरन्तर स्वाध्याय, गहन चिन्तन एवं मनन ही उसे अध्यापक के गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित बने रहने में सहायक हो सकते हैं। विद्वत्ता, ज्ञान की गरिमा, विद्या-व्यसन एवं विचारशीलता अध्यापक के व्यक्तित्व के आवश्यक गुण हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक युग में अध्यापक का सामान्य ज्ञान भी उच्च कोटि का होना चाहिए। विज्ञान ने विभिन्न विषयों एवं ज्ञान-क्षेत्रों की प्राचीन धारणाओं और पारम्परिक सम्बन्धों को परिवर्तित कर दिया है। कोई भी विषय अपने आप में पूर्ण नहीं है। प्रत्येक विषय कुछ अन्य विषयों से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित है। विद्यार्थी को आज सम्यक् ज्ञान की आवश्यकता है। इस ज्ञान को विभिन्न स्वतन्त्र टुकड़ों में विभाजित किया जा सकता है। किसी विषय अथवा स्तर का अध्यापक सह-सम्बन्धित विषयों की उपेक्षा नहीं कर सकता है। उन विषयों की सामान्य जानकारी अध्यापक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यदि अध्यापक अपने विद्यार्थियों को अपने विषय का स्पष्ट और सुव्यवस्थित ज्ञान देना चाहता है, तो उसे अपने सामान्य ज्ञान की वृद्धि के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये। इसके लिए अध्यापक को सामयिक साहित्य एवं पत्र और पत्रिकाओं का अवलोकन करते रहना चाहिये।

भारतीय जनतन्त्र में विभिन्न शिक्षा-स्तरों के अध्यापकों की शैक्षणिक योग्यताएँ प्रायः निर्धारित कर दी गई हैं। प्राथमिक अथवा बेसिक शिक्षा के अध्यापकों को कम से कम मिडिल, जूनियर हाई स्कूल अथवा समकक्ष परीक्षा में उत्तीर्ण होना चाहिये। अब हाई स्कूल अथवा हायर सेकेण्डरी परीक्षा उत्तीर्ण करके भी लोग इसमें जाने लगे हैं। मिडिल अथवा जूनियर हाई स्कूलों के अध्यापक के लिए न्यूनतम शैक्षणिक योग्यता हाई स्कूल है। किन्तु अब इनमें अधिकतर हाई स्कूल अथवा हायर सेकेण्डरी उत्तीर्ण व्यक्ति लिये जा रहे हैं। कुछ स्नातक भी इन विद्यालयों में अध्यापन कार्य कर रहे हैं। माध्यमिक स्तर पर स्नातकोत्तर-परीक्षा उत्तीर्ण अध्यापक कार्य कर रहे हैं। उच्च शिक्षा में स्नातकोत्तर-परीक्षा-उत्तीर्ण और विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ अनुसंधान की डिग्रियाँ प्राप्त कर अध्यापन कार्य करते हैं। प्राविधिक एवं व्यावसायिक विद्यालयों में उस विषय के डिग्री अथवा डिप्लोमाधारी अध्यापक नियुक्त किये जाते हैं। उच्च शिक्षा-स्तर को छोड़कर प्रायः सभी प्रकार के अध्यापकों के लिए प्रशिक्षण अनिवार्य कर दिया गया है।

(२) स्वस्थ जीवन दर्शन—बालक अनुकरणशील एवं शीघ्र प्रभावित होने वाला प्राणी है। माता के बाद उसके जीवन को प्रभावित करने वाला प्रमुख व्यक्ति अध्यापक ही होता है। अध्यापक के विचारों और मान्यताओं का, मानव जीवन के

प्रति उसके विभिन्न दृष्टिकोणों का, तथा उसकी आधारभूत धारणाओं का बालक पर गहरा प्रभाव पड़ता है। ये प्रभाव प्राय. अमिट और स्थायी बन जाते हैं। विद्यार्थी कक्षा के भीतर और कक्षा के बाहर, अध्यापक द्वारा प्रकट किये गये दृष्टिकोणों को ग्रहण करता हुआ उनके अनुरूप अपने जीवन-दर्शन का निर्माण करता है। अत: अध्यापक का अपना जीवन-दर्शन अत्यन्त स्वस्थ एवं उदार होना चाहिए।

हम पहले ही कह आए हैं कि विद्यालय समाज का एक लघु रूप होता है। उसमे काम करने वाला अध्यापक समाज का एक अङ्ग है और उससे प्रभावित होता रहता है। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, आध्यात्मिक तथा सास्कृतिक क्षेत्रो मे समाज मे व्याप्त धारणाओ से अध्यापक अछूता नही रह सकता। वह उनसे प्रभावित होता है और अप्रत्यक्ष रूप मे विद्यालय को अपनी धारणाओ से प्रभावित करता रहता है। *इस प्रकार अध्यापक के माध्यम से विद्यालय समाज से अभिन्न रूप मे सम्बन्धित रहता है।* इस दिशा मे समाज और अध्यापक— दोनो ही को अत्यन्त सावधान रहना चाहिए। यदि अध्यापक का अपना जीवन दर्शन स्वय अस्वस्थ और सकुचित है, यदि वह स्वय अवाछनीय वादो और सिद्धान्तो से जकड़ा हुआ है, यदि वह अधविश्वासों और परम्पराओ का भक्त है, तो न तो वह विद्यालय को सही ढंग से चला सकता है और न अपने प्रयत्न से स्वस्थ, सबल और सजग नागरिको का निर्माण ही कर सकता है।

जो लोग यह मान लेते हैं कि अध्यापक का कार्य केवल अध्यापन है, उसके जीवन के प्रति व्यक्तिगत दृष्टिकोणो से हमे क्या करना है, वे वास्तव मे महान् भूल करते हैं। अध्यापक मे महान् शक्ति निहित होती है। अस्वस्थ तथा अवाछनीय दृष्टिकोण रखने वाला अध्यापक समस्त समाज को नष्ट-भ्रष्ट कर सकता है। जीवन के शाश्वत मूल्यो के प्रति श्रद्धा रखने वाला, उदारमना और आशावादी अध्यापक अपने छात्रों मे भी आशा और उत्साह उत्पन्न करता है। निराशावादी, सकीर्णमना और असफल-जीवन अध्यापक अपने छात्रो में भी इन्ही दृष्टिकोणों का सृजन करता है। समाज का आधुनिक जीवन अत्यन्त जटिल और दुरूह हो चला है। जीवन में अनेक समस्याएँ आती हैं और उनको सुलझाने का प्रयत्न करना पड़ता है। जीवन आज अनेक वादों और सिद्धान्तो के भँवर मे फँसा हुआ है। कालचक्र इतनी शीघ्रता से चल रहा है कि किसी को जैसे रुक कर सोचने का अवसर ही नहीं है। आज सक्रान्ति का, परिवर्तन का समय है। अत. अध्यापक का उत्तरदायित्व महानतर हो गया है। उसके कन्धों पर यह भार है कि वह भावी नागरिकों को जीवन का एक स्वस्थ, सुन्दर और उपयोगी दर्शन प्रदान करे। यह सरल कार्य नहीं है। इसमे सफल होने के लिये पहले अध्यापक को अपना जीवन-दर्शन उच्च और स्वस्थ बनाना होगा।

समाज की वर्तमान परिस्थितियों मे क्या अध्यापक का कोई सर्वमान्य जीवन-दर्शन हो सकता है? यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण किन्तु साथ ही अत्यन्त जटिल है। है। हम पूर्व ही सकेत कर चुके है कि आज सक्रान्ति एव परिवर्तन का युग है। वादों,

सिद्धान्त, विचारों और सतत परिवर्तित होती हुई मान्यताओं की घमाचौकड़ी में अध्यापक स्थिर नहीं रह सकता। विभिन्न परिस्थितियों के सम्पर्क का प्रभाव अध्यापक पर भी पड़ता है। उसका स्वयं का जीवन दर्शन भी परिवर्तित और परिवर्द्धित होता रहता है। फिर अध्यापक क्या करे ? समस्या जटिल है। जहाँ तक हम समझते हैं, इस विषय में अध्यापक को अधिक से अधिक उदार दृष्टिकोण अपनाना चाहिये। उसका आदर्श अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक कल्याण होना चाहिये। आवश्यक नहीं है कि अध्यापक अपने जीवन-दर्शन को विद्यार्थियों पर थोप दे। उसमें अध्यापक आवश्यकता पड़ने पर विभिन्न दृष्टिकोणों को निष्पक्ष भाव से विद्यार्थियों के सम्मुख उपस्थित कर देता है और फिर उन्हें अपने अनुकूल निष्कर्ष निकालने के लिये स्वतन्त्र छोड़ देता है। किन्तु साधारण परिस्थितियों में छात्रों का अध्यापक के जीवन-दर्शन से प्रभावित होना स्वाभाविक है। इन कारणों से अध्यापक का चुनाव करते समय उसकी मानसिक परिपक्वता और उसके जीवन-दर्शन का भी मूल्यांकन करना उचित है।

(३) चरित्र—अध्यापक के महत्वपूर्ण पद पर आसीन व्यक्ति का चरित्र भी समाज के लिए आदर्श एवं अनुकरणीय होना चाहिए। अध्यापक के चरित्र का महत्त्व उसकी विद्वत्ता और उसके जीवन-दर्शन से बहुत अधिक होता है, क्योंकि छात्र वर्ग अध्यापक के चारित्रिक गुणों से ही प्रभावित होता है और उसके गुण एवं अवगुणों का अनुकरण करता है। समाज और विद्यार्थी-वर्ग सदैव अध्यापक की ओर अपने आदर्शों के लिए उत्सुकता एवं आशाभरी दृष्टि से देखते हैं। वह अध्यापक से प्रेरणा ग्रहण करता है। अध्यापक के चारित्रिक गुण सदैव छात्रों के सम्मुख रहते हैं और उन पर टीका-टिप्पणी होना भी बिलकुल स्वाभाविक है। इस कारण अध्यापक एक पल के लिए भी इस ओर से असावधान नहीं हो सकता। चरित्र-बल ही वह महान् सत्ता है, जिसके बल पर अध्यापक प्राचीन काल से ही समाज का पथ प्रदर्शन करता आया है।

चरित्र की कोई सर्वमान्य परिभाषा तो नहीं दी जा सकती है, किन्तु प्रत्येक समाज, वर्ग, राष्ट्र, देश, जाति और समुदाय की कुछ मान्य चारित्रिक विशेषताएँ अवश्य होती हैं। इसी आधार पर हम मानव-चरित्र, राष्ट्रीय चरित्र, जातीय चरित्र आदि की व्याख्या करते हैं। चरित्र में उन समस्त सद्गुणों का समावेश किया जाता है, जो समाज द्वारा मान्य एवं प्रतिष्ठित हैं। एक अध्यापक में समाज द्वारा आदर्श रूप में प्रतिपादित समस्त गुणों की उपस्थिति की आशा की जाती है। यह आशा आधुनिक युग में केवल दुराशामात्र बनकर रह सकती है, क्योंकि किसी भी एक व्यक्ति में उन समस्त गुणों का पाया जाना सम्भव नहीं है। फिर भी अध्यापक का विशिष्ट उत्तर-दायित्व है और उसमें अधिक से अधिक गुणों का होना ही वाछनीय है। यदि अध्यापक बन्धु यह निश्चय करलें कि वे ऐसा कोई कार्य एकान्त में भी नहीं करेंगे, जिसे वे अपनी परिस्थितियों में भी अपने पुत्रों तथा शिष्यों को नहीं करने देना चाहते, तो उनसे कोई चारित्रिक भूल नहीं हो सकती।

अध्यापक के नैतिक दृष्टिकोण का स्वस्थ एव उच्च होना आवश्यक है। *आधुनिक युग मे अनैतिकता की वृद्धि हो रही* । समाज के अनेक तत्वो मे अनैतिक आचार, विचार एव व्यवहार बढ गये हैं। अध्यापक भी इनसे अलिप्त नही रह सकते हैं। आज अध्यापक की भी नैतिकता कसौटी पर है। उसके सम्मुख अनेक प्रलोभन उपस्थित हैं और परिस्थितियाँ उसकी नैतिकता की जडो को खोखला बना रही हैं। अध्यापक-वर्ग अपने उच्च चरित्र से गिरता जा रहा है। उसके आचार, विचार और व्यवहार पर आज समाज क्षुब्ध हो उठा है। सत्य तो यह है कि समाज मे व्याप्त वातावरण का ही प्रभाव शिक्षक पर पड रहा है, किन्तु अध्यापक का पद तो राष्ट्र-निर्माता का पद है। उसकी त्रुटियाँ अक्षम्य हैं। यदि अध्यापक के पैर डगमगा उठे तो वह दूसरो का क्या पथ-प्रदर्शन कर सकेगा? सामाजिक परिस्थितियो को कोसते रहने से ही अध्यापक के कार्य की इतिश्री नहीं हो जायगी। उसे आगे बढकर अपना उत्तरदायित्व निभाना होगा और सामाजिक नेतृत्व करना होगा। प्राचीन काल से ही यह अध्यापक-वर्ग का विशेष उत्तरदायित्व रहा है। अध्यापक के चरित्र को भली प्रकार परख कर ही उसे साधक का पद दिया जाना चाहिए। जिस प्रकार एक मछली तालाब को गन्दा कर देती, उसी प्रकार एक चरित्रहीन अध्यापक भी अध्यापक-वर्ग पर कलङ्क लगा सकता है और सहस्रो छात्रो के जीवन को नष्ट कर सकता है।

जिन अध्यापकों का चरित्र दूषित हो, उन्हे विद्यालय मे कदापि नही रखना चाहिए। जिन विद्यालयो मे सह-शिक्षा का प्रचलन है, उनमे तो इस बात पर विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए। अध्यापक बन्धुओं को संस्था के प्रमुख अथवा व्यवस्थापकों के निर्बलता अथवा पक्षपात प्रदर्शित करने पर भी, ऐसी काली भेडो का अपने बीच मे रहना असम्भव बना देना चाहिए। उन्हे सदैव याद रखना चाहिए कि ऐसे व्यक्ति को अपने बीच मे रहकर वे अध्यापक मात्र को समाज की घृणा का पात्र बनाने का खतरा मोल ले रहे हैं।

(४) व्यक्तित्व—व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास आधुनिक शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य माना गया है। अध्यापक विद्यार्थियों के व्यक्तित्व को विकसित करने की क्षमता तभी प्राप्त कर सकता है, जबकि उसका स्वय का व्यक्तित्व पूर्ण विकसित हो। व्यक्तित्व की भी, चरित्र के समान ही, कोई निश्चित परिभाषा नहीं है, और न विद्वानो में इसके स्वरूप के विषय मे अभी तक मतैक्य ही पाया जाता है। आधुनिकतम विचारो के अनुसार व्यक्तित्व मे वे सभी बाह्य और आन्तरिक विशेषताएँ सम्मिलित मानी जाती हैं, जो किसी व्यक्ति को अन्य व्यक्तियो से अलग सिद्ध करती हैं। इसका अनुभव तो किया जा सकता है किन्तु इसका पूर्णत विश्लेषण नहीं हो सकता। हम किसी से सरलता से प्रभावित हो जाते हैं, किसी के प्रति आकर्षित हो उठते हैं, किसी के प्रति उदासीन रहते हैं, किसी से घृणा कर सकते हैं, और किसी से विद्वेष करने लगते हैं। ऐसा क्यों होता है? ये सब व्यक्तित्व के ही चमत्कार हैं। व्यक्तित्व मे शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, सवेगात्मक अथवा रागात्मक तत्वों का सतुलित समन्वय होना

सिद्धान्तों, विचारों और सतत परिवर्तित होती हुई मान्यताओं की प्रभावोत्पादकता में अध्यापक स्थिर नहीं रह सकता। विभिन्न परिस्थितियों के संघर्ष का प्रभाव अध्यापक पर भी पड़ता है। उसका स्वयं का जीवन दर्शन भी परिवर्तित और परिवर्द्धित होता रहता है। फिर अध्यापक क्या करे ? समस्या जटिल है। जहाँ तक हम समझते हैं, इस विषय में अध्यापक को अधिक से अधिक उदार दृष्टिकोण अपनाना चाहिये। उसका आदर्श अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक कल्याण होना चाहिये। आवश्यक नहीं है कि अध्यापक अपने जीवन-दर्शन को विद्यार्थियों पर थोप दे। उत्तम अध्यापक आवश्यकता पड़ने पर विभिन्न दृष्टिकोणों को निष्पक्ष भाव से विद्यार्थियों के सम्मुख उपस्थित कर देता है और फिर उन्हें अपने अनुकूल निष्कर्ष निकालने के लिये स्वतन्त्र छोड़ देता है। किन्तु साधारण परिस्थितियों में छात्रों का अध्यापक के जीवन-दर्शन से प्रभावित होना स्वाभाविक है। इन कारणों से अध्यापक का चुनाव करते समय उसकी मानसिक परिपक्वता और उसके जीवन-दर्शन का भी मूल्यांकन करना उचित है।

(३) चरित्र—अध्यापक के महत्वपूर्ण पद पर आसीन व्यक्ति का चरित्र भी समाज के लिए आदर्श एवं अनुकरणीय होना चाहिए। अध्यापक के चरित्र का महत्व उसकी विद्वत्ता और उसके जीवन-दर्शन से बहुत अधिक होता है, क्योंकि छात्र वर्ग अध्यापक के चारित्रिक गुणों से ही प्रभावित होता है और उसके गुण एवं अवगु[illegible] का अनुकरण करता है। समाज और विद्यार्थी-वर्ग सदैव अध्यापक की ओर [illegible] आदर्शों के लिए उत्सुकता एवं आशाभरी दृष्टि से देखते हैं। वह अध्यापक से [illegible] ग्रहण करता है। अध्यापक के चारित्रिक गुण सदैव छात्रों के सम्मुख रहते हैं औ[illegible] पर टीका-टिप्पणी होना भी बिलकुल स्वाभाविक है। इस कारण अध्यापक एव[illegible] लिए भी इस ओर से असावधान नहीं हो सकता। चरित्र-बल ही वह महान् [illegible] जिसके बल पर अध्यापक प्राचीन काल से ही समाज का पथ प्रदर्शन करता [illegible]

चरित्र की कोई सर्वमान्य परिभाषा तो नहीं दी जा सकती है, [illegible] समाज, वर्ग, राष्ट्र, देश, जाति और समुदाय की कुछ मान्य चारित्रिक [illegible] अवश्य होती हैं। इसी आधार पर हम मानव-चरित्र, राष्ट्रीय चरित्र, जाति[illegible] आदि की व्याख्या करते हैं। चरित्र में उन समस्त सद्गुणों का समावेश [illegible] है, जो समाज द्वारा मान्य एवं प्रतिष्ठित हैं। एक अध्यापक में समाज द्वारा [illegible] में प्रतिपादित समस्त गुणों की उपस्थिति की आशा की जाती है। यह आशा [illegible] युग में केवल दुराशामात्र बनकर रह सकती है, क्योंकि किसी [illegible] समस्त गुणों का पाया जाना संभव नहीं है। [illegible] दायित्व है और उसमें अधिक से अधिक गुण [illegible] बन्धु यह निश्चय करलें कि वे ऐसा कोई [illegible] परिस्थितियों में भी अपने पुनो तथा [illegible] कोई चारित्रिक भूल नहीं हो सकती।

कार्य मे बाधा पडती है। इसका परिणाम बालको को भुगतना पड़ता है। स्वास्थ्य का अर्थ— शरीर के मुटापे और कृशता से नही है। ये दोनो तो स्वयं रोग हैं। स्वास्थ्य का अर्थ—नीरोग शरीर से है। किसी प्रकार का रोग शरीर मे न हो, तो उस व्यक्ति को नीरोग कहा जा सकता है। वर्तमान परिस्थितियो मे अध्यापक अपने लिये पुष्टिकर भोजन और व्यायाम की उचित व्यवस्था नही कर पाता अत उसका स्वास्थ्य भी दयनीय होता जा रहा है। नाना प्रकार की चिन्ताओ के कारण भी वह स्वस्थ नही रह पाता। अधिकतर अध्यापको के लिये उचित चिकित्सा का प्रबन्ध करना भी दुष्कर है। किन्तु इन समस्त बाधाओ के होते हुए भी अध्यापक का पवित्र कर्तव्य है कि वह यथासभव और यथाशक्ति अपने स्वास्थ्य को ठीक रखने का प्रयत्न करें। दुर्बलता एव अस्वस्थता महान् पाप हैं। हंसने वाले का साथ इस ससार मे सभी देते हैं, किन्तु रोने वाले का साथ कोई नही देता। सादा और पुष्टिकर भोजन, सयत जीवन, दुर्व्यसन-हीनता और नियमित व्यायाम—अध्यापक को इन पापों मे बचाकर सदैव प्रसन्न रख सकते हैं।

(ख) वेश-भूषा—आधुनिक मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य के [illegible] प्रभाव पडता है। विद्यार्थी [illegible], अर्थात् उन्ही जैसा हो। [illegible] की वेशभूषा सरल, सादी, सस्ती और स्वच्छ होनी चाहिये। इसमे बनावट आने से अध्यापक हास्यास्पद हो उठता है। अध्यापक को शारीरिक स्वच्छता के साथ साथ अपने वस्त्रो की स्वच्छता पर भी ध्यान देना चाहिये। पोशाक कोई भी क्यों न हो, उसे अपने आप मे एक पूर्ण इकाई होना चाहिये। पोशाक बेमेल (जैसे—धोती और बुश-शर्ट, या चूडीदार पायजामा और खुले गले का अमेरिकन कोट) नही होनी चाहिये। इसी प्रकार ढीली-ढाली, भद्दी पोशाक भी उचित नहीं है। पोशाक के वस्त्रो के चयन से भी आन्तरिक मनोवृत्ति का पता चलता है। अध्यापकों को अपने वस्त्रों का चुनाव भी बहुत सावधानी और गम्भीरता से करना चाहिये। चुस्त, शिष्ट और प्रभावोत्पादक पोशाक व्यक्तित्व को बढ़ा देती है। फैशन के इस युग मे अध्यापक भी अवाछनीय फैशन मे अप्रभावित नही रह सका है। चल चित्रो के खल-नायको की पोशाक के अनुकरण की वृत्ति आधुनिक विद्यालयो के अध्यापक मे भी यदा-कदा पाई जाती है। अध्यापक के लिये यह उचित और स्वस्थ परम्परा नहीं है। उन्हे सदैव अपनी पोशाक ऐसी रखनी चाहिए जिससे शालीनता, सुरुचि एव गम्भीरता प्रकट हो। महिलाओं को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। अत्यधिक फैशनेबल तथा भडकीली वेशभूषा वाली अध्यापिकाएं छात्राओं के सम्मुख तो गलत आदर्श प्रस्तुत करती ही हैं, अपने यश और सुरक्षा के लिए भी खतरा लिये रहती हैं।

(ग) शारीरिक क्रियाएँ—अध्यापक के व्यक्तित्व मे उसकी [illegible] भी अत्यन्त महत्वपूर्ण होती हैं। वह कैसे चलता है, कैसे बैठता है, कैसे खडा [illegible] कैसे हाथ पैर चलाता है, कैसे हंसता है, कैसे बोलता है, आदि पर भी विद्यार्थी [illegible]

ध्यान देते रहते हैं और ये क्रियायें उनकी आलोचना की सामग्री जुटाती रहती हैं। यदि अध्यापक की शारीरिक क्रियायें स्वाभाविक और साधारण हैं, तो विद्यार्थी सन्तुष्ट हो जाते हैं किन्तु जहाँ थोड़ी-सी अस्वाभाविकता और असाधारणता दिखाई पड़ती है, वहाँ अध्यापक की आलोचना आरम्भ हो जाती है और वह विद्यार्थियों की श्रद्धा में कमी पाने लगता है। कुछ अध्यापक स्वभाव एवं अभ्यासवश विद्यार्थियों के सम्मुख भद्दे ढङ्ग से हाथ-पैर चलाते हैं और हावभाव प्रदर्शन में अश्लील हो उठते हैं। यह सब नितान्त अवांछनीय है। अध्यापन कोई जादूगरी नहीं है। उछल-कूद मचाना अध्यापक के लिये शोभनीय नहीं होता। अध्यापक की प्रत्येक शारीरिक-क्रिया शालीनता, शिष्टता एवं गम्भीरता से पूर्ण होनी चाहिये। उसका हास्य मधुर और निष्कपट होना चाहिये और उसकी वाणी तेजस्वी, प्रभावोत्पादक और अधिकारपूर्ण होनी चाहिये। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इन क्रियाओं के लिये भी प्रशिक्षण और अभ्यास आवश्यक है। निरन्तर अभ्यास से अध्यापक अपने बाह्य व्यक्तित्व को अत्यन्त आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक बना सकता है।

(घ) व्यक्तित्व के आन्तरिक तत्त्व—अध्यापक के आन्तरिक व्यक्तित्व में उन सभी गुणों का समावेश और परिगणन किया जा सकता है, जो उसे एक व्यक्ति के रूप में प्राप्त हैं। इसमें मानसिक, आध्यात्मिक, संवेगात्मक तथा चारित्रिक आदि गुण आते हैं। मानसिक गुणों में विद्वत्ता, न्यायप्रियता, मानसिक स्वास्थ्य एवं मानसिक परिपक्वता आदि सम्मिलित हैं। विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता तो अध्यापक के लिये अनिवार्य है ही, किन्तु उसमें सूक्ष्म विश्लेषण शक्ति का होना "सोने में सोहागा" के समान होता है। विभिन्न विचारों, तथ्यों और कथनों का निष्पक्ष विश्लेषण और उनके विषय में संतुलित विचार-व्यंजना अत्यन्त आवश्यक है। संतुलित, स्वस्थ तथा परिपक्व मस्तिष्क ही संतुलित, स्वस्थ और परिपक्व दृष्टिकोण उपस्थित कर सकता है। विकृत मस्तिष्क समाज की बहुत बड़ी हानि कर सकता है। यदि अध्यापक में मानसिक परिपक्वता नहीं आ पाई है तो वह स्थिर बुद्धि, स्थिर-वाक्, दृढ़-विचार, उदार, गम्भीर और न्यायप्रिय हो ही नहीं सकता है। और इन गुणों का अभाव उसे कभी आदर्श और प्रभावशाली अध्यापक नहीं बनने देगा।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भी अध्यापक को पूर्ण विकसित होना चाहिये उसके धार्मिक अथवा नैतिक दृष्टिकोण का स्वस्थ होना भी अत्यन्त आवश्यक है आधारभूत सिद्धान्तों, मूल्यों और विश्वासों में जिसकी आस्था नहीं है, आध्यात्मि दृष्टि से उसके व्यक्तित्व का विकास अपूर्ण ही रहेगा। मानव-जीवन की कुछ शाश्व धारणायें और मान्यताएँ हैं। सत्य, शिव, सुन्दरम् की आवश्यकता आज भी विश्व में है। नैतिकता के सर्वमान्य सिद्धान्त और मूल्यों का आदर आज भी है। अध्यापक के आचार-व्यवहार का व्यापक प्रभाव विद्यार्थियों पर आज भी पड़ता है। सच्ची कर्त्तव्यशीलता, सच्चरित्रता, ईमानदारी, सहानुभूति, आत्म-विश्वास, परोपकार-भावना

और नि.स्वार्थ सेवा भाव, आदि अनेक सद्गुण, बिना स्वस्थ आध्यात्मिक दृष्टिकोण के, प्राप्त होने असम्भव है।

अध्यापक मे सवेगात्मक परिपक्वता का होना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जो व्यक्ति अपने सवेगो पर नियन्त्रण नही कर सकता, जीवन के किसी भी क्षेत्र मे सफल नही हो सकता। अध्यापक के लिये तो यह परिपक्वता अत्यन्त आवश्यक गुण है। क्रोध, भय, घृणा तथा प्रेम इत्यादि सवेगो पर अध्यापक का पूर्ण नियत्रण होना आवश्यक है। छोटी-छोटी बातो पर अनावश्यक क्रोध प्रकट करने वाले अध्यापक का आदर विद्यार्थी कभी नही कर पाते। बात-बात पर झल्लाना उचित नही होता। इससे अध्यापक की कमजोरी सिद्ध होती है। इसी प्रकार भय, घृणा, प्रेम, उत्साह, आशा, आदि सवेगो पर अध्यापकों को पूर्ण नियन्त्रण रखने का प्रयत्न करना चाहिये, नहीं तो उसके व्यक्तित्व मे त्रुटि रह जायगी। अध्यापक को तो शान्त, गम्भीर, शीलवान, उत्साही, आशावादी, निष्पक्ष, धीर, एव आत्मविश्वासी होना चाहिए। ये गुण अध्यापक मे तभी आ सकते हैं, जब उसमे सवेगात्मक परिपक्वता आ जाय।

नियुक्ति में सावधानी आवश्यक

ऊपर हमने उन सामान्य योग्यताओ का साधारण वर्णन किया है, जिनका प्रत्येक अध्यापक मे होना आवश्यक है। किन्तु अध्यापक मे कुछ विशिष्ट योग्यताओ का का होना भी आवश्यक है। उनका वर्णन हम यथा-सम्भव करेंगे। व्यवस्थापक को उचित है कि वह अपने सहयोगी अध्यापक रूपी साधक की नियुक्ति करते समय उपर्युक्त सामान्य योग्यताओ की परख भले प्रकार कर ले, ताकि वह निश्चिन्त होकर अध्यापक के ऊपर उत्तरदायित्व सौंपकर साधना के क्षेत्र में अग्रसर हो सके।

अध्यापकों की नियुक्ति-विधि

अध्यापक की नियुक्त के लिये अभी तक कोई एक सर्व-सम्मत विधि नही बनाई गई है। विभिन्न देशो, विभिन्न राज्यो एव प्रान्तो मे विभिन्न विधियाँ अपनायी जाती हैं। भारतीय गणराज्य मे भी विभिन्न राज्यों मे भिन्न-भिन्न विधियाँ अपनायी जाती हैं। यह अत्यन्त आवश्यक है कि शिक्षा-क्षेत्र मे अच्छे व्यक्तियों को, अच्छे अध्यापको को आकर्षित करने के लिये 'अध्यापक-नियुक्ति-विधि' पर विशेष ध्यान दिया जाय। भारत मे अभी तक इस क्षेत्र सतोषप्रद व्यवस्था नही हो पाई है। सरकारी विद्यालयो के लिये, सरकारी शिक्षा-विभाग प्रबन्ध करता है और माध्यमिक एव उच्च स्तर पर सरकारी विद्यालयो के अध्यापको का चुनाव जन-सेवा-आयोग करता है। आयोग को परामर्श देने के लिये शिक्षा-सचालक अथवा शिक्षा-विभाग का कोई अधिकारी रहता है। अर्ध सरकारी विद्यालयो के लिये शिक्षा विभाग के अधिकारियो के परामर्श से स्थानीय निकाय अध्यापको की नियुक्ति करते हैं। निजी सस्थाओ मे अभी तक कोई नियमित विधि नही अपनायी गई है। इनमें से अधिकाश नियुक्ति योग्यता के आधार पर न होकर जातीयता, साम्प्रदायिकता, धार्मिकता, भाई-

भर्ती योग्यता तथा सम वेतन स्वीकार कर लेने के आधार पर होती है। समाज और राष्ट्र को इस विषैले वातावरण से शीघ्र मुक्त करने की आवश्यकता है।

माध्यमिक-शिक्षा कमीशन (१९५२-५३) ने इस विषय में बहुत सुन्दर सुझाव दिया है। कमीशन की राय में देश के सभी निजी विद्यालयों में अध्यापक की नियुक्ति करने के लिये एक समिति का होना आवश्यक है। विद्यालय के प्रधानाचार्य को तो इस प्रकार समिति का सदस्य रखना चाहिये। इस समिति में शिक्षा-विभाग के किसी प्रतिनिधि का होना भी वांछनीय है। कमीशन की राय में सरकारी और निजी विद्यालयों के अध्यापकों की नियुक्ति-पद्धति में साम्य होना चाहिये। नियुक्ति समिति के सदस्यों का उत्तरदायित्व महान् होता है। उनको राष्ट्र, विद्यालय तथा विद्यार्थियों के हित को सर्वोपरि रखना चाहिये। नियुक्ति सर्वथा योग्यता, आचार और विद्यालय के हित के आधार पर ही होनी चाहिये। ऐसा कभी नहीं होना या होने देना चाहिए कि योग्य व्यक्तियों के रहते अयोग्य व्यक्ति चुन लिए जाएँ। अध्यापकों की नियुक्ति पर ही विद्यालय का भविष्य निर्भर करता है। यदि विद्यालय में उचित प्रकार के सुयोग्य अध्यापकों की नियुक्ति हो जाय, तो वह विद्यालय उन्नति कर सकेगा। किन्तु अयोग्य अध्यापक के हाथों में पड़कर विद्यालय नष्ट हो जायगा। प्रधानाध्यापक की नियुक्ति में तो विशेष सतर्कता एवं सावधानी अपेक्षित है।

कमीशन की राय में स्थायी पद पर नियुक्त अध्यापक को एक वर्ष तक परिवीक्षा (प्रोबेशन) पर रखना उचित है। विशेष परिस्थितियों में यह परिवीक्षा-काल दो वर्षों का हो सकता है। इस अवधि में अध्यापक की भली-भाँति से देख-भाल लेना चाहिये और फिर उसे स्थायी कर देना चाहिये। किन्हीं-किन्हीं निजी संस्थाओं में परिवीक्षा की अवधि बढ़ाते रहते हैं। ऐसा करना अनुचित और अनैतिक है। इससे विद्यालय को बहुत हानि पहुँचती है, क्योंकि अध्यापक परिश्रम और लगन से काम नहीं करता और अपने भविष्य के विषय में सदैव शङ्कालीन बना रहता है। अध्यापक से उचित प्रकार का काम लेने के लिये अति आवश्यक है कि उसे अपने पद की सुरक्षा भावना उत्पन्न कराई जाय। अनिश्चित परिस्थितियों में उत्तम कार्य की आशा कभी नहीं की जा सकती है।

अध्यापकों की संख्या

अध्यापकों की संख्या विद्यालय के विस्तार के अनुपात में ही निश्चित की जा सकती है। इस विषय में विभिन्न शिक्षा-विभागों ने कुछ निश्चित अविनियम बना दिये हैं। विद्यालय में कितने अध्यापक हों, यह इस बात पर निर्भर है कि विद्यालय में कितनी कक्षाएँ, कितने अनुभाग और कितने विद्यार्थी हैं; और उस विद्यालय में कितने विषयों के पढ़ाने की व्यवस्था की जाती है। प्रत्येक विद्यालय में एक प्रधानाध्यापक होना तो अनिवार्य ही है। शेष अध्यापकों की नियुक्ति विद्यालय की आवश्यकता के अनुसार होगी। विद्यालय में कुछ विषय तो अनिवार्य होते हैं और कुछ ऐच्छिक।

अध्यापकों की संख्या उतनी हो, जितने से अनिवार्य तथा ऐच्छिक विषयों के अध्यापन का कार्य सरलता से चल सके। भारत की वर्तमान परिस्थितियों में अध्यापक तथा विद्यार्थी के बीच उचित अनुपात का अभाव है। विद्यार्थियों की संख्या के अनुपात से अभी वांछित संख्या में अध्यापक नहीं होते। हमारे विचार से अध्यापकों तथा छात्रों में १ २० से अधिक अनुपात कभी नहीं होना चाहिए।

अध्यापकों का लिङ्ग

प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति के अनुसार पुरुष ही अध्यापक हुआ करता था। महिला अध्यापिकाओं की संख्या अत्यन्त नगण्य होती थी। लड़कियों के पढ़ाने के लिये भी प्राय वृद्ध पुरुष ही नियुक्त होते थे। कतिपय बालिका-विद्यालयों में यत्र-तत्र अध्यापिकायें पाई जाती थीं। किन्तु आधुनिक युग में पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का अनुकरण हो रहा है। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली के फलस्वरूप भारत में भी सह-शिक्षा का प्रचलन हो गया है। प्राथमिक और उच्च शिक्षा में सह-शिक्षा का अधिक प्रचलन है। माध्यमिक स्तर पर सह शिक्षा अभी कम है। इस प्रकार उन संस्थाओं का प्रचलन बढ़ रहा है जिनमें सह-शिक्षा हो। इस प्रकार की परिस्थिति में प्रश्न उठता स्वाभाविक है कि अध्यापक का लिङ्ग क्या हो ? पुरुष, स्त्री, अथवा दोनों का मिश्रित मण्डल ? इस विषय में मतैक्य नहीं है। आधुनिक मनोविज्ञान की धारणा है कि शिक्षा के क्षेत्र में अध्यापिकाएँ अधिक सफलता से कार्य कर सकती हैं। स्त्रियों में स्नेह और सहानुभूति की मात्रा अधिक होती है अतः उनके तत्वावधान में बच्चों को घर का सा वातावरण विद्यालय में प्राप्त होगा और बालक तथा बालिकाएँ अधिक सरलता से अपने व्यक्तित्व को विकसित कर सकेंगे। यही कारण है कि पाश्चात्य देशों में अध्यापिकाओं की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। शिक्षित स्त्रियों के लिये अध्यापन का पेशा अधिक उपयुक्त समझा जा रहा है। इसमें संदेह नहीं कि पूर्व-प्राथमिक और प्राथमिक स्तर पर स्त्री-अध्यापिकाएँ अधिक उपयुक्त होती हैं।

सह शिक्षा की संस्थाओं में यदि केवल पुरुष अध्यापक हो, तो यह भी निर्विवाद है कि उनमें शिक्षा पाने वाली लड़कियों का विकास उचित प्रकार से न हो सकेगा। लड़कियों के स्वभाव में जो एक स्वाभाविक और परम्परागत संकोचशीलता होती है, उसके कारण वह पुरुष अध्यापकों से उतना लाभ नहीं उठा पातीं जितना अध्यापिकाओं से प्राप्त कर सकती हैं। किन्तु यदि विद्यालय में केवल अध्यापिकाएं ही हों, तो बालकों के लिये एक समस्या हो जायगी। वे या तो उद्दण्ड और अनुशासनहीन हो उठेंगे या फिर अत्यन्त संकोची और लज्जाशील हो जायेंगे। फिर क्या करना चाहिये ? क्या विद्यालय में मिश्रित अध्यापक-मण्डल की नियुक्ति हो ? हमारे विचार से पूर्व-प्राथमिक और प्राथमिक स्तर पर केवल अध्यापिकाएँ ही नियुक्त की जायें। किन्तु माध्यमिक और उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अध्यापक ही नियुक्त करना योग्य है। केवल लड़कियों

भतीजा-वाद तथा कम वेतन स्वीकार कर लेने के आधार पर होती है। समाज अ
राष्ट्र को इस विषैले वातावरण से शीघ्र मुक्त करने की आवश्यकता है।

माध्यमिक-शिक्षा-कमीशन (१९५२-५३) ने इस विषय में बहुत सुन्दर सुझा
दिया है। कमीशन की राय में देश के सभी निजी विद्यालयों में अध्यापक की नियु
करने के लिये एक समिति का होना आवश्यक है। विद्यालय के प्रधानाचार्य को
इस चुनाव-समिति का सदस्य रखना चाहिये। इस समिति में शिक्षा-विभाग के कि
प्रतिनिधि का होना भी वाञ्छनीय है। कमीशन की राय में सरकारी और नि
विद्यालयों के अध्यापकों की नियुक्ति-पद्धति में साम्य होना चाहिये। नियुक्ति-समिति
सदस्यों का उत्तरदायित्व महान् होता है। उनको राष्ट्र, विद्यालय तथा विद्यार्थियों
हित को सर्वोपरि रखना चाहिये। नियुक्ति सर्वथा योग्यता, आचार और विद्यालय
हित के आधार पर ही होनी चाहिये। ऐसा कभी नहीं होना या होने देना चाहिए कि
योग्य व्यक्तियों के रहते अयोग्य व्यक्ति चुन लिए जाएँ। अध्यापकों की नियुक्ति प
ही विद्यालय का भविष्य निर्भर करता है। यदि विद्यालय में उचित प्रकार के सुयोग
अध्यापकों की नियुक्ति हो जाय, तो वह विद्यालय उन्नति कर सकेगा। किन्तु अयोग
अध्यापक के हाथों में पड़कर विद्यालय नष्ट हो जायगा। प्रधानाध्यापक की नियुक्ति
में तो विशेष सतर्कता एवं सावधानी अपेक्षित है।

कमीशन की राय में स्थायी पद पर नियुक्त अध्यापक को एक वर्ष त
परिवीक्षा (प्रोबेशन) पर रखना उचित है। विशेष परिस्थितियों में यह परिवीक्षा-काल
दो वर्षों का हो सकता है। इस अवधि में अध्यापक को भली-भाँति से देख-भाल लेना
चाहिये और फिर उसे स्थायी कर देना चाहिये। किन्हीं-किन्हीं निजी संस्थाओं में
परिवीक्षा की अवधि बढ़ाते रहते हैं। ऐसा करना अनुचित और अनैतिक है। इससे
विद्यालय को बहुत हानि पहुँचती है, क्योंकि अध्यापक परिश्रम और लगन से काम नहीं
करता और अपने भविष्य के विषय में सदैव शङ्कालीन बना रहता है। अध्यापक से
उचित प्रकार का काम लेने के लिये अति आवश्यक है कि उसे अपने पद की सुरक्षा
भावना उत्पन्न कराई जाय। अनिश्चित परिस्थितियों में उत्तम कार्य की आशा कभी
नहीं की जा सकती है।

अध्यापकों की संख्या

अध्यापकों की संख्या विद्यालय के विस्तार के अनु
जा सकती है। इस विषय में विभिन्न शिक्षा-विभागों ने
दिये हैं। विद्यालय में कितने अध्यापक हों, यह इस
कितनी कक्षाएँ, कितने अनुभाग और कितने विद्य
विषयों के पढ़ाने की व्यवस्था की जाती है
होना तो अनिवार्य ही है। शेष अध्यापकों
अनुसार होगी। विद्यालय में कुछ विषय

विशेषज्ञ तो हो नहीं सकता है, और न सभी विषयो मे उसकी समान रुचि ही हो सकती है। इसका प्रभाव उसके अध्यापन पर भी पड़ता है। वह कुछ विषयो को भली-भाँति जानता है और उन्हें अच्छी तरह से पढ़ा सकता है किन्तु जिन विषयो को वह नहीं जानता और जिनमें उसकी रुचि नहीं है, उन्हें पढ़ाने मे वह आत्म-विश्वास का अनुभव नहीं कर सकेगा। आधुनिक शिक्षा मे विभिन्न विषयों की शिक्षण-प्रणाली मे पर्याप्त विकास और परिवर्तन हो रहे हैं। एक अध्यापक के लिये सम्भव नहीं कि वह प्रत्येक विषय की शिक्षण-प्रणाली से परिचित हो। ऐसी दशा मे उसका शिक्षण प्रभावशाली नहीं हो पाता। एक ही अध्यापक के साथ सम्पूर्ण समय पढ़ने से विद्यार्थियो में भी अरुचि उत्पन्न हो सकती है। अध्यापक भी ऊब जाता है। कक्षा की रुचि को बनाये रखने के लिए उसे नित-नवीन विधियो को अपनाना पड़ेगा। यह सभी कक्षाध्यापकों के लिये सम्भव नहीं है। यदि अध्यापक कुशल और आदर्श चरित्र वाला है, तो कक्षा को उन्नत बना सकता है। किन्तु यदि उसमे किसी प्रकार का दुर्गुण हुआ, तो समस्त कक्षा पर उसका प्रभाव पड़ सकता है। अत्यन्त सुयोग्य अध्यापक ही कक्षाध्यापक-प्रणाली में सफल हो सकता है। प्राथमिक कक्षाओ मे यह प्रणाली अधिक उपयुक्त हो सकती है क्योंकि वहाँ विषयवस्तु का परिमाण सीमित ही रहता है।

२ विषयाध्यापक पद्धति—विषयाध्यापक एक ही विषय को विभिन्न कक्षाओं मे पढ़ाता है। वह अपने विषय का विशेषज्ञ होता है और उसमे उसकी रुचि होती है। इस कारण स्वाभाविक है कि वह अपने विषय का पूर्ण जानकार और विद्वान् हो। वह निरन्तर स्वाध्याय द्वारा उस विषय का पारगत होने का प्रयत्न करता है, उसे विषय वस्तु पर अधिकार होता है और वह पूर्ण आत्म विश्वास के साथ उस विषय का अध्यापन करता है। वह विषय की शिक्षण विधियो से भी भली प्रकार परिचित होता है और शिक्षण को अधिक प्रभावपूर्ण और रोचक बना सकता है। छात्र भी उससे पढ़ने मे अधिक रुचि दिखलाते हैं। छात्र विभिन्न विषयाध्यापकों के सम्पर्क मे आते हैं और उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होते हैं। इस प्रकार छात्रो का दृष्टिकोण अधिक विस्तृत हो जाता है। छात्रों का सम्पर्क उस विषय के विषयाध्यापक से कई वर्षों तक रहता है। जैसे विज्ञान का अध्यापक जिन छात्रो को आठवीं कक्षा मे पढ़ाता है उन्हें ही नवमी तथा दशमी कक्षा मे भी विज्ञान पढ़ाता है। इस प्रकार कई वर्षों के सम्पर्क के कारण छात्र अध्यापक के गुणो और विशेषताओ से भली प्रकार परिचित हो जाते हैं और अध्यापक भी उनकी योग्यता को जान जाता है और उसके अनुसार अपने शिक्षण को सगठित करता है। विषयाध्यापक जितने उत्साह से अपने विषय को पढ़ाता है, उतने उत्साह से कक्षाध्यापक नहीं पढ़ा सकता। इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव छात्रो पर विशेष रूप से पड़ता है। छात्रों की रुचि और उत्साह भी उन्हीं विषयों मे अधिक रहते हैं, जिनके अध्यापक अच्छे होते हैं। ऊँची कक्षाओ मे यह प्रणाली अधिक उपयुक्त होती है क्योंकि विषयवस्तु का स्तर ऊँचा उठता जाता है और कोई विशेषज्ञ ही उस विषय को योग्यता पूर्वक पढ़ा सकता है।

सीमाएँ—विषयाध्यापक-प्रणाली भी दोष रहित नहीं है। इसके आलोच का कथन है कि इस प्रणाली द्वारा छात्र और अध्यापक के बीच वह वांछित घनि सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता, जो छात्र के विकास के लिये आवश्यक है। ए विषयाध्यापक उस विषय के अनेक छात्रों के सम्पर्क में आता अवश्य है कि थोड़े समय के लिये ही। अतः वह छात्रों को विशेष रूप से प्रभावित नहीं कर पात है। फिर किसी विद्यालय में एक विशेष विषय के लिये कई अध्यापक हो सकते और वे विभिन्न कक्षाओं को पढ़ा सकते हैं। दूसरा दोष यह भी है कि प्रत्येक विषया ध्यापक अपने ही विषय को अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। वह विभिन्न विषयों वे पारस्परिक सम्बन्ध को भूल जाता है और अपने विषय में रुचि रखने के कारण सदैव उसी पर बल देता है। इस प्रकार सम्पूर्ण ज्ञान गुम्फित होकर एक समन्वय के रूप में बालकों के सम्मुख न आकर, असम्बन्धित खण्डों के रूप में आता है। प्रत्येक विषया- ध्यापक अपने कार्य को ही महत्त्व देता है और विद्यार्थियों पर पड़ने वाले अन्य विषयों के भार को समझने का प्रयत्न नहीं करता है। विषयों के इस प्रकार के अलग-अलग विभाजन से छात्र कुछ विषयों से रुचि लेते हैं और कुछ की ओर से उदासीन हो जाते हैं। अध्यापक का दृष्टिकोण भी एक ही विषय पढ़ाने से संकुचित हो जाता है और वह पढ़ाते-पढ़ाते ऊब भी जाता है। विषय पर ध्यान केन्द्रित होने के कारण अध्यापक छात्रों की व्यक्तिगत बातों पर ध्यान कम दे पाता है। विभिन्न विषयों का समुचित संतुलन न हो पाने के कारण छात्रों को प्रायः अनावश्यक परिश्रम करना पड़ जाता है।

निष्कर्ष—वास्तव में दोनों प्रणालियों का समन्वय करना ही सर्वोत्तम होगा। किसी विद्यालय में कक्षाध्यापक भी होने चाहियें जो कि नीची कक्षाओं में दो या दो से अधिक विषय पढ़ाएँ और कक्षाध्यापक बनकर कक्षाओं के निकटतम सम्बन्ध में रहें, और विषयाध्यापक भी हों, जो उच्च कक्षाओं में एक ही विषय को पढ़ाएँ। विशेषज्ञ अध्यापक को भी, यदि वह रुचि और योग्यता रखता है, तो किसी अन्य विषय को पढ़ाने का भी अवसर देना चाहिये। माध्यमिक शिक्षा में दोनों प्रकार के अध्यापकों का होना आवश्यक है। उच्च शिक्षा में विषयाध्यापक की उपयोगिता बढ़ जाती है। कौशल, विज्ञान, कृषि, वाणिज्य एवं संगीत जैसे विषयों के विशेषज्ञ अध्यापक का होना ही आवश्यक है।

अध्यापक तथा अन्य लोग

मुख्याध्यापक की ही भाँति अध्यापकों के कर्त्तव्य भी बहुविध होते हैं। अध्यापक के सामान्य गुणों का विवेचन हम पहले कर चुके हैं। उसका प्रधान कर्त्तव्य अध्यापन है और उसमें सफल होने के लिये उसे अपने विषय का पण्डित होना आवश्यक है। किन्तु अध्यापन के अतिरिक्त, प्रधानाध्यापक, व्यवस्थापक, सहयोगी अध्यापक-वर्ग, सहकारी वर्ग, छात्र, अभिभावक, अपना परिवार, तथा सामान्य समाज

के प्रति भी अध्यापक के कर्त्तव्य हैं और उसे सच्चाई के साथ इन कर्त्तव्यों को निभाना चाहिए।

अध्यापक और प्रधानाध्यापक—विद्यालय एक परिवार होता है, जिसका मुखिया होता है 'प्रधानाध्यापक'। उसके वरिष्ठ सदस्य होने के नाते अध्यापक को अपने प्रधानाध्यापक पर पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखने चाहिए। प्रधानाध्यापक के प्रत्येक आदेश और निर्देश को मानना अध्यापक के लिये आवश्यक है। उसका भाव आज्ञाकारिता का होना चाहिए। प्रधानाध्यापक द्वारा दिए गए कार्य को सच्चाई और निष्ठा के साथ पूरा करने का प्रयत्न प्रत्येक अध्यापक को करना चाहिए। विद्यालय की प्रत्येक क्रिया और योजना में उसे प्रधानाध्यापक को यथाशक्ति सहयोग प्रदान करना चाहिए। यदि अध्यापक किसी कार्य अथवा विषय में प्रधानाध्यापक के विचारों से सहमत न भी हो, तो भी उसे पूर्ण निष्ठा के साथ आदेशों का पालन करना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर वह विनम्र शब्दों में अपनी असहमति प्रधानाध्यापक से प्रकट कर सकता है और अपने तर्कों को उसके सम्मुख रख सकता है। किन्तु यदि प्रधानाध्यापक उसकी राय से सहमत न हो सके, तो अध्यापक को बुरा न मानना चाहिए और न उस कार्य में किसी प्रकार की शिथिलता ही दिखलानी चाहिए। यदि प्रधानाध्यापक को विश्वास हो जाए कि कोई अध्यापक विद्यालय के हित को ही सर्वोपरि मानता है और सदैव विद्यालय की उन्नति के लिए ही कार्य करता है, तो प्रधानाध्यापक सदैव उसका सम्मान करेगा और उसकी बातों को मानने के लिये बाध्य होगा। किन्तु केवल अहम्मन्यतावश अपने विचारों को मानने के लिये प्रधानाध्यापक को बाध्य करना अध्यापक के लिये अनुचित है।

अध्यापक को अनुचित बातों के लिये कभी भी प्रधानाध्यापक पर दबाव नहीं डालना चाहिये। उसका कार्यभार वैसे ही अत्यधिक होता है। अपने स्वार्थवश उस पर किसी बात के लिए दबाव देना ठीक नहीं है, कुछ अध्यापकों का स्वभाव होता है कि प्रत्येक छोटी-मोटी शिकायत को लेकर प्रधानाध्यापक के पास पहुँचते रहते हैं अथवा अपने स्वार्थ की बातों में उससे सहायता चाहते रहते हैं। इन बातों से अध्यापक प्रधानाध्यापक की निगाह में गिर जाता है। अध्यापक का कर्त्तव्य है कि वह अधिक से अधिक कार्य करने के लिये तत्पर रहे और सभी बातों में प्रधानाध्यापक का हाथ बँटाये। प्रधानाध्यापक स्वयं ही उसके हित की बातों का ध्यान रखेगा। सभी अध्यापक सामूहिक रूप से विद्यालय की सफलता के प्रति उत्तरदायी हैं। उन्हें सदैव प्रधानाध्यापक के नेतृत्व में विश्वास रखकर, एकमत होकर, संगठित रूप से विद्यालय की उन्नति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

अध्यापक और व्यवस्थापक—अध्यापक का सीधा सम्पर्क व्यवस्थापक से नहीं रहता है। नियुक्ति के बाद वह विद्यालय के प्रधानाध्यापक के निर्देश में ही कार्य करता है अतः अध्यापक को बुलाये बिना अथवा बगैर अत्यावश्यक कार्य के प्रबन्ध-समिति के सदस्यों के पास कभी नहीं जाना चाहिए। अभाग्यवश कुछ प्राइवेट प्रबन्ध समितियों

कैसे प्राप्त की जा सकती है ? यह तभी सम्भव है, जबकि अध्यापक अपने को आदर्श रूप मे उपस्थित करे। जबकि छात्र को विश्वास हो जाएगा कि अध्यापक सदैव उसके हित की साधना करता है, सदैव उसकी उन्नति का अभिलाषी है, तब छात्र स्वय उस अध्यापक के चरणो मे अपनी समस्त श्रद्धा अर्पित कर देगा और उसका अनुगामी बन जायगा। थोथा उपदेश व्यर्थ होता है। शिक्षक को चाहिये कि वह छात्रो को जैसा बनाना चाहता है, वैसा स्वय बनकर उनके सम्मुख उदाहरण उपस्थित करे।

आज अध्यापक को विषय वस्तु और शिक्षण-विधि का ज्ञान प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त नहीं है। उसे छात्रो का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हो गया है। इसीलिये अध्यापक को मनोविज्ञान का ज्ञाता होना चाहिये। वह छात्रो को कक्षा मे, खेल के मैदान मे तथा स्कूल से बाहर भी देखता है और उनके सम्पर्क मे आता है। उसे चाहिये कि वह सावधानी से प्रत्येक छात्र का निरीक्षण और अध्ययन किया करे। वह उसके गुणो और अवगुणो का विश्लेषण करके उसकी कठिनाइयों और विशेष परिस्थितियो को समझने का प्रयत्न करे। छात्र की दुर्बलताओ पर न तो अध्यापक को क्रोध करना चाहिये और न उसके प्रति उदासीनता प्रकट करनी चाहिये। उसे इन दुर्बलताओ के कारणों का पता लगाकर उन्हें दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। बिना कारण जाने किसी छात्र की दुर्बलता पर झुँझलाना – अध्यापक और छात्र के सम्बन्ध को विकृत कर देता है। उसे छात्र के साथ स्नेह और सहानुभूति का बर्ताव करना चाहिये। कोई भी छात्र जन्म से ही दुर्गुणों के साथ नहीं आता है। विशेष *परिस्थितियाँ उसमे कुछ अवांछित क्रियाएँ उत्पन्न कर देती हैं।* अध्यापक का कर्त्तव्य है कि धैर्य और परिश्रम द्वारा छात्र की विशेष परिस्थितियो को समझे और उचित पथ-प्रदर्शन द्वारा छात्र के जीवन को सुधार दे। अध्यापक के स्नेह और सहानुभूति ने कितने ही छात्रो को ऊँचा उठाया है। किसी अध्यापक का यह कथन कि उसके पास इन कार्यों के लिये समय नहीं है, केवल एक झूठा बहाना है। ऐसे अध्यापक अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व के साथ विश्वासघात करते हैं।

अब देश मे सहशिक्षा का प्रचलन बढ़ रहा है, फलत अध्यापक को छात्राओ के सम्पर्क मे भी आना पड़ जाता है। छात्राओ के प्रति अध्यापक को अपनी बहन तथा बेटी की सी दृष्टि रखनी चाहिए। उसे न तो उनके साथ विशेष आत्मीयता का व्यवहार करना चाहिए और न उदासीनता का। कभी-कभी कुछ छात्राएँ विशेष व्यवहार चाहने लगती हैं। अध्यापक को विशेष व्यवहार देने से सदैव बचना चाहिए अथवा वह छात्रों को घृणा तथा उपहास का पात्र बन जाएगा।

अध्यापक और अभिभावक—अध्यापक के छात्र सम्बन्धी जो कर्त्तव्य ऊपर बताये गये हैं, उनको सफलता से पूरा करने के लिये आवश्यक है कि अध्यापक छात्रा के अभिभावकों के सम्पर्क मे रहे। यह सम्पर्क जितना ही अधिक होगा, उतनी ही अधिक सहायता और सहयोग छात्र के विकास के लिये उपलब्ध हो सकेगा। उनड देशों

में बालक की शिक्षा अध्यापक और अभिभावक—दोनों का संयुक्त उत्तरदायित्व मानी जाती है अतः दोनों मिलकर छात्र के पूर्ण विकास के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। भारत में अभी इस दिशा में सहकारिता और सद्भाव की भावना विकसित नहीं हो पाई है। अभिभावक अपने उत्तरदायित्व को समझ नहीं पाये हैं। उनको इस दिशा में प्रेरित करना अध्यापक और प्रधानाध्यापक का कर्त्तव्य है। अकेला प्रधानाध्यापक सभी छात्रों के अभिभावकों से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता। इसलिये अध्यापकों को अपने-अपने सम्पर्क में आने वाले छात्रों के अभिभावकों से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए। छात्र विद्यालय में कुछ समय ही तक रहता है। अधिकांश समय वह घर पर अथवा अभिभावकों के साथ रहता है। जो प्रभाव उस पर विद्यालय में पड़ते हैं, वे घर के वातावरण से यदि मेल नहीं खाते तो उनके नष्ट हो जाने का अंदेशा रहता है। इस कारण अध्यापक को चाहिये कि अभिभावकों से मिल जुलकर छात्र के व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिये प्रयास करे। निकट भविष्य में अध्यापक-अभिभावक संघों की स्थापना से इस दिशा में प्रगति होने की आशा है।

अध्यापक और उसका परिवार—अध्यापक अथवा प्रधानाध्यापक को अपने पारिवारिक सम्बन्धों को भी आदर्श रूप में बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक है। वह आदर्श पति अथवा पत्नी, पिता, बन्धु और गृहस्थ बनकर ही दूसरों को प्रभावित कर सकता है। उसके लिये मानसिक शान्ति और स्वस्थता नितान्त अनिवार्य है। इनके बिना वह अपने कर्त्तव्यों का पालन उचित रीति से नहीं कर सकता। यदि उसके घरेलू सम्बन्धों में कटुता है, तो अध्यापक सदैव चिड़चिड़ा और क्रोधी बना रहेगा। प्रायः देखा जाता है कि अध्यापकों में पारिवारिक परिस्थितियों से क्रोध उत्पन्न होता है और वह कक्षा में जाकर विद्यार्थियों पर बरस पड़ते हैं। जिन अध्यापकों की अपनी पत्नियों से अनबन रहा करती है, उनके चरित्र प्रायः गड़बड़ होते हैं। यदि अध्यापक का पारिवारिक जीवन सुखी और मधुर नहीं है, तो वह कभी भी आदर्श अध्यापक नहीं हो सकता। अध्यापकों की नियुक्ति के समय उनके पारिवारिक जीवन के विषय में जानकारी अवश्य प्राप्त कर ली जानी चाहिये।

अध्यापक और सामान्य समाज—आदिकाल से ही समाज अध्यापकों से बड़ी-बड़ी आशाएँ रखता आया है। अध्यापक भी आवश्यकता पड़ने पर समाज का नेतृत्व करने से नहीं चूके हैं। समाज में विभिन्न बुराइयाँ उत्पन्न होती रहती हैं। अध्यापक का कर्त्तव्य है कि वह सामाजिक बुराइयों के प्रति समाज को सावधान करता रहे और स्वयं आदर्श उपस्थित कर समाज को कल्याणकारी मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता रहे। आधुनिक प्रजातन्त्र में नागरिकता की शिक्षा और उसका प्रचार, दोनों अत्यन्त आवश्यक हैं। समाज में शिक्षित और अशिक्षित सभी प्रकार के लोग पाये जाते हैं। अध्यापक एक आदर्श नागरिक बनकर समाज का महान् हित कर सकता है और दूसरों को आदर्श नागरिक बनने की प्रेरणा दे सकता है। विद्यालय को समाज का एक आदर्श लघु रूप बनना है। यह तभी सम्भव है जब अध्यापक

समाज व्यवस्था के विभिन्न तत्वों को समझे और उनका आदर्श रूप विद्याल
उपस्थित करे। अध्यापक को सामाजिक उत्सवों में सहयोग प्रदान करना च
और उन्हे सफल बनाना चाहिये। अपने उन्नत दृष्टिकोण द्वारा वह समाज मे
विचारधारा का प्रचार कर सकता है और उसे उन्नत बना सकता है।

अध्यापक और विद्यालय का हित

विद्यालय के हित के लिए अध्यापक को विभिन्न प्रकार से प्रयत्न करना
है। विद्यालय के कार्य का विभाजन करना प्रधानाध्यापक का कर्त्तव्य है।
विषय मे विस्तार से आगे लिखा जायेगा। किन्तु कार्य-विभाजन के पश्चात्
अध्यापक का कर्त्तव्य है कि वह अपनी सम्पूर्ण योग्यता और सामर्थ्य के साथ
भाग मे आए हुए कार्य का सम्पादन करे और सम्पूर्ण विद्यालय कार्य को इकाई
कर अन्य अध्यापकों के कार्य मे भी यथावसर सहयोग प्रदान करता रहे। यदि
अन्य अध्यापक अपने कार्य को उत्तम ढङ्ग से करता है, तो उस पर प्रसन्नता
करनी चाहिये। ईर्ष्यावश दूसरों से द्वेष नहीं करना चाहिये, और न उसका
चिन्तन करना चाहिये। सभी के साथ हिल-मिलकर काम करने से ही विद्याल
हित-साधन हो सकता है।

शिक्षक-क्लब

अध्यापकों को प्रयत्न करके विद्यालय मे एक शिक्षक-क्लब की स्थापन
लेनी चाहिए। इससे नाना प्रकार के लाभ होते हैं। क्लब मे प्रजातन्त्रीय निय
पालन होना चाहिए। प्रत्येक अध्यापक को अपने विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक
करने की सुविधा होनी चाहिए। सभी अध्यापकों से सम्बन्धित विषयों और विद
सम्बन्धी समस्याओं पर अध्यापकों की बैठकों मे विचार-विमर्श होना चाहिए।
परिस्थितियों म अध्यापकों की विशेष बैठकें बुलाई जा सकती हैं और पारस
विचार-विनिमय ... है। किन्तु इस बात मे सावधान रहना चाहि
कहीं ... रूप न धारण कर लें। इनमे अधिकारि
... हुए। क्लब का उद्देश्य शैक्षणिक, सांस्कृतिक
... इसमे अध्यापक अपने विष
और अपने सहयोगि
... पर विचार क
... ा और सम्कृ
... और प्रदान
स्वय के जीवन को सरस
नितान्त आवश्यक है।
... लेता है,

में वह अधिक स्वतन्त्रता से इन कार्यों में भाग ले सकता है। किसी दार्शनिक का कथन है कि—"जो मनुष्य हँसना नहीं जानता, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।" यह कथन अध्यापक के लिये पूर्णतः लागू होता है। यदि आधुनिक अध्यापक हँसने की कला नहीं सीखेगा, तो वह असमय ही नष्ट हो जायगा। अध्यापक को ऐसा कार्य करना पड़ता है, जिसका प्रभाव निरन्तर उसके मस्तिष्क और हृदय पर पड़ता रहता है। अल्पवेतन-भोगी और निम्नकोटि परिस्थितियों में पड़ा हुआ अध्यापक यदि मनोरंजन के साधन न प्राप्त कर सकेगा, तो वह या तो पागल हो जायगा या क्षय का रोगी। बालकों के सम्पर्क में रहकर उसे सदैव अपने को नवयुवक समझने का अभ्यास डालना चाहिए। उसे बालकों के साथ तो खेलकूद और मनोरंजन के साधनों में भाग लेना ही चाहिए ताकि बालकों को प्रोत्साहन मिले। किन्तु उनके साथ तो वह पथ-प्रदर्शक के रूप में ही रहता है। शिक्षक-क्लब में अध्यापक अधिक स्वतन्त्रता से मनोरंजन के साधनों का उपयोग कर सकता है; अतः क्लब की ओर से उत्सव यात्राओं, गोष्ठियों तथा संगीत आदि का आयोजन होता रहना चाहिए, जिससे अध्यापक अपना मनोविनोद कर सकें।

प्रधानाध्यापक

हमने ऊपर संकेत किया है कि किसी भी विद्यालय के लिये एक प्रधानाध्यापक का होना अनिवार्य है। प्रधानाध्यापक का पद इतना अधिक महत्वपूर्ण होता है कि किसी प्रकार भी उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। अतः यहाँ पर हम उसके विषय में कुछ विस्तृत विवरण देना उचित समझते हैं।

महत्व—प्रधानाध्यापक का पद इतना महत्वपूर्ण है कि पूर्ण रूप से उसके महत्व का वर्णन, यदि असम्भव नहीं तो दुःसाध्य अवश्य ही है। वह विद्यालय का केन्द्र बिन्दु है। विद्यालय की समस्त क्रियाएँ और विद्यालय का समस्त जीवन उसी पर प्रधानतः आधारित है। विद्यालय का समस्त संचालन, संगठन और व्यवस्था मुख्य रूप से उसी के उत्तरदायित्व है। "किसी विद्यालय की प्रतिष्ठा और समाज की दृष्टि में उसका स्थान—इस बात पर निर्भर रहता है कि उस विद्यालय का प्रधानाध्यापक अपने सहयोगी अध्यापक वर्ग, विद्यार्थी वर्ग, अभिभावक वर्ग तथा साधारण नागरिकों पर कितना प्रभाव डालता है। इसी प्रकार विद्यालय का अनुशासन और उसकी [illegible] प्रधानाध्यापक के विशेष उत्तरदायित्व हैं। समाज के जीवन में भी वह एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि वह समाज पर एक स्थायी प्रभाव डाल सकता है।"[1]

वास्तव में प्रधानाध्यापक ही अभिभावकों और जनता के मध्य सम्पर्क के आधार पर विद्यालय और समाज के बीच की [illegible] का निर्माण करता है। इस आधार पर यह कहा जाता है कि विद्यालय समाज का लघुरूप है और [illegible] बनाने के लिए विद्यालय और समाज के बीच [illegible] और [illegible] का

1. Report of the Secondary Education Commission (1952-53)

आदान-प्रदान होता रहना चाहिए। इस दृष्टि से दोनों के बीच मधुर और बुद्धिमत्ता-पूर्ण सम्बन्ध रहना आवश्यक है। इस कार्य को प्रधानाध्यापक ही कर सकता है। समाज, सरकार, अथवा जन प्रतिनिधियों द्वारा अनुमोदित शिक्षा-योजनाओं के कार्यान्वयन का भार भी प्रधानाध्यापक पर ही रहता है। शिक्षा-अधिकारियों और शिक्षा विभागों द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-नीति को क्रियान्वित और सफल करने का उत्तरदायित्व भी उसी पर होता है। विद्यालय के बाह्य और आन्तरिक तत्त्वों के बीच सन्तुलन एवं उचित सामञ्जस्य बनाए रखना भी प्रधानाध्यापक का ही कर्त्तव्य होता है।

विद्यालय-रूपी नौका का प्रधान नाविक—प्रधानाध्यापक ही होता है। नौका को उसके निश्चित गन्तव्य तक सकुशल पहुँचाना प्रधानाध्यापक की शक्ति और बुद्धि पर निर्भर है। पी० सी० रेन का कथन है कि "स्कूल सील लगाने का चपरा (लाख) है, और प्रधानाध्यापक सील है।" जैसी सील होगी वैसी ही मुहर होगी। वास्तव में विद्यालय की प्रत्येक बात में, प्रत्येक गति-विधि में प्रत्येक क्रिया में प्रधानाध्यापक के व्यक्तित्व की झलक भासती रहती है। विद्यालय के कार्यक्रम द्वारा बड़ी सरलता से प्रधानाध्यापक के व्यक्तित्व की माप की जा सकती है। प्रधानाध्यापक का उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य आधुनिक जनतन्त्र के किसी प्रधान मन्त्री, किसी सेना के सेना-नायक, अथवा किसी टीम के कप्तान से अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। इन सभी में उच्चकोटि की नेतृत्व-शक्ति, और वाञ्छित प्रेरक शक्ति ही इनको कार्य सिद्धि प्रदान कर सकती है। प्रधानाध्यापक का पद इसलिए बढ़ चढ़कर है कि उसे प्रमुख रूप से शिक्षितों का नेतृत्व करना पड़ता है। इस पद के उत्तरदायित्व और कर्त्तव्यों का सफलता पूर्वक निभाने के लिए प्रधानाध्यापक को विशिष्ट गुणों का पुंज होना चाहिए।

प्रधानाध्यापक के गुण—ऐसे महत्त्वपूर्ण पद के लिये, विशिष्ट व्यक्तित्व वाला, असाधारण योग्यता का, महत्त्वशाली व्यक्ति ही उपयुक्त हो सकता है। जैसे सभी लोग नेता नहीं बन सकते, वैसे ही सभी व्यक्ति प्रधानाध्यापक नहीं बन सकते। कहा जाता है कि प्रधानाध्यापक बनाये नहीं जाते, वरन् पैदा होते हैं। आधुनिक प्रजातन्त्र के युग में यह विचारधारा सर्वमान्य नहीं हो सकती। किसी भी क्षेत्र में एकरूपता और समरूपता का आधिक्य उस क्षेत्र के विस्तार और विकास की गति को मन्द कर देता है। यह आवश्यक नहीं है कि सभी प्रधानाध्यापक एक ही साँचे के ढले हों, उनमें विभिन्नता और मौलिकता भी आवश्यक है। किन्तु इससे इनकार नहीं किया जा सकता है कि प्रधानाध्यापक में विशेष प्रकार की योग्यता और कतिपय विशिष्ट गुणों का होना अत्यन्त आवश्यक है, वरना वह आधुनिक समय में अपने पद की गरिमा को बनाये रखने में असफल सिद्ध होगा। नीचे हम उसकी इस योग्यता और इन गुणों का विवेचन करें।

प्रधानाध्यापक को प्रकाण्ड विद्वान् होना चाहिये। इसके लिये उसमें बहुमुखी प्रतिभा का होना आवश्यक है। उसके लिए कुछ विषयों में पारंगत होना ही आवश्यक नहीं है, वरन् उसे अनेकों विषयों का सामान्य ज्ञान होना भी अति आवश्यक है।

उसका सामान्य ज्ञान अति उच्चकोटि का होना चाहिए। हम कह चुके हैं कि विद्यालय में अनेक विषय पढ़ाये जाते हैं और प्रधानाध्यापक विद्यालय का नेता होता है। विभिन्न विषयों के अध्यापक उससे पथ-प्रदर्शन की अपेक्षा रखते हैं। विभिन्न विषयों का निरीक्षण, संगठन, परामर्श एवं निर्देशन—प्रधानाध्यापक को करना पड़ता है। यदि विभिन्न विषयों का सम्यक् ज्ञान उसे नहीं है तो उसमें नेतृत्व की क्षमता नहीं हो सकती। उसका परामर्श और निर्देशन प्रभावशाली तभी हो सकता है, जब वह विषय पर अधिकारपूर्ण बोल सके। उसे विषय का ज्ञान होना ही पर्याप्त नहीं है। उस विषय की शिक्षण-विधि तथा उसका आधुनिकतम विकास भी उसे ज्ञात होना चाहिए। इस कारण प्रधानाध्यापक की शिक्षा और प्रशिक्षण उच्च और विशिष्ट कोटि के होने चाहिए।

प्रधानाध्यापक के लिए धीर और प्रत्युत्पन्नमति होना भी अति आवश्यक है। उसे अपने उत्तरदायित्वों को निभाते समय अनेक प्रकार की परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। स्वस्थ जीवन-दर्शन और अपने कर्त्तव्यों के प्रति पूर्ण आस्था ही उसे विचारों की वह प्रौढ़ता और परिपक्वता प्रदान कर सकते हैं, जो विभिन्न सम-विषम परिस्थितियों में अडिग रहकर शिक्षा-उद्देश्यों को प्राप्त करने में उसकी सहायक होती रहें। निष्पक्ष और शीघ्र निर्णय प्रधानाध्यापक के लिये अत्यन्त आवश्यक होता है। निर्णय-शक्ति को सूक्ष्म और प्रबल बनाने में विचारों की स्पष्टता और स्थिरता अत्यन्त उपयोगी होती है। निर्बल निर्णय-शक्ति का व्यक्ति कभी भी सफल प्रधानाध्यापक नहीं हो सकता। शीघ्रता में उठाया गया कोई भी गलत कदम—असफलता और अयोग्यता का प्रमाण हो जायगा।

यों तो प्रत्येक अध्यापक का चरित्र आदर्श होना चाहिए किन्तु प्रधानाध्यापक का चरित्र तो अति उच्च और आदर्श का रूप होना चाहिए। वह अध्यापक वर्ग, विद्यार्थी-वर्ग, अभिभावक-वर्ग, कर्मचारी-वर्ग और जनसाधारण के लिये एक उदाहरण होता है। सभी उससे प्रभावित और अनुप्राणित होते हैं। उसके नैतिक-चरित्र का संदेह से परे और प्रत्येक दृष्टि से आदर्श होना अत्यधिक वांछनीय है। न्यायप्रियता, सहानुभूति, समदर्शिता, सहनशीलता, प्रगतिशीलता, कार्यक्षमता, दूरदर्शिता एवं संगठन-शक्ति आदि गुण जितनी ही अधिक मात्रा तथा समन्वय के साथ उसमें वर्तमान होंगे, उसी मात्रा में प्रधानाध्यापक एक आदर्श और सफल प्रधान होगा। अपने गुणों के कारण उसके व्यक्तित्व में अनुरूपता और अभिव्यक्तता का समन्वय होना चाहिए। इन्हीं गुणों के आधार पर वह दूसरों का सम्मान, श्रद्धा तथा विश्वास प्राप्त कर सकता है। इन्हीं के द्वारा वह दूसरों को प्रेरणा प्रदान कर उनमें आज्ञाकारिता और कार्य क्षमता का संचार कर सकता है। वह समाज की आवश्यकताओं का अध्ययन करता है और अपनी दूरदर्शिता और क्षमता के द्वारा विद्यालय का संचालन इस प्रकार करता है कि समाज की शिक्षा विषयक आवश्यकताओं और उद्देश्यों की पूर्ति हो।

प्रधानाध्यापक के स्वरूप और गुणों के विषय में जो सिद्धान्त रखे गये हैं उनकी पूर्ति आदर्श समाज और आदर्श परिस्थितियों में ही हो सकती है। किन्तु जो कुछ

कहा गया है, उसके आधार पर यह निर्विवाद है कि प्रधानाध्यापक का चुनाव और नियुक्ति विशेष महत्व रखते हैं। अपने गुणों, योग्यताओं, अनुभवों, व्यवहारों और सामाजिक रुचियों के आधार पर वह समाज और अपने सहयोगियों का विश्वास और सहयोग, तथा अपने विद्यार्थियों की श्रद्धा प्राप्त कर सकता है। उसमें नेतृत्व एवं प्रशासन की योग्यताएं अनिवार्य रूप से होनी चाहिए। उसकी नियुक्त में उपरोक्त बातों का ध्यान रखना अति आवश्यक है।

प्रधानाध्यापक के कर्त्तव्य

नियुक्ति के उपरान्त प्रधानाध्यापक ही विद्यालय की आन्तरिक व्यवस्था, अर्थात पाठ्यक्रमीय तथा पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाओं के संगठन एवं संचालन तथा परीक्षण, अनुशासन और पर्यवेक्षण आदि प्रत्येक गतिविधियों के लिये उत्तरदायी होता है। सिद्धान्त-रूप से विद्यालय की प्रत्येक क्रिया में प्रधानाध्यापक का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष हाथ रहता है। प्रधानाध्यापक वह धुरी है, जिस पर विद्यालय-चक्र घूमता है। प्रधानाध्यापक के कर्त्तव्य अनेक प्रकार के होते हैं, अतः उसमें बहुमुखी प्रतिभा का होना आवश्यक है। उसके कर्त्तव्य एक नहीं अनेक होते हैं, और उनका वर्गीकरण भी सरल नहीं है अतः हम उसके प्रमुख कर्त्तव्यों के संक्षिप्त विवेचन का ही प्रयास यहाँ पर करेंगे।

प्रधानाध्यापक के प्रमुख कर्त्तव्यों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) विद्यालय की आन्तरिक-व्यवस्था-सम्बन्धी कर्त्तव्य, और (२) विद्यालय की वाह्य-व्यवस्था सम्बन्धी कर्त्तव्य। इन दो प्रकार के कर्त्तव्यों के अन्तर्गत प्रायः वे सभी बातें आ जाती हैं, जो किसी विद्यालय को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए आवश्यक होती हैं। आन्तरिक व्यवस्था सम्पूर्ण रूप से प्रधानाध्यापक का उत्तरदायित्व है। इसके संगठन और संचालन के बल पर ही प्रधानाध्यापक उन लक्ष्यों और आदर्शों को प्राप्त कर सकता है, जिन्हें समाज ने विद्यालय के लिये निर्धारित किया है। हम कह चुके हैं कि शिक्षा नीति समाज अथवा समाज के प्रतिनिधि व्यवस्थापकों द्वारा निश्चित की जाती है, किन्तु उसको क्रियान्वित करने का भार प्रधानाध्यापक पर होता है। निर्धारित शिक्षा-नीत को समझना और स्पष्ट रूप से उसका चित्र सदैव दृष्टि में रखना प्रधानाध्यापक के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। शिक्षा नीति के स्वरूप को स्पष्ट समझकर ही वह विद्यालय की आन्तरिक व्यवस्था का संगठन और संचालन ऐसी उत्तम रीति से कर सकता है कि वह विद्यालय अभीष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति में सफल हो।

१. विद्यालय की आन्तरिक व्यवस्था

हम कह चुके हैं कि विद्यालय समाज का एक लघु स्वरूप अथवा समाज के भीतर एक लघु समाज होता है। इसके विभिन्न अङ्ग होते हैं। इन विभिन्न अंगों की क्रिया-शक्ति पर ही विद्यालय रूपी समाज की जीवन-शक्ति निर्भर रहती है। इन

छात्रों की भलाई सोचे, सदैव उनके हित के लिये कार्य करे, तो कोई कारण नहीं कि छात्र आदर और श्रद्धा से उसके सम्मुख सिर न नवायें।

विद्यालय में छात्रों की संख्या कितनी हो, इसका निर्णय करना भी प्रधानाचार्य का कर्त्तव्य ही होता है। वह समाज की आवश्यकता और अपने विद्यालय की क्षमता को देखकर, अथवा शिक्षा-विभाग द्वारा निश्चित नियमों के अनुसार संख्या निश्चित कर सकता है। छात्रों के वर्गीकरण का उत्तरदायित्व भी प्रधानाध्यापक का ही होता है। वह योग्यता, आयु और रुचि के अनुसार विद्यार्थियों को विभिन्न वर्गों में विभक्त कर सकता है। भारत में श्रेणी प्रणाली होने के कारण एक ही कक्षा में विभिन्न आयु, योग्यता और रुचि के विद्यार्थी एक साथ ही शिक्षा प्राप्त करते हैं। किन्तु यदि विद्यालय में उपकक्षाएँ हों तो प्रधानाचार्य को चाहिये कि एक योग्यता और आयु के बालकों को एक उपकक्षा में रखने का प्रयत्न करे।

(ङ) अनुशासन—अनुशासन ही मानव जीवन को सुखी और समृद्ध बनाता है। अनुशासनहीन जीवन उच्छृङ्खल हो जाता है। किसी राष्ट्र अथवा व्यक्ति की उच्चता और महत्ता उसमें वर्तमान अनुशासन द्वारा आँकी जा सकती है। विद्यालय में अनुशासन ठीक रखना प्रधानाध्यापक का प्रधान कर्त्तव्य होता है। प्रधानाध्यापक को देखना चाहिये कि छात्र कक्षा में, कक्षा के बाहर क्रीड़ा क्षेत्र आदि में, विभिन्न स्थानों और अवसरों पर, अनुशासन-पूर्वक रहें। समय पर विद्यालय आना, समय पर प्रत्येक कार्य करना, अधिक शोरगुल न करना, विद्यालय की दिनचर्या में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न करना, सबके साथ सभ्य एवं भद्र व्यवहार करना, छात्रों के लिए आवश्यक और कल्याणकारी है। इसी से छात्र भविष्य जीवन के लिए योग्यता प्राप्त करता है। बिना अनुशासन के वह नागरिक जीवन में भी सफल नहीं हो सकता है। अनुशासन के विषय में हम अलग से विस्तार पूर्वक लिखेंगे। यहाँ हम केवल इस बात पर जोर देना चाहते हैं कि विद्यालय का समस्त अनुशासन प्रधानाचार्य पर निर्भर करता है। प्रधानाध्यापक अपने आदर्शों के अनुसार व्यवहार करके छात्रों को प्रभावित कर सकता है। प्रत्येक अवसर पर उसकी पैनी दृष्टि छात्रों पर होनी चाहिये और उसे स्वयं आदर्श उपस्थित कर विद्यालय की प्रत्येक क्रिया में अनुशासन लाना चाहिए। प्रधानाध्यापक को यथावसर छात्रों की आन्तरिक प्रवृत्तियों को उत्तेजित करके उनके भीतर अनुशासन की भावना उत्पन्न करना चाहिये। अनुशासन की भावना जब छात्र में संस्कार के रूप में आ जाय, तभी समझना चाहिए कि प्रधानाध्यापक अपने प्रयत्न में सफल हुआ है। कहा जाता है कि प्रधानाध्यापक की योग्यता की कसौटी—विद्यालय का अनुशासन है।

(च) विद्यालय का अध्यापन-कार्य—शिक्षण की सुव्यवस्था भी प्रधानाध्यापक के प्रमुख कर्त्तव्यों में से है। अध्यापन-कार्य ही विद्यालय की प्रमुख क्रिया है। प्रधानाध्यापक को स्वयं भी अति उत्कृष्ट कोटि का अध्यापक होना चाहिये। उसे

विद्यालय में कुछ घण्टों का अध्यापन कार्य अवश्य लेना चाहिये। इस अध्यापन-कार्य के लिये प्रधानाध्यापक को सतर्कता से अपने को प्रस्तुत करना चाहिये और आधुनिकतम विधियों का प्रयोग करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि प्रधानाध्यापक शिक्षण का ऐसा आदर्श उपस्थित करे कि अन्य शिक्षक उससे प्रेरणा ग्रहण कर सकें। छात्रों से सम्पर्क रखना प्रत्येक प्रधानाध्यापक के लिये आवश्यक है। इसलिये उत्तम तो यह है कि प्रधानाचार्य प्रत्येक कक्षा में कुछ न कुछ समय शिक्षण अवश्य करे। किन्तु प्रधानाध्यापक पर प्रशासन का कार्य भार अधिक होता है और वह इतना समय नहीं निकाल पाता कि वह प्रत्येक कक्षा में प्रतिदिन पढ़ा सके। ऐसी दशा में उसे विद्यालय की उच्चतम और निम्नतम कक्षाओं में कोई विषय अथवा उसका भाग अवश्य पढ़ाना चाहिये और अन्य कक्षाओं में सप्ताह में एक घंटा साधारण ज्ञान अथवा कोई विषय पढ़ाना चाहिए। ऐसा करने से वह सम्पूर्ण विद्यालय के छात्रों से सम्पर्क स्थापित कर सकेगा और उनको प्रभावित कर सकेगा।

विद्यालय में होने वाले अन्य अध्यापकों के अध्यापन-कार्य का पर्यवेक्षण एवं निरीक्षण भी प्रधानाचार्य का प्रमुख कर्त्तव्य है। उसे देखना चाहिये कि अन्य शिक्षक अपना यह कार्य उचित ढङ्ग से कर रहे हैं। उसे समय-समय पर अध्यापकों के कार्य पर दृष्टि रखते रहना चाहिये। उसके नेत्र और कान इतने सधे होने चाहिए कि वह कक्षा के बाहर से भी कक्षा के भीतर होने वाली गतिविधि का पता लगा सके। वह अध्यापकों को स्नेह और सहानुभूति के साथ ऐसी प्रेरणा दे कि अध्यापक नवीनतम शिक्षण विधियों का प्रयोग करें। प्रधानाध्यापक इस दिशा में अपने अनुभव के आधार पर अन्य अध्यापकों का उचित पथ प्रदर्शन कर सकता है। वैसे भी उसे विभिन्न विषयों की आधुनिक शिक्षण विधियों का ज्ञान होना चाहिए। प्रधानाध्यापक को [illegible] निरीक्षण करते रहना चाहिए और यह जाँच करते रहना चाहिये कि अध्यापक उचित [illegible] आवश्यक [illegible] कार्य करते और [illegible] हैं या नहीं। अध्यापकों की कापियों की जाँच भी उसे समय समय पर करनी चाहिये। [illegible] कहा जा सकता है कि प्रधानाध्यापक का यह कर्त्तव्य है कि वह अध्यापकों से [illegible] जिस कार्य के लिये अध्यापक विद्यालय में नियुक्त किये गये हैं।

(ग) छात्रों का स्वास्थ्य और चरित्र — छात्रों के स्वास्थ्य और चरित्र के निर्माण के [illegible]

उसकी शारीरिक शक्तियों का विकास करना भी है। इस विषय में प्रधानाध्यापक का उत्तरदायित्व इसलिए बहुत अधिक है क्योंकि राष्ट्र की उन्नति स्वस्थ नागरिकों पर ही निर्भर है। इस कारण छात्रों को शारीरिक विकास की पूर्ण सुविधाएँ प्रदान करने के लिये प्रधानाध्यापक को सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिये।

विद्यार्थी-जीवन में ही चरित्र का निर्माण और उसकी पुष्टि होती है। प्रधानाध्यापक अपने आदर्श चरित्र और अपने सहयोगियों के चरित्र से उदाहरण उपस्थित कर विद्यार्थियों को वांछित चरित्र निर्माण में सहयोग प्रदान कर सकता है। छात्र स्वभावतः अनुकरणशील होता है। यदि विद्यालय-जीवन में उसे उचित आदर्श और निर्देशन प्राप्त होता रहे, तो वह अपने चरित्र को आदर्श बना सकता है। आधुनिक भारत में विद्यार्थियों की अनुशासन हीनता का एक प्रमुख कारण उनके सम्मुख चारित्रिक आदर्शों का अभाव है। वर्तमान समाज, अध्यापक-वर्ग, तथा अन्य परिस्थितियाँ इनके लिये उत्तरदायी हैं। किन्तु एक-दूसरे को दोषी ठहराने से तो राष्ट्रीय उत्थान नहीं होगा। इस दिशा में सबका सहयोग अपेक्षित है। प्रधानाध्यापक ही इस सहयोग का संगठन और संचालन कर सकता है।

विद्यालयों में छात्रावासों का होना अनिवार्य होना चाहिए। छात्रावासों का नियन्त्रण विद्यालय कर सकता है और उन्हें अपने आदर्शों के अनुकूल बना सकता है। विद्यालय के अधिकांश छात्र यदि छात्रावासों में रहें, तो अनुशासन की समस्या सरल हो जाय। छात्रावास ही छात्रों को पारस्परिक सहयोग और प्रेम की भावनाएँ प्रदान करते हैं। प्रधानाध्यापक का छात्रावासों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए। प्रधानाध्यापक को चाहिये कि वह ऐसे अध्यापक को गृहपति नियुक्त करे, जो इस महान् उत्तरदायित्व-पूर्ण पद के लिये सब प्रकार से योग्य हो। छात्रावास का वातावरण अत्यन्त उच्चकोटि का होना चाहिये। इस वातावरण की छाप जीवन पर्यन्त विद्यार्थियों पर रहती है। यह वातावरण इस प्रकार का हो, कि वह विद्यार्थी में आत्म विश्वास, आत्मनिर्भरता और आत्म-गौरव आदि सद्गुणों को उत्पन्न करे। छात्रों के भोजन, शयन, व्यायाम एवं अध्ययन आदि की उचित और नियमित व्यवस्था छात्रावास में होनी अनिवार्य है। प्रधानाध्यापक पूर्ण रूप से इस व्यवस्था के लिये उत्तरदायी है। उसका कर्त्तव्य है कि वह छात्रावासों का निरीक्षण करता रहे और उनके वातावरण को आदर्श बनाने का प्रयत्न करता रहे। किसी प्रकार की त्रुटि और असावधानी छात्रावास के वातावरण को गन्दा बना सकती है। प्रधानाध्यापक को इस ओर से अत्यन्त सजग और सावधान रहना चाहिए। सामाजिक जीवन के प्रशिक्षण के लिये छात्रावास अनन्यतम साधन हैं।

जिन संस्थाओं के साथ महिलाओं के छात्रावास जुड़े रहते हैं, उनके प्रधानाध्यापकों को तो और अधिक सावधान रहना चाहिए। उसकी दृष्टि इतनी पैनी होनी चाहिए कि वह जानता रहे कि कौन-कौन अध्यापक, कर्मचारी अथवा छात्र-छात्राओं में विशेष रुचि लेने के अधिकारी हैं। उसे प्रयत्न करके ऐसे लोगों की घुसपैठ से

छात्रावासों को बचाए रखना चाहिए। इस विषय में उसे आवश्यकता निष्पक्षता-पूर्वक कठोर वृत्ति अपनानी चाहिए। इस विषय में यदि उसने तो निश्चय ही उसे कभी न कभी अपनी ढिलाई का कठोर प्रायश्चित पड़ेगा।

(ज) प्रधानाध्यापक और अध्यापक—प्रधानाध्यापक और विद्यालय के का पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता। प्रधानाचार्य कितना भी योग्य गुणसम्पन्न हो, किन्तु बिना अपने सहयोगियों और सहकारियों के सहयोग के कुछ नहीं कर सकता है। उसे प्रत्येक पद पर उनका सहयोग प्राप्त होना आवश्यक है उनके सहयोग के बल पर ही वह विद्यालय के लक्ष्यों और आदर्शों की ... है और विद्यालय को सफलता की उच्चतम सीढ़ी तक पहुँच सकता है। यह सहयोग किस प्रकार प्राप्त हो ? सबसे पहले तो प्रधानाध्यापक को अध्यापकों की नियुक्ति के विषय में ही बहुत सतर्क और विवेकशील होना चाहिए। उसे निष्पक्ष भाव से ऐसे अध्यापकों की नियुक्ति पर बल देना चाहिए, जो उसकी राय में उस विद्यालय के वातावरण के योग्य हों और उसे वांछित सहयोग प्रदान कर सकें। चूँकि अध्यापकों से कार्य लेना प्रधानाध्यापक का उत्तरदायित्व है, अतः अध्यापकों की नियुक्ति में भी उसका प्रमुख हाथ होना चाहिए। उस अवसर पर प्रधानाध्यापकों को चाहिये कि वह खूब जाँच-पड़ताल करके अध्यापकों की नियुक्ति करे।

दूसरे, प्रधानाध्यापक को प्रत्येक अध्यापक के साथ सहानुभूति, उदारता और स्नेह का व्यवहार रखना चाहिए। उसे अपने को उनका हितैषी, बन्धु, परामर्शदाता और पथ-प्रदर्शक समझना चाहिए। जहाँ प्रधानाध्यापक में अहं-भावना उत्पन्न हो जाती है, वहीं वह अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाता है। प्रजातन्त्रीय प्रणाली द्वारा ही आधुनिक प्रधानाध्यापक अपने कार्य में सफलता प्राप्त कर सकता है। छिद्रान्वेषण प्रवृत्ति से उसे बचना चाहिये। उसे जहाँ कहीं अध्यापक में त्रुटि मालूम हो, अध्यापक को एकान्त में बुलाकर समझा देना चाहिए। दूसरों के सम्मुख कभी भी अध्यापक की आलोचना और बुराई नहीं करनी चाहिये। उसका व्यवहार प्रत्येक अध्यापक के साथ इतना मधुर होना चाहिए कि अध्यापक स्वयं आकर अपनी कठिनाइयाँ उसके सम्मुख रख सकें और सलाह ले सकें। प्रत्येक अध्यापक की रुचि, योग्यता, घरेलू परिस्थितियाँ और चरित्र आदि के विषय में प्रधानाध्यापक को प्रयत्न पूर्वक अधिकाधिक जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए और तदनुकूल उनके साथ व्यवहार करना चाहिए। उसे अध्यापकों की कठिनाइयों को समझना चाहिए और उन्हें यथाशक्ति दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि प्रधानाध्यापक अन्य अध्यापकों के हृदय में अपने प्रति भय के स्थान पर श्रद्धा उत्पन्न कर सके, तो उसे वांछित सहयोग अवश्य प्राप्त होगा।

वांछित मात्रा में सहयोग प्राप्त हो सके, इसके लिये आवश्यक है कि प्रधानाचार्य विद्यालय में किसी प्रकार की दलबन्दी न होने दे, और न स्वयं किसी दलबन्दी में रहे। प्रधानाध्यापक की दृष्टि में सभी अध्यापक समान होने चाहिए। उसको

हिए कि वह अच्छे कार्य के लिये सभी को प्रोत्साहित करे और त्रुटियों के लिए
ी को सावधान कर दे। बहुत से अध्यापकों को चुगलखोरी करने की आदत पड़
ती है। उसे इस आदत को कभी प्रोत्साहित नहीं करना चाहिए। कार्य वितरण में
उसको देखना चाहिए कि सभी पर कार्य-भार समान रहे। न किसी के साथ
पात हो और न किसी के साथ अन्याय। अध्यापन-कार्य पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं
वितरण योग्यता, अनुभव, एवं रुचि के आधार पर इस प्रकार किया जाय कि
भी अध्यापक सन्तुष्ट रहें और अपनी शक्ति से भी अधिक कार्य करने के लिये
स्तुत रहें।

अध्यापकों के बीच कार्य-विभाजन कर देने के पश्चात् प्रधानाध्यापक को
ध्यापक का विश्वास करके उस कार्य को उस पर छोड़ देना चाहिए। प्रत्येक बात
बारम्बार दखल देने की प्रकृति बुरी है। यदि कार्य अध्यापक के विश्वास पर छोड़
दिया जायगा तो उनके अन्दर उत्तरदायित्व और आत्मसम्मान की भावना उत्पन्न
होगी और वह उस कार्य को सफलता से करने का प्रयत्न करेगा। हाँ, प्रधानाध्यापक
ो यह अवश्य चाहिए कि वह समय-समय पर उस कार्य का निरीक्षण और मूल्यांकन
र लिया करे। इससे अध्यापक भी सतर्क रहेगा और प्रधानाध्यापक को भी कार्य
ी प्रगति का पता लगता रहेगा। यदि वह आवश्यक समझे तो अध्यापक से विचार-
विमर्श कर लिया करे और समय-समय अपना दृष्टिकोण समझाते हुए आवश्यक निर्देश
दे दिया करे। यह आवश्यक नहीं कि वह सदैव अपनी ही बात ऊँची रखना चाहे।
यदि किसी अध्यापक का सुझाव उचित हो, तो उसे अवश्य मान लेना चाहिए। समस्त
अध्यापकों के कार्यों का पर्यवेक्षण प्रधानाध्यापक को अवश्य करना चाहिए। किसी
अध्यापक में यह भावना न पैदा होने देनी चाहिए कि वह जैसा चाहे, वैसा कर सकता
है। ऐसा होने पर अध्यापक में शिथिलता और अहंभाव आ जाते हैं, जो उसके पतन
का मार्ग खोल देते हैं।

(ब) प्रधानाध्यापक और वरिष्ठतम अध्यापक—प्रत्येक प्रधानाध्यापक को
अपने अध्यापक-मंडल के वरिष्ठतम सदस्य को अपने विशेष सम्पर्क में रखना चाहिए।
उसे चाहिए कि वह उस पर विश्वास करे, उसके परामर्श का आदर करे और उसे
विद्यालय-सचालन का प्रशिक्षण देता रहे। यदि दोनों के बीच विश्वास का वातावरण
बन जाए तो ... का कार्य-भार बहुत कुछ हलका हो जाएगा। इतना ही
नहीं, ... स्थिति में भी विद्यालय का कार्य निर्धारित नीति के अनुसार
... पास पर्याप्त समय बचता रहेगा।
... सम्बन्धों की मधुरता बहुत कुछ
रहती है। उसे अपने कार्य तथा
... हिए। उसे मन में भी
चाहिए। उसका सम्पूर्ण

सम्बन्धी कागजात, नियुक्ति-सम्बन्धी-कागजात और अध्यापकों के अभिलेख आदि अत्यन्त सावधानी से रखे जाने चाहिये। विद्यालयों के आय व्यय-सम्बन्धी कागजात, बजट, फीस, बैंक का हिसाब-किताब आदि वित्त-सम्बन्धी बातों में प्रधानाध्यापक को अत्यन्त सावधान रहना चाहिये। उसकी थोड़ी असावधानी भी अत्यन्त हानिकारक हो सकती है। प्रधानाध्यापक का उत्तरदायित्व है कि वह विद्यालय के आय-व्यय को पूर्ण रूप से समझे और उसको इस प्रकार से रखे कि विद्यालय के एक पैसे का भी दुरुपयोग न हो। आर्थिक दशा अच्छी हो या बुरी, किन्तु प्रत्येक पाई का हिसाब अत्यन्त ईमानदारी और सावधानी से होना चाहिये। खेल, परीक्षा, छात्रावास, पुस्तकालय तथा उत्सव आदि में से किसी भी अंग का व्यय हो, उसे इस प्रकार रखना चाहिए कि किसी को किसी प्रकार का सन्देह न हो। प्रधानाध्यापक को इस विषय में अत्यन्त स्पष्ट, खरा और सच्चरित्र होना चाहिये। उसे कार्यालय को अपने समीप रखना चाहिए और सदैव उस पर सतर्क दृष्टि रखना चाहिए। किसी भी प्रकार के गबन तथा भ्रष्टाचार आदि को पनपने नहीं देना चाहिये। कहीं-कहीं कमीशन के नाम से जो भ्रष्टाचार होते हैं, उनके प्रति प्रधानाध्यापक सदैव सतर्क रहकर इस दूषित परम्परा को नष्ट कर सकता है।

कार्यालय का कार्य सुचारु और नियमित रूप से होने के लिये सुव्यवस्था का होना आवश्यक है। यह सुव्यवस्था प्रधानाध्यापक ही कर सकता है। उसे नियमित रूप से कार्यालय का काम प्रतिदिन देखना चाहिए और आवश्यक पत्र-व्यवहार प्रतिदिन स्वयं अपने सम्मुख करा लेना चाहिए। उसे दैनिक, मासिक, वार्षिक और विशेष कार्यों की सूची बना लेनी चाहिए और उसके अनुसार प्रत्येक कार्य की जाँच-पड़ताल अत्यन्त सावधानी से करनी चाहिए। इसी प्रकार जिन पत्रों, अभिलेखों और ब्यौरों पर वह हस्ताक्षर करता है उनको भी अत्यन्त सावधानी से देखकर और समझ कर उसे हस्ताक्षर करना चाहिए।

विद्यालय की प्रयोगशालाओं, पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाओं, विभिन्न समितियों के कार्यों एवं सभाओं, परीक्षाओं तथा पुस्तकालय आदि के सुचारु सञ्चालन का उत्तरदायित्व भी प्रधानाध्यापक का ही होता है। उसे इनका निरीक्षण करते हुए उनमें वांछित सुधार करते रहना चाहिए। जहाँ कहीं उसे कोई त्रुटि दिखलाई पड़े वहाँ आवश्यक सुझाव देकर उसे त्रुटियों को दूर करा देना चाहिए। कोई भी प्रधानाध्यापक यह कहकर अपने उत्तरदायित्व से छुटकारा नहीं पा सकता कि अमुक क्रिया का उत्तरदायित्व व्यक्ति विशेष पर है। अन्तिम उत्तरदायित्व तो प्रधानाध्यापक पर ही आता है, फलतः विद्यालयों में होने वाली प्रत्येक क्रिया तथा प्रत्येक कर्मचारी की गतिविधि पर प्रधानाध्यापक की सजग, सतर्क दृष्टि सदैव ही रहनी चाहिए।

२. विद्यालय की बाह्य व्यवस्था

विद्यालय के बाह्य व्यवस्था-सम्बन्धी कर्त्तव्य—प्रधानाध्यापक को आन्तरिक व्यवस्था के अतिरिक्त विद्यालय के सम्बन्ध में अनेक बाह्य कर्त्तव्यों का भी पालन

करना आवश्यक है। इनमे प्रमुख प्रबन्ध-समिति, अभिभावक, समाज, शिक्षा-विभा और सरकार से सम्बद्ध कर्त्तव्य आते हैं। इन विभिन्न तत्वों के साथ उत्तम सम्बन्ध बनाये रखना प्रधानाध्यापक की सफलता के लिये अनिवार्य है।

(क) प्रधानाध्यापक और प्रबन्ध-समिति—हम पहले कह चुके हैं कि व्यवस्थापक समाज के प्रतिनिधि के रूप मे विद्यालय के प्रमुख साधक होते हैं। विद्यालय की व्यवस्था प्रबन्ध-समिति का उत्तरदायित्व होता है और प्रधानाध्यापक उसका सहयोगी है। विद्यालय की शिक्षा-नीति, अध्यापको एव कर्मचारियो की नियुक्ति, विद्यालय के विभिन्न कार्यों के लिये व्यय की स्वीकृति, अध्यापको के वेतन आदि की स्वीकृति, लम्बी छुट्टियों की स्वीकृति तथा नई कक्षाओ का आरम्भ आदि कार्य प्रबन्ध समिति के अधिकार मे रहते हैं। प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह विद्यालय के हित का विचार करके उन योजनाओ और विषयो को, जिनमे विद्यालय की उन्नति होने की आशा हो, समिति के सम्मुख निडर होकर रखे। निष्पक्ष कल्याण-भावना से किया गया कार्य सदैव प्रभाव डालता है। छात्रो, अध्यापकों तथा कर्मचारियों की उचित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उसे प्रबन्ध-समिति पर जोर डालना चाहिये और उन्हे उचित परामर्श देकर इन बातो के लिये स्वीकृति प्राप्त कर लेनी चाहिए। वित्त सम्बन्धी कार्यों मे प्रधानाध्यापक को अत्यन्त सावधान रहना चाहिए। प्रत्येक वित्त सम्बन्धी ब्यौरा उचित प्रकार से समिति के सम्मुख आना चाहिए और व्यय के लिए समिति की स्वीकृति प्राप्त कर लेनी चाहिए। मन्त्री और प्रबन्धक से प्रधानाध्यापक को घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है। उसे नीति और वित्त-सम्बन्धी बातो मे उनसे परामर्श लेकर ही कार्य करना चाहिए।

प्रधानाध्यापक को अपने अधिकारो के प्रति सतर्क रहना भी परमावश्यक है। आन्तरिक व्यवस्था मे समिति के सदस्यो का दखल रोकना चाहिए। सावधानी और चतुरता से उसे सदस्यो से स्पष्ट कह देना चाहिए कि विद्यालय की आन्तरिक व्यवस्था उसका उत्तरदायित्व है और उसमे सदस्यो का अनावश्यक हस्तक्षेप करना किसी प्रकार भी उचित नही है। अभाग्यवश हमारे देश की अनेक निजी प्रबन्ध-समितियां बुराइयों की गढ़ हो रही हैं। सदस्य विद्यालय को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति समझते हैं और अध्यापकों को अपना निजी नौकर। विद्यालय की आन्तरिक व्यवस्था मे हर प्रकार से टांग अड़ाने मे कुछ मन्त्री अथवा प्रबन्धक तथा सदस्य अपनी शान समझते हैं। ऐसी प्रबन्ध समितियों से शिक्षा के भविष्य की क्या आशा की जा सकती है ?

(ख) प्रधानाध्यापक, अभिभावक और समाज—विद्यालय मे शिक्षा पाने वाले छात्रों के अभिभावकों से प्रधानाध्यापक को निकट सम्बन्ध रखना चाहिए। उनके सहयोग से प्रधानाध्यापक छात्रों का महान् कल्याण कर सकता है और विद्यालय को अनेक बुराइयों से बचा सकता है। छात्र की विभिन्न प्रकार की प्रगति की रिपोर्ट अभिभावक को भेजते रहना चाहिए। छात्र की उपस्थिति, व्यवहार, अध्ययन, शारीरिक अवस्था तथा मानसिक अवस्था की रिपोर्ट अभिभावक के पास भेजकर छात्र

की उन्नति के लिए अभिभावक का सहयोग प्राप्त करना उसके लिए आवश्यक है। प्रधानाध्यापक को चाहिए कि विद्यालय मे शिक्षक-अभिभावक-संघ की स्थापना का प्रयत्न करे और विभिन्न अवसरो पर अभिभावको को विद्यालय मे निमन्त्रित करता रहे। ऐसे अवसरों पर उनके साथ शिक्षको का विचार-विमर्श होने से अभिभावकों से छात्रो के हित के लिए अनेक प्रकार की सहायता प्राप्त हो सकेगी।

अभिभावक जब विद्यालय मे बुलाये जायें, तब प्रधानाध्यापक को उनके साथ शिष्ट व्यवहार करना चाहिए और उनसे बालको की कठिनाइयों और कमजोरियो के विषय मे परामर्श करना चाहिए। साथ ही विभिन्न सुझाव देकर अभिभावको के सहयोग और सहायता की याचना भी करनी चाहिए। अभिभावक भी विभिन्न प्रकार और विभिन्न सामाजिक परिस्थितियो के होते हैं। प्रधानाध्यापक मे मनुष्य की पहचान करने का विशेष गुण होना चाहिए। जिस प्रकार का अभिभावक हो उसके योग्य व्यवहार होने से वह प्रसन्नता से प्रधानाध्यापक को सहयोग प्रदान करेगा। विद्यार्थियों मे प्रचलित साधारण बुराइयो के अतिरिक्त प्रत्येक छात्र की विशिष्ट कमी के विषय मे भी अध्यापक एवं प्रधानाध्यापक को ज्ञान होना चाहिए और उसके विशेष गुण और अवगुण की रिपोर्ट अभिभावक को देकर उसके सहयोग से छात्र के अवगुणों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। अभी हमारे देश मे शिक्षक-अभिभावक-संघ की संख्या नगण्य ही हैं और वह भी वाछित प्रभाव नहीं रखते। प्रधानाध्यापको को इसके लिए पहल करनी चाहिए और अपने विद्यालय को वास्तविक अर्थ मे आधुनिक बनाना चाहिए।

आधुनिक विद्यालय का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है। भारत की वर्तमान परिस्थितियों मे विद्यालय का महत्त्व और क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो रहे हैं। विद्यालय सामाजिक जीवन का भी केन्द्र बनाया जा रहा है। प्रधानाध्यापक का उत्तरदायित्व इस दिशा मे अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसे अपने छात्रो को ही शिक्षित नहीं करना वरन् उसे अपने समीपवर्ती समाज को भी शिक्षित करना है। समाज प्रधानाध्यापक से नेतृत्व की आशा रखता है। अपने पद की प्रतिष्ठा के कारण प्रधानाध्यापक समाज के दुर्गुणों को दूर कर उनमे सद्गुणो का प्रचार कर सकता है। समाज मे अशिक्षा, कुशिक्षा और अज्ञान के कारण विभिन्न बुराइयाँ उत्पन्न हो गई हैं। उन्हे सच्चा नागरिक बनाने मे विद्यालय बहुत सहयोग दे सकता है। हमारी सामाजिक-शिक्षा-योजनाओ का केन्द्र भी विद्यालयों को ही बनाया गया है। प्रधानाध्यापक को सामाजिक कार्यों मे स्वयं उत्साह से भाग लेना चाहिए और विद्यालय के छात्रो तथा अध्यापको को भी सामाजिक-सेवा-कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। विद्यालय मे समाजोपयोगी भाषण, नाटक, प्रतियोगिताएँ, प्रदर्शन तथा उत्सव आदि होते रहने चाहिए। इन बातो से विद्यालय समाज के निकट आ सकेगा और उसके सहयोग से स्वयं सफलता के मार्ग पर बढ़ सकेगा और समाज का भी उपकार कर सकेगा। जैसा हम पहले कह आये हैं कि समाज और विद्यालय का घनिष्ठ सम्बन्ध ही दोनो को उन्नत बना सकता है।

करना आवश्यक है। इनमें प्रमुख प्रबन्ध-समिति, अभिभावक, समाज, शिक्षा विभ और सरकार से सम्बद्ध कर्तव्य आते हैं। इन विभिन्न तत्वों के साथ उत्तम सम्ब बनाये रखना प्रधानाध्यापक की सफलता के लिये अनिवार्य है।

(क) प्रधानाध्यापक और प्रबन्ध समिति—हम पहले कह चुके हैं कि व्यवस्था समाज के प्रतिनिधि के रूप में विद्यालय के प्रमुख साधक होते हैं। विद्यालय व्यवस्था प्रबन्ध-समिति का उत्तरदायित्व होता है और प्रधानाध्यापक उसका सहयो है। विद्यालय की शिक्षा-नीति, अध्यापकों एवं कर्मचारियों की नियुक्ति, विद्यालय विभिन्न कार्यों के लिये व्यय की स्वीकृति, अध्यापकों के वेतन आदि की स्वीकृति, सम छुट्टियों की स्वीकृति तथा नई कक्षाओं का आरम्भ आदि कार्य प्रबन्ध समिति अधिकार में रहते हैं। प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह विद्यालय के हित का विचा करके उन योजनाओं और विषयों को, जिनसे विद्यालय की उन्नति होने की आशा हो समिति के सम्मुख निडर होकर रखे। निष्पक्ष कल्याण-भावना से किया गया का सदैव प्रभाव डालता है। छात्रों, अध्यापकों तथा कर्मचारियों की उचित आवश्यकता की पूर्ति के लिये उसे प्रबन्ध-समिति पर जोर डालना चाहिये और उन्हें उचि परामर्श देकर इन बातों के लिये स्वीकृति प्राप्त कर लेनी चाहिए। वित्त सम्बन्ध कार्यों में प्रधानाध्यापक को अत्यन्त सावधान रहना चाहिए। प्रत्येक वित्त सम्बन्धी ब्यौरा उचित प्रकार से समिति के सम्मुख आना चाहिए और व्यय के लिए समिति की स्वीकृति प्राप्त कर लेनी चाहिए। मन्त्री और प्रबन्धक से प्रधानाध्यापक को घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है। उसे नीति और वित्त-सम्बन्धी बातों में उनसे परामर्श लेकर ही कार्य करना चाहिए।

प्रधानाध्यापक को अपने अधिकारों के प्रति सतर्क रहना भी परमावश्यक है। आन्तरिक व्यवस्था में समिति के सदस्यों का दखल रोकना चाहिए। सावधानी और चतुरता से उसे सदस्यों से स्पष्ट कह देना चाहिए कि विद्यालय की आन्तरिक व्यवस्था उसका उत्तरदायित्व है और उसमें सदस्यों का अनावश्यक हस्तक्षेप करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। अभाग्यवश हमारे देश की अनेक निजी प्रबन्ध समितियाँ बुराइयों की गढ़ हो रही हैं। सदस्य विद्यालय को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति हैं और अध्यापकों को अपना निजी नौकर। विद्यालय को प्रकार से टाँग अड़ाने में कुछ मन्त्री अथवा प्रबन्धक हैं। ऐसी प्रबन्ध-समितियों से शिक्षा के भ

(ख) प्रधानाध्यापक,

छात्रों के अभिभावकों से प्रधानाध्यापक सहयोग से प्रधानाध्यापक छात्रों का अनेक बुराइयों से बचा सकता है। छा अभिभावक को भेजते रहना चाहि शारीरिक अवस्था तथा मानसिक

७

विद्यालय के चेतन साधन

अध्याय-संक्षेप :—

प्रस्तावना; महत्त्व; नियुक्ति-विधि; इनके साथ व्यवहार, कार्यालय के कर्मचा
कार्यालय-सहायक-वर्ग के विषय में, पुस्तकाध्यक्ष; उपसंहार ।

प्रस्तावना

पिछले अध्याय में हमने विद्यालय के साधकों का वर्णन किया है । साधकों
अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये अनेक साधनों की भी आवश्यकता पड़ती है । ये सा
दो प्रकार के हो सकते हैं—चेतन और अचेतन । विद्यालय के 'चेतन साधन' विद्या
के वे कर्मचारी होते हैं, जो अध्यापक वर्ग में नहीं आते । इनमें कार्यालय-सहाय
चपरासी, माली, चौकीदार, मेहतर तथा खेलकूद का सामान सँभालने अथवा प
पिलाने लिए रखे गये व्यक्ति आदि कर्मचारी गिने जा सकते हैं । विद्यालय के सा
(अध्यापक) विद्यालय के मुख्य कार्य—शिक्षण को सुचारु रूपेण चलाने के ि
आवश्यक परिस्थितियाँ उत्पन्न करने में इनका साधन के रूप में प्रयोग करते हैं, ·
इसकी गणना साधनों में की जा रही है ।

महत्त्व

चेतन साधन विद्यालय के बड़े ही महत्त्वपूर्ण अंग हैं । यों तो विद्यालय
सभी का सहयोग अपेक्षित होता है परन्तु इनका सहयोग विशेष महत्त्व का होता
चेतन होने के कारण ये करने, न करने अथवा बिगाड़ देने में समर्थ होते हैं । इ

सहयोग करने अथवा अवांछनीय प्रकार के होने पर विद्यालय मे शिक्षणानुकूल वातावरण कभी नहीं बन सकता। इन सबके सहयोग के बिना अध्यापको को कठोर यत्न करने पर भी अपने कार्य मे अभीष्ट सफलता कभी नही मिल सकती। फलतः इनकी नियुक्ति करने तथा इनके साथ व्यवहार करने में सामान्यतया सभी अध्यापकों को तथा विशेषतया मुख्याध्यापक को विशेष रूप से सावधान रहना चाहिए।

नियुक्ति-विधि

प्रत्येक कर्मचारी की नियुक्ति अत्यन्त सावधानी और पूरी छानबीन के पश्चात् करनी चाहिए। प्रत्येक कर्मचारी स्वामिभक्त (विद्यालय के प्रति पूर्ण वफादार), परिश्रमी, चुस्त, सुशील, कर्मठ और आज्ञाकारी होना चाहिए। उसके चरित्र की जाँच भली प्रकार से कर लेनी चाहिए। नियुक्ति करते समय कर्मचारियों के गुणों पर ही ध्यान देना चाहिए। किसी की सिफारिश पर नियुक्ति कर देना नितान्त हानिकारक हो सकता है। प्रभावशाली व्यक्तियों की सिफारिश पर नियुक्त किए हुए कर्मचारी आगे चलकर बड़े दुखदायी सिद्ध होते हैं।

विद्यालय के हित में यह आवश्यक है कि सभी कर्मचारी प्रधानाध्यापक के विश्वासपात्र हों। प्रधानाध्यापक ही प्रमुख रूप से इन कर्मचारियों से कार्य कराने के लिए उत्तरदायी होता है। यदि कर्मचारी विश्वसनीय न हो, तो विद्यालय के कार्य में बाधा उपस्थित हो सकती है। यह भी आवश्यक है कि इन कर्मचारियों पर प्रबन्ध-समिति, अध्यापकों अथवा छात्रों का अधिक प्रभाव न हो, क्योंकि ऐसी परिस्थिति में वे लोग अवांछनीय लाभ उठाने लगते हैं। इस कारण इनकी नियुक्ति में प्रधानाध्यापक की इच्छा ही अन्तिम समझी जानी चाहिए।

इनके साथ व्यवहार

नियुक्ति के पश्चात् इनके साथ अत्यन्त सद्भावना और सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिए। कर्मचारियों से किसी प्रकार की बेगार नहीं लेना चाहिए। जिस काम के लिए इनकी नियुक्ति हुई है, वही काम इनसे लिया जाना चाहिए। जहाँ विद्यालय के अधिकारी कर्मचारियों से व्यक्तिगत काम लेते हैं, वहाँ उनको चाहिए कि [illegible] के लिए [illegible] दें। ऐसा न होने पर कर्मचारी [illegible] हो जाते हैं और [illegible] विद्यालय के कार्य में [illegible] हो जाते हैं। [illegible]

[illegible]

नम्रता का व्यवहार करें। न तो उन्हें इतना सिर चढ़ा लेना चाहिये कि वे दूसरों के साथ अशिष्ट व्यवहार करें और न उनमे यह भावना होनी चाहिए कि वे प्रधानाध्यापक के विश्वासपात्र और कृपापात्र होने के नाते अन्य अध्यापकों और छात्रों की उपेक्षा कर सकते हैं। उनके साथ मानवोचित व्यवहार होना चाहिए, किन्तु विद्यालय के कार्य मे किसी प्रकार की ढिलाई क्षम्य नहीं होनी चाहिये। कर्मचारियों के साथ कार्य के विषय मे दृढ़ता और कठोरता का बर्ताव रखना उचित होता है। इसका लाभ यह होता है कि विद्यालय के कार्य में शिथिलता और उदासीनता नहीं आ पाती हैं। बुराई तब बढ़ती है, जब उनसे अवांछित बेगार ली जाती है। फिर वे विद्यालय के कार्य से अधिक महत्त्व व्यक्तिगत कामों को देने लगते हैं। अधिक ढीठ हो जाने पर वे प्रबन्ध-समिति के सदस्यों, अध्यापकों, छात्रों और विद्यालय की आलोचना भी करने लगते हैं, और जासूसी जैसे कार्यों मे मन लगाने लगते हैं।

कुछ विद्यालयों मे एक ही कर्मचारी हो सकता है अथवा कोई भी नहीं हो सकता है और कुछ मे अनेक हो सकते हैं। यह विद्यालय की आवश्यकता, विशालता, स्तर और वित्तीय दशा पर निर्भर है कि वहाँ कितने कर्मचारी हों। कर्मचारी यदि एक से अधिक हैं, तो प्रधानाध्यापक को सबके साथ समभाव रखना चाहिए। किसी एक को कृपापात्र बनाने से अन्यों की श्रद्धा कम हो जाती है और कर्मचारियों का पारस्परिक सद्भाव नष्ट हो जाता है। यदि आवश्यक समझा जाय तो कर्मचारियों के कार्य मे अदल-बदल करते रहना चाहिए। कर्मचारी कितने भी हों परन्तु यह आवश्यक है कि उनके साथ उचित और सम्मान का व्यवहार किया जाय। किसी अध्यापक और छात्र को यह अधिकार नहीं होना चाहिए कि वह कर्मचारियों को गाली दे अथवा उसे मारपीट दे। उनकी स्थिति को हीनता की दृष्टि से न देखा जाना चाहिये और न उन्हें यह अनुभव होने देना चाहिए कि कोई उनके सुख-दुख का साथी नहीं है। वह विद्यालय के आवश्यक और उपयोगी अंग हैं और उनकी उचित प्रतिष्ठा होने से उनकी कार्यक्षमता मे वृद्धि होगी।

कार्यालय के कर्मचारी

विद्यालय के कर्मचारियों मे सबसे महत्त्वपूर्ण कर्मचारी विद्यालय-कार्यालय के कर्मचारी हैं। कार्यालय किसी भी प्रधानाध्यापक का दाहिना हाथ होता है। उसे विद्यालय का हृदय भी कहा जा सकता है। विद्या य के विभिन्न अंगों मे संचालन की क्रिया यहीं से होती है। कार्यालय के कर्मचारियों का महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं है। कार्यालय सहायक अत्यन्त योग्य और अनुभवी व्यक्ति होने चाहिये। उन्हें कार्यालय की कार्य-प्रणाली का सम्यक् ज्ञान होना चाहिये। उन्हें कार्यालय के सभी कागज-पत्रों की जानकारी होनी चाहिये। उनके विद्यालय के आय-व्यय-रजिस्टरों, विभिन्न फाइलों और अभिलेखों की जानकारी रखे बिना आवश्यकता पड़ने पर बहुत अधिक समय बिगड़ जाता है। ड्राफ्ट, ब्यौरा, पत्र-व्यवहार आदि का ज्ञान रखना भी उनके लिये आवश्यक

८

विद्यालय के अचेतन साधन—१

अध्याय-संक्षेप .—

प्रस्तावना, (१) विद्यालय का प्रतिवेश, (२) स्थल, (३) विद्यालय भवन—कक्षा-कक्ष, विषय कक्ष, पुस्तकालय वाचनालय, संग्रहालय, सभा-भवन, शिक्षक-कक्ष, व्यायाम-शाला, शौचालय-मूत्रालय, कार्यालय तथा प्रधानाध्यापक-कक्ष, क्रीडा-कक्ष आदि, इन सबके लिए साज सज्जा—कक्षा-कक्ष, विषय-कक्ष, पुस्तकालय, वाचनालय, संग्रहालय, अध्यापक कक्ष, कार्यालय तथा प्रधानाध्यापक-कक्ष, सामान्य, उपसंहार।

प्रस्तावना

विद्यालय के चेतन साधनो की चर्चा हो चुकी। अब हमे अचेतन साधनो पर विचार करना है। विद्यालय के अचेतन साधनो मे उसके—(१) प्रतिवेश, (२) स्थल, (३) विद्यालय-भवन—कक्षा-कक्ष, विषय-कक्ष, पुस्तकालय, वाचनालय, संग्रहालय, सभा-भवन, शिक्षक-कक्ष, व्यायाम-शाला, शौचालय-मूत्रालय, कार्यालय, वस्तु-भंडार, क्रीडा-कक्ष, जलपान-गृह, (४) छात्रावास—निवास-कक्ष, शौचालय-मूत्रालय, स्नानागार, भोजनालय, उद्यान, क्रीडा-कक्ष, पुस्तकालय, वाचनालय, वस्तु-भण्डार, (५) पाठ्यक्रम, (६) पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाएँ; (७) समय विभाग; (८) पर्यवेक्षण; (९) आचार-संहिता; (१०) पुरस्कार एव दण्ड विधान, (११) परम्पराएँ; (१२) समाज-सम्पर्क; (१३) शिक्षक क्लब, (१४) विभिन्न प्रकार की साज-सज्जा-फरनीचर आदि, गिने जा सकते हैं। इन विभिन्न साधनो मे से कतिपय का संक्षिप्त विवरण इस अध्याय मे प्रस्तुत किया जा रहा है। यथा—

१—विद्यालय का प्रतिवेश

प्राचीन भारत मे विद्यालय प्रकृति की गोद मे रमणीय स्थानो पर, वन-वनो मे, नदी के तट पर, पर्वत की सुरम्य घाटियो मे झरनो के पास, अथवा बस्ती कोलाहल से दूर बनाये जाते थे। मध्यकालीन भारत मे मन्दिरो और मस्जिदों मे मन विद्यालय विकसित हुए। किन्तु कोई भी एक परम्परा सभी परिस्थितियों और लो के लिए एक समान उपयोगी और मान्य नहीं हो सकती। परिवर्तन प्रकृति का निवार्य नियम है। आधुनिक काल मे प्राचीन काल और मध्यकाल की परम्पराएँ तो उपयोगी हो सकती हैं, और न सम्भव ही हैं। प्रकृति की गोद आज अत्यन्त कुचित हो रही है। जनसंख्या की वृद्धि ने अनेक समस्यायें खड़ी कर दी हैं। रमणीय थलो का अभाव हो गया है। यदि कुछ विद्यालय ऐसे स्थनो पर बनाये भी जायें, तो हाँ छात्रों के लिये आवास की समस्या उठेगी। वहाँ की शिक्षा अधिक व्यय साध्य ोगी। पढ़ना-लिखना आधुनिक प्रजातन्त्र मे सभी के लिए अनिवार्य हो रहा है। कितनों को इस प्रकार के विद्यालयों मे स्थान मिल सकेगा ?

आज की परिस्थितियों मे जो सम्भव है, वही करना उत्तम होगा। यह निर्विवाद है कि विद्यालय का प्रतिवेश ऐसा अवश्य हो, जहाँ शान्तमय वातावरण हो, स्वच्छता हो, और जो स्वास्थ्य के लिये उत्तम हो। गाँव में तो इस प्रकार के स्थल अब भी मिल जाते हैं किन्तु नगरों मे विद्यालय के लिए उत्तम स्थान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन हो गया है। नगरो मे खुले मैदान का अभाव होने के कारण उचित प्रकार के विद्यालयो का भी नितान्त अभाव है। आज अनेक विद्यालय सिनेमाघरो के समीप, फैक्टरियों और कारखानो के समीप, कोलाहलपूर्ण बाजारो के बीच, स्थित हैं। परिस्थिति अत्यन्त शोचनीय है। बालक घरों से बहुत दूर जा नहीं सकते, हमारी निर्धनता हमे बाध्य करती है कि किसी प्रकार का भी पड़ोस हो किन्तु विद्यालय समीप ही हो, ताकि बच्चा कम व्यय मे शिक्षा प्राप्त कर सके। किन्तु शिक्षा पर इसका भयानक प्रभाव पड़ रहा है। अश्लील गालियाँ, गन्दे गाने, विभिन्न प्रकार की अनुशासन-हीनता और दुर्गुण उत्पन्न करने वाला वातावरण राष्ट्र के भावी नागरिको के जीवन को नष्ट कर रहे हैं। सरकार और जनता—दोनो को इस पर ध्यान देना चाहिए। यथा-सम्भव सभी प्रकार के प्रयत्न होने चाहिए कि विद्यालय का प्रतिवेश ऐसा हो जहाँ शिक्षा का कार्य निर्विघ्न रूप से चल सके और शिक्षा के उद्देश्यो की प्राप्ति हो सके।

यदि अभाग्यवश कोई विद्यालय अवांछित पड़ोस मे पड़ गया है तो प्रधानाध्यापक, अध्यापक, और छात्रों को सम्मिलित रूप से समाज-सेवा द्वारा पास-पड़ोस को स्वच्छ, सुन्दर और स्वास्थ्यपूर्ण बनाने का सब प्रकार से प्रयत्न करना चाहिए। प्रचार और परिश्रम द्वारा इस दिशा मे बहुत कुछ किया जा सकता है। मुहल्ले और

पड़ोस के विद्यालयों का सहयोग प्राप्त कर विद्यालय के प्रतिवेश को सुधार द सकता है। नवीन विद्यालय खोलने समय इन बातों पर पहले से ही ध्यान देना उत्तम है।

२—स्थल

विद्यालय स्थापित करने का आयोजन होने पर उसके लिये स्थल का चुनाव अत्यन्त सावधानी से करना चाहिए। विद्यालय के लिये ऐसा भूमिभाग का चुनाव करना चाहिए जो खुला हुआ हो, आसपास की भूमि से कुछ ऊँचा और समतल हो और जिसके पास गन्दे नाले और गड्ढे न हों, वर्षा का पानी जहाँ से आसानी से निकल जाता हो और जहाँ प्रकाश तथा स्वच्छ वायु का अभाव न हो। जहाँ तक सम्भव हो यह स्थल घनी बस्ती से बाहर किसी सड़क अथवा जलमार्ग से कुछ हटकर हो। वहाँ आने जाने की सुविधा हो किन्तु मार्ग के कोलाहल और धूलगर्द से बचा रहे। स्थान इतना पर्याप्त हो जहाँ भवन, छात्रावास, क्रीड़ांगन आदि सुगमता से बनाए जा सकें और जहाँ पीने के पानी की और पास के मैदान उद्यान और वृक्षों को उगाने की सुविधा हो। नगर हो अथवा गाँव, विद्यालय स्थल का चुनाव करते समय तीन प्रमुख बातों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। सर्वप्रथम स्थान स्वास्थ्यप्रद हो—अर्थात् शुद्ध वायु, प्रकाश, शुद्ध जल, तथा व्यायाम और खेल-कूद के लिए पर्याप्त मैदान वहाँ पर उपलब्ध हों और मच्छर, बीमारियों के कीटाणु, गन्दगी, धूल-धुँआ आदि के उत्पन्न होने की आशंका न हो। द्वितीय, वह स्थान सौन्दर्यपूर्ण हो अर्थात् बालक के लिये यह स्थान आकर्षक हो, वहाँ आकर वह प्रसन्न हो उठे और उसमें किसी प्रकार की घुटन और ऊब न उत्पन्न हो। तृतीय, उपयोगिता की दृष्टि से स्थान उत्तम हो—अर्थात् विद्यालय की बागवानी, प्रकृति-अध्ययन आदि विभिन्न क्रियाओं के लिए वहाँ पर उपयोगी स्थान उपलब्ध हो।

सभी जगहों मे विद्यालय के लिए आदर्श स्थल उपलब्ध नहीं हो सकते, विशेषकर शहरों के भीतर। हमारे पुराने शहर आयोजित रूप से विकसित नहीं हुए हैं। उनमे बड़ी कठिनाई से विद्यालय के लिए, विशेषकर नये विद्यालय के लिए स्थान मिल पाता है। ऐसी परिस्थिति मे भी विशेष प्रयत्न द्वारा प्रकाश और वायु का उत्तम प्रबन्ध तो अवश्य ही होना चाहिए। नगर समितियों और सरकार को विशेष नियमों द्वारा विद्यालय का स्थल प्राप्त करवाना चाहिए। यदि स्थल पूर्णत आदर्श न हो तो भी कुछ अशों मे तो उसे आदर्श होना ही चाहिए।

३—विद्यालय-भवन

विद्यालय का प्रतिवेश और स्थल निश्चित हो जाने पर उस स्थल पर विद्यालय-भवन के निर्माण का प्रश्न आता है। आधुनिक वास्तु-कला बहुत ही उन्नत हो चुकी है। विद्यालय-भवन के निर्माण मे भी आधुनिक वास्तु-कला की सहायता ली जानी [illegible] शैली के निर्मित हैं। ठोस और चोकोर

आकार के भवन जिनके बीच मे प्रागण रहता है, प्राचीन शैली के द्योतक हैं। किन्तु आधुनिक काल मे खुली शैली के भवन अधिक प्रचलित हैं। खुली शैली के भवन पाश्चात्य और अमेरिका के भवन-निर्माण के सिद्धान्तो पर आधारित हैं। अँग्रेजी के T, U, E, H और L अक्षरों के आकार के भवन अधिक पसन्द किये जाते हैं। भवन का आकार उपलब्ध स्थल पर भी निर्भर करता है। स्थल की लम्बाई, चौडाई और आकार के आधार पर ही यह निश्चित किया जा सकता है कि किस आकार का भवन उस स्थल पर आकर्षक और कलापूर्ण बन सकेगा। विद्यालय-भवन में सौन्दर्य और उपयोगिता—दोनो ही का समन्वय होना चाहिये। किसी विशेषज्ञ से विद्यालय-भवन का नक्शा बनवा लेना चाहिए।

विद्यालय-भवन के निर्माण से पूर्व कुछ अन्य बातो पर भी विचार कर लेना उचित है। विद्यालय-भवन का आकार और उसका क्षेत्रफल कितना हो, यह अनेक बातो पर निर्भर करता है। विद्यालय मे कितने विषय पढ़ाये जाते हैं, छात्रो की सम्भावित सख्या क्या होगी, कितने कक्षो की आवश्यकता होगी, स्थानीय आवश्यकताएँ क्या हैं, और भवन-निर्माण-सामग्री क्या और कैसे उपलब्ध होगी, इन सभी बातो पर विचार कर लेना उत्तम होगा। भवन का आकार निश्चित हो जाने पर भवन की उपयोगिता पर विशेष बल देना चाहिए। भवन में इतना स्थान होना चाहिए कि उसमे आवश्यक कक्षा-कक्ष, विषय-कक्ष, पुस्तकालय, सग्रहालय, वाचनालय, सभा-भवन, शिक्षक कक्ष, व्यायामशाला, शौचालय, मूत्रालय, कार्यालय, प्रधानाध्यापक कक्ष, वस्तु-भण्डार, क्रीडा-कक्ष, जलपान-गृह, चिकित्सा-कक्ष आदि के लिए सुविधापूर्ण स्थान प्राप्त हो सकें।

विद्यालय-भवन यदि एक ही मंजिल का हो, तो अधिक सुविधाजनक रहता है। एक मंजिल के भवन मे प्रकाश और वायु के लिए अधिक सुविधा रहती है। स्थानाभाव और विशेष परिस्थितियों में ही विद्यालय-भवन दो मंजिलो का होना चाहिए। यदि भवन दो-मंजिला हो, तो सीढ़ियाँ खूब चौड़ी और कम ऊँची होनी चाहिये। ऊपरी मंजिल मे अधिक कोलाहल होने से निचली मंजिल मे अध्ययन-कार्य मे बाधा पड़ती है। सीढ़ियों पर बारम्बार आवागमन होने से भी बाधा पड़ती है। एक मंजिल की इमारत मे दिन-भर प्राय समान प्रकाश मिल सकता है और वायु का स्वच्छन्द आवागमन भी अधिक हो सकता है। मरम्मत और सफाई की दृष्टि से भी एक मंजिल का भवन उत्तम होता है। भवन सादा और दृढ़ बना होना चाहिए।

हमारा देश विशाल और इसकी जन-सख्या भी अधिक है। अभी सम्पूर्ण जन-सख्या के विचार से शिक्षा की व्यवस्था भी अपर्याप्त है। ऐसी स्थिति में आदर्श विद्यालय-भवनो का देश मे नितान्त अभाव है। भवन-निर्माण के लिये पर्याप्त धन-राशि का अभाव रहता है। किन्तु क्रमशः इस दिशा मे सरकार और जनता का

ध्यान अधिक बढ़ रहा है। धनाभाव के कारण उचित प्रकार के भवन नहीं बन पाते हैं। फिर लम्बी-चौड़ी आदर्श की बातें केवल सिद्धान्त रूप में रखने से कोई लाभ नहीं है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम यथार्थवादी बनें। परिस्थितियों के अनुसार जो सर्वोत्तम हो, वही करना उचित है। यह बिलकुल आवश्यक नहीं कि समस्त देश के विद्यालय एक ही नमूने के बने हों। विशाल देश के विभिन्न भागों में जलवायु की विभिन्नता पाई जाती है। जिस भाग में जैसी परिस्थिति और आवश्यकता हो, उसी के अनुसार विद्यालय-भवन बनाये जाने जाने चाहिये। इनके निर्माण में "कम खर्च, बाला नशी" की उक्ति चरितार्थ होनी चाहिये। भवन सादा, दृढ़, उपयोगी, स्वच्छ और आकर्षक होना चाहिये। उसमें वृद्धि की गुंजाइश भी रखनी चाहिए।

कक्षा-कक्ष

विद्यालय में जितनी कक्षाएँ हों, उतने कक्षा-कक्ष तो होने ही चाहिए। कुछ अतिरिक्त कक्ष रहें, तो और अधिक अच्छा हो। कितनी कक्षाएँ हों, इसका अनुमान पहले से कर लेना उचित है। वैसे आवश्यकतानुसार बाद में आवश्यकता अनुभव होने पर भी बढ़ाये जा सकते हैं। प्रत्येक कक्षा में कितने छात्र होंगे इसका अनुमान भी कर लेना उत्तम है। उसके अनुसार ही कक्षा-कक्ष बनवाने चाहिये। यदि छात्रों की अनुमानित सख्या कक्षा में ४० से ५० तक हो तो उस कक्षा-कक्ष की लम्बाई-चौड़ाई ३०'×२४' होनी चाहिये। कक्ष की लम्बाई और चौड़ाई में ५ ४ का अनुपात होना उत्तम है। प्रत्येक छात्र के लिये कम से कम १० वर्ग फुट स्थान कक्ष में होना चाहिये। श्यामपट को दीवाल में ही बनवा देना अधिक उत्तम है। अध्यापक की मेज और कुर्सी के लिए एक उठा हुआ चबूतरा हो तो अच्छा है। छत की ऊँचाई १५ या १६ फुट से कम नहीं होनी चाहिये। ऐसा होने से उसमें प्रकाश और वायु सरलता से पहुँच सकेंगे। कक्ष में दो अथवा दो से अधिक दरवाजे ६ से ७ फुट तक ऊँचे और ३॥ से ४ फुट तक चौड़े होने चाहिए। खिड़कियाँ पर्याप्त होनी चाहिये और वे फर्श ३॥' से ४' तक की ऊँचाई पर हों, तो सुविधा रहेगी। खिड़कियाँ इस प्रकार बनाई जाएँ कि उनसे कक्ष में पर्याप्त प्रकाश पहुँच सके और स्वच्छ वायु निर्बाध रूप से आती-जाती रहे। उनकी बनावट इस प्रकार हो कि आवश्यकतानुसार प्रकाश और वायु की मात्रा नियन्त्रित की जा सके। जहाँ धूल, गर्द और वायु अधिक चलती हो, वहाँ पर्दों अथवा जालियों का प्रबन्ध होना चाहिए। खिड़कियों के अतिरिक्त कक्ष में रोशनदान का भी उचित प्रबन्ध होना चाहिए। रोशनदानों की सख्या कक्ष की आवश्यकतानुसार होनी चाहिये। इनमें जालियाँ लगी हों, तो अति उत्तम है। जब तक कोई विशेष बात न हो, तब तक अध्यापन-काल में कक्ष की समस्त खिड़कियाँ और रोशनदान खुले होने चाहिये। कक्ष की बनावट इस प्रकार की होनी चाहिए कि छात्रों के अध्ययन काल में बाईं ओर से प्रकाश मिले। सामने और पीछे से प्रकाश का

प्रबन्ध कभी नहीं होना चाहिए; इसका प्रभाव छात्रो की आँखो पर पड़ता है और उनकी दृष्टि कमजोर हो जाती है। यदि कभी प्राकृतिक कारणो से कक्ष मे प्रकाश और वायु की कमी ज्ञात हो, तो बाहर खुले मे अध्यापन-कार्य किया जा सकता है।

कक्षा-कक्ष सुन्दर और सुरुचिपूर्ण होना चाहिए। कुछ विद्यालयो मे अनावश्यक रूप मे कक्ष की दीवालो को भड़कीले और अनावश्यक चित्रो से ढक दिया जाता है। यह ठीक नहीं है। यदि दीवालो पर चित्रकारी अथवा कुछ वाक्यो का लिखना आवश्यक समझा जाय तो यह कार्य कला-भावना से किया जाना चाहिए। तात्पर्य यह है कि छात्रो को कक्षा कक्ष मे अधिक समय तक बैठना पड़ता है। आकर्षक तथा सुरुचिपूर्ण सज्जा से सज्जित कक्ष छात्रो को सजीव बनाये रखेगा और असुन्दर और तंग-कक्ष छात्रो मे बेचैनी और ऊब उत्पन्न कर देगा। कक्ष की भीतरी दीवालें सफेद पुती हुई हो तो उत्तम है। यदि कोई रंग बाहर दिया भी जाय तो हलका रङ्ग होना चाहिए। हरा, तूतिया, पीला अथवा जोगिया रङ्ग अच्छा होता है। किसी लकड़ी की पटरी पर अथवा दीवाल मे लगे स्लेट के टुकड़े पर कक्षा का नाम, छात्रो की सख्या और उनकी उपस्थिति लिखकर रखना उपयोगी होता है। कक्ष के दरवाजे के पास इसकी व्यवस्था भी रखी जानी चाहिए।

विषय-कक्ष

विद्यालय मे विभिन्न प्रमुख विषयो के लिए भिन्न-भिन्न कक्ष होने आवश्यक हैं। विज्ञान, कृषि, भूगोल, इतिहास, कला-कौशल, गृह-विज्ञान और सगीत आदि विषयो के लिए अलग-अलग कक्ष होने चाहिए। विषय-कक्ष का आकार और बनावट विषय की आवश्यकता के अनुसार होने चाहिए। इनमे इतना स्थान होना चाहिए कि उस विषय से सम्बन्धित सब वस्तुएँ उसमे सुरक्षित रखी जा सकें और विद्यार्थी तथा अध्यापक अच्छी तरह से बैठ सकें। विज्ञान और भूगोल कक्षो के लिये अधिक प्रकाश और स्थान की आवश्यकता होती है। अत. यदि इन कक्षो को भवन के सिरो पर बनाया जाय तो अच्छा है। जैसे यदि E आकार का भवन है, तो E के एक सिरे पर विज्ञान-कक्ष हो और दूसरी ओर भूगोल-कक्ष। प्रयोगात्मक कार्य, निरीक्षण और परीक्षण के लिए खुली जगह की आवश्यकता हो सकती है। सिरो पर होने से ये क्रियाएँ अच्छी तरह से की जा सकती हैं। इन कक्षो मे प्रदर्शन के लिए कुछ स्थायी बड़ी मेजें लगी होनी चाहिए। बैठने के लिए यदि थियेटरनुमा प्रबन्ध हो सके, तो उत्तम होगा क्योंकि छात्र किए जाने वाले प्रयोग प्रदर्शन आदि का सरलता से निरीक्षण कर सकेंगे। इन विषयों में श्रव्य दृश्य अध्यापन सामग्री भी अधिक होती है। उनको रखने के लिए दीवालो के सहारे कुछ अलमारियाँ होनी चाहिए। कला-कक्ष भी विज्ञान और भूगोल कक्षों की तरह से साधारण कक्षो से बड़े होने चाहिए। विषय-कक्षा के निर्माण में यदि आरम्भ में ही सावधानी बरती जाय, तो बाद में कठिनाई नहीं होगी और न तोड़-फोड़ की आवश्यकता ही पड़ेगी। विषय-कक्ष यदि विषय-विशेष के

अध्यापन में सहायक न हो सकें, तो केवल वाचनालय के लिए एक कक्ष का प्रबन्ध कर देना चाहिए। इन कक्षों को उचित और आवश्यक साज-सामान से सुसज्जित सम्पन्न कर दें।

पुस्तकालय

किसी भी विद्यालय का पुस्तकालय उसका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अनिवार्य अंग होता है। आधुनिक युग में यदि विद्यालय स्वाध्याय की दृष्टि प्रोत्साहन न दे सकें तो शिक्षा का उद्देश्य अधूरा ही रहेगा, अतः पुस्तकालय-क योजना भवन-निर्माण योजना में अवश्य ही सम्मिलित होनी चाहिए। पुस्तकाल विद्यालय के केन्द्र में स्थित होना चाहिए। कक्ष बड़ा, ऊँचा, स्वच्छ और आकर्षक होना चाहिए। इसमें पर्याप्त दर्वाजों, खिड़कियों और रोशनदानों की व्य होनी चाहिए। प्रकाश और वायु की पर्याप्त मात्रा इसमें उपलब्ध होनी चाहि स्थान इतना पर्याप्त हो कि पुस्तकों की आलमारियाँ रखने के बाद भी उसमें प स्थान बचा रहे। यदि पुस्तकालय और वाचनालय भिन्न-भिन्न कमरों में हों तो उ है किन्तु यदि ऐसी व्यवस्था न हो, तो पुस्तकालय में कुछ बड़ी मेजों का प्रबन्ध चाहिए ताकि उन पर पत्र-पत्रिकाएँ और अन्य पाठ्य-सामग्री रखी जा सके। यह अन्य कक्षों से कुछ अलग हो, तो उत्तम है। इसे शान्त वातावरण अपेक्षित है। बैठकर छात्र और अध्यापक शान्ति के साथ कुछ पढ़ सकें, इसका विशेष विचार चाहिए। अत्यन्त खेद का विषय है कि हमारे विद्यालयों में अभी तक पुस्तकालय महत्त्व नहीं समझा गया है। पुस्तकालय-कक्ष और वाचनालय की व्यवस्था बहुत विद्यालयों में उचित प्रकार की होती है। साधारणतया किसी भी कक्ष को पुस्तकाल बना दिया जाता है। दो चार आलमारियों की जगह कहीं भी निकाल ली जाती और उसे पुस्तकालय का नाम दे दिया जाता है। न तो उसमें पुस्तकों के रखने व्यवस्था होती है, और न वहाँ बैठकर पढ़ने की व्यवस्था। कुछ विद्यार्थी पुस्तकें जाते हैं और फिर घर से वापस लाकर जमा कर देते हैं। इसमें सुधार की अत्य आवश्यकता है।

वाचनालय

वाचन [illegible]
जिन [illegible]
समाचार-पत्र, विचार-पत्र तथा पत्रिकाओं के पढ़ने की व्यवस्था होनी चाहिए। पत्र-पत्रिकाओं के चुनाव में छात्रोपयोगिता का विशेष ध्यान रखना चाहिए। किन्हीं-किन्हीं संस्थाओं में प्रधानाध्यापक तथा अध्यापक अपनी-अपनी रुचि की पत्रिकाएँ मँगाकर वाचनालय में रखवा देते हैं। वे छात्रों के लिए बेकार होती हैं अतः उनको वाचनालय

मे अरुचि हो जाती है। ऐसा कभी नहीं होना चाहिए। पत्र-पत्रिकाओ के चुनाव मे विविधता का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। उसमें विद्यालय मे पढ़ाए जाने वाले प्रत्येक विषय से सम्बद्ध पत्र पत्रिकाएँ आनी चाहिए। इस कार्य के लिए विषयाध्यापकों तथा छात्रों की एक समिति रहनी चाहिए जो समय-समय पर अपनी सलाह देती रहे। अश्लीलतापूर्ण तथा दलबन्दी को प्रोत्साहित करने वाली पत्र-पत्रिकाओ को उसमे घुसने भी नही देना चाहिए। वाचनालय मे पत्र-पत्रिकाओ के चुनाव से संस्था के अध्यापकों की अभिरुचियों तथा सांस्कृतिक स्तर को बहुत अच्छी तरह आँका जा सकता है।

संग्रहालय

यदि विद्यालय में एक संग्रहालय की जगह रखी जाय तो इससे बहुत लाभ होगा। इसका कक्ष इस प्रकार का बना हो, जहाँ अनेक प्रकार की वस्तुओ को संग्रहीत करके रखा जा सके। कुछ आलमारियाँ कक्ष की दीवालो मे बनी हुई हो और कुछ आलमारी और रैक अलग से होने चाहिए। इस कक्ष मे दीमक, सीलन और कीडो-मकोडो से बचाव का पर्याप्त प्रबन्ध होना चाहिए, जिससे वस्तुएँ सुरक्षित रह सकें। शीशे की आलमारियाँ हों, तो अत्यन्त उत्तम है। कक्ष की बनावट विशेष प्रकार की रखी जा सकती है जिससे अनेक वस्तुओ के संग्रह के लिये उचित स्थान भी निकल सके और छात्रो को देखने के लिए कक्ष के चारो ओर मार्ग भी बना रह सके। विशेष-विशेष प्रकार की वस्तुओं का स्थान निश्चित होना चाहिए और उनकी सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध होना चाहिए।

सभा-भवन

प्रत्येक विद्यालय मे एक सभा-भवन की व्यवस्था होना आवश्यक है। इससे अनेक लाभ होते हैं। सभा-भवन मे विद्यालय की सामूहिक प्रार्थना, पर्व, उत्सव, सभा, नाटक, रेडियो-श्रवण तथा चल-चित्र-प्रदर्शन आदि का आयोजन हो सकता है। आवश्यकता होने पर इसमे कक्षाएँ भी लगाई जा सकती हैं। सभा-भवन विभिन्न खंडो के बीच मे स्थित हो तो अच्छा है, जैसे E आकार के भवन में बीच के भाग मे सभा-भवन हो। भवन-निर्माण के समय ही सभा-भवन के आकार-प्रकार पर पर्याप्त ध्यान देना आवश्यक है। इसमें इतना क्षेत्रफल हो कि आवश्यकता के समय विद्यालय के समस्त छात्र और अध्यापक एकत्रित हो सकें अथवा बैठ सकें। हाल अथवा सभा-भवन सादा किन्तु कलापूर्ण होना चाहिए। इसे सुरुचि से सजाया जाना चाहिए। यह विद्यालय की अनेक गति-विधियो और क्रियाओं का केन्द्र होता है अत. इसकी सजावट भी विशेष सावधानी से होनी चाहिए। यदि विद्यालय-भवन दो मंजिलो का हो तो सभा-भवन के ऊपर दूसरी मंजिल न होकर उसकी छत ऊँची होनी चाहिए और ऊपरी मंजिल मे चारो ओर गलियारे होने चाहिए, जिससे विशेष अवसरों पर वहाँ बैठकर भी सभा-भवन में होने वाले उत्सवों को देखा जा सके। सभा-भवन के

आकार के अनुरूप उसमें पर्याप्त दरवाजे, खिड़कियाँ और बड़े रोशनदान होने च
सभा-भवन, साधारण विद्यालयों के लिये कम से कम ४०'×६०' होना चाहिं

शिक्षक-कक्ष

विद्यालय में एक कक्ष ऐसा भी होना चाहिए जहाँ विद्यालय के अध्
विश्राम के घण्टे में बैठ सकें और वहाँ बैठकर विश्राम कर सकें अथवा कुछ काम
सकें। यह कक्ष विद्यालय के किसी कोने में शान्त वातावरण में होना चाहिए,
छात्रों का अधिक आवागमन न हो। इसमें इतना पर्याप्त स्थान होना चाहिए
शिक्षकों को अपने कागज-पत्र रखने तथा आराम से बैठने की सुविधा हो। आवः
सामान रखने के लिए प्रत्येक अध्यापक को एक-एक छोटी अलमारी दी जा सके,
बहुत अच्छा हो।

व्यायाम-शाला

विद्यालय के मुख्य भवन से कुछ दूरी पर निर्मित होनी चाहिए। इसमें ऊ
छत हो किन्तु नीचे का भाग अधिक से अधिक खुला हुआ हो। छात्रों की संख्
के अनुपात से इसमें इतना स्थान हो कि इसमें व्यायाम-सम्बन्धी साधनों को भलं
प्रकार रखा जा सके। इसमें अखाड़े और विभिन्न यन्त्रों का होना आवश्यक है ताकि
छात्र अपनी रुचि के अनुसार इसमें व्यायाम के साधनों का उपयोग कर सकें। अधिक
शीत और वर्षा में वायु से बचने की व्यवस्था भी होनी चाहिए। यह ऐसे स्थान पर
हो जहाँ किसी प्रकार की गन्दगी न पाई जाये, वर्ना लाभ के स्थान पर हानि
पहुँच सकती है। इसमें सभी प्रकार के देशी-विदेशी व्यायाम-साधनों की व्यवस्था
होनी चाहिए।

शौचालय-मूत्रालय

प्रत्येक विद्यालय में छात्रों की संख्या के अनुपात से शौचालयों और मूत्रालयों
का होना अत्यन्त आवश्यक है। ये विद्यालय के मुख्य भवन से कुछ दूर किसी कोने में
हों तो उत्तम है। विद्यालयों में आधुनिक प्रकार के शौचालय और मूत्रालय, जिनमें
पानी निरन्तर बहाया जा सके, हों तो अच्छा है। यदि ऐसी व्यवस्था न हो सके तो
शौचालय का मुख इस प्रकार से हो कि उसे ढका जा सके ताकि उस पर मक्खियाँ न
बैठें। इनकी सफाई पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। विद्यालय में प्रत्येक १००
छात्रों के लिए एक शौचालय और दो मूत्रालय होने चाहिए। अभी हमारे देश में इन
बातों पर कम ध्यान दिया गया है। फलस्वरूप विद्यालय का परिसर और उसकी
दीवारों के पीछे का भाग सदैव गन्दा बना रहता है। छात्र किसी भी स्थान से
मूत्रालय का काम चला लेते हैं। आवश्यकता पड़ने पर विद्यालय के आसपास कहीं
ओट भी हो जाते हैं। इन बातों से गन्दगी बढ़ती है और विद्यालय का वातावरण

कार्यालय तथा प्रधानाध्यापक-कक्ष

विद्यालय के प्रवेश द्वार के पास प्रधानाध्यापक-कक्ष और विद्यालय का कार्यालय होने चाहिए। इन दोनों को अत्यन्त निकट सटा हुआ होना चाहिए। प्रधानाध्यापक को कार्यालय का बहुत सा काम देखना होता है। किसी समय आवश्यकता पड़ने पर वह कार्यालय से कोई कागज अथवा फाइल माँग सके, इसकी सुविधा होनी चाहिए और वह इस प्रकार का बना होना चाहिए कि उसमें विभिन्न रजिस्टर, कागजात तथा फाइलें आदि सुरक्षित रखे जा सकें। दीवालों में आलमारियाँ बनी हों और पत्थरों के टाँड लगे हों, जिन पर कागजात रखे जा सकें और वे दीमक तथा कीड़ों से सुरक्षित रह सकें। कार्यालय-कक्ष का एक द्वार प्रधानाचार्य के कक्ष से उसे मिलाता हो और दूसरा अन्य ओर को हो, जिधर से दूसरे लोग कार्यालय में प्रवेश कर सकें। एक ओर को काउण्टर बना होना चाहिए, जिसमें होकर छात्रों की फीस आदि जमा की जा सके। प्रधानाचार्य के पास बहुत से अभिभावक तथा अन्य लोग आते जाते रहते हैं इसलिए ये स्थान (कार्यालय तथा प्रधानाध्यापक-कक्ष) ऐसी स्थिति में हों कि सभी लोग सरलता से पहुँच सकें और उनके आवागमन से कक्षाओं के अध्यापन कार्य में किसी प्रकार की बाधा न पड़े।

क्रीड़ा-कक्ष आदि

इनके अतिरिक्त मुख्य विद्यालय-भवन से अलग अथवा उसके किसी एक ओर क्रीड़ाकक्ष, वस्तु-भंडार, जलपान-गृह, चिकित्सा-कक्ष आदि की व्यवस्था भी होनी चाहिए। इनका आकार-प्रकार छात्रों की संख्या और सुविधा के विचार से होना चाहिए। किन्तु प्रत्येक के निर्माण में वातावरण की स्वच्छता तथा वायु और प्रकाश की उपलब्धि का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है।

४—इन सबके लिए आवश्यक साज-सज्जा

ऊपर हमने विद्यालय-भवन और उसके विभिन्न कक्षों के विषय में विचार किया है। किन्तु केवल भवन और उसमें अनेक कक्ष बनवा देने से ही तो विद्यालय का मन्तव्य पूरा नहीं होता है। इन विभिन्न कक्षों के लिए उचित और आवश्यक साज-सज्जा का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। साज-सज्जा इस प्रकार की होनी चाहिए, जो विद्यालय के शिक्षा-उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक हो। हमारे देश में शिक्षा के लिए अभी पर्याप्त धन नहीं उपलब्ध हो पाता है, अत. इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि हमारे विद्यालयों की साज सज्जा व्यय-साध्य न होते हुए भी उपयोगी और सुरुचिपूर्ण हो। नीचे हम विभिन्न कक्षों की साज-सज्जा पर विचार करेंगे :—

कक्षा-कक्ष

कक्षा-कक्ष की आवश्यक साज-सज्जा में श्यामपट, कुर्सी, मेज, डेस्क, बेंच, और

छात्रों के कद के अनुसार बनी हो। उनकी ऊँचाई इतनी होनी चाहिए कि उन पर बैठने पर छात्रों के घुटने समकोण बनाएँ और उनके पैर पृथ्वी तक पहुँच जायें। कुर्सी हो अथवा बेंच, उसकी उचित उपयोगिता इसी में है कि छात्र उन पर आराम के साथ सीधे बैठ सकें और अधिक झुकने से उनके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े।

कक्षाओं में मेजों और डेस्कों - दोनों ही का प्रयोग हो सकता है। अधिक ऊँची कक्षाओं में चौरस मेजें अधिक उपयोगी हो सकती हैं किन्तु माध्यमिक कक्षाओं तक डेस्कें ही अधिक उपयोगी होती हैं। इनका आकार भी छात्रों की आयु और कद के अनुसार ही होना चाहिए। डेस्क का ऊपरी भाग चौरस होना चाहिए। इनके दाहिनी ओर स्याही का पात्र लगा दिया जाय अथवा ऐसा छिद्र बना दिया जाय जिसमें स्याही का पात्र ठीक बैठ जाय। इनका भीतरी तल छात्र के घुटनों की ऊँचाई को छूता हुआ होना चाहिए ताकि कुर्सी अथवा बेंच पर बैठने के बाद घुटन डेस्क के भीतरी किनारे की सीध में रहे। इनका अगला भाग छात्र के सीने की सीध में होना चाहिए, जिससे लिखते समय अधिक झुकना न पड़े। प्रत्येक डेस्क अलग-अलग हो, तो उत्तम है। किन्तु यह अधिक व्यय-साध्य पड़ता है अतः जुड़वाँ डेस्क भी बनाये जाते हैं। इन पर दो विद्यार्थियों के बैठने का प्रबन्ध होता है। कहीं-कहीं दो से अधिक डेस्क भी एक साथ ही जुड़े रहते हैं और उनके पीछे बैठने के लिए बड़ी-बड़ी बेंचें डाल दी जाती हैं। किन्तु दो से अधिक संयुक्त डेस्क असुविधाजनक होते हैं। डेस्क और बैठने की सीट भी कहीं-कहीं जुड़ी हुई रहती हैं किन्तु यह अधिक उत्तम नहीं कही जा सकती। सर्वोत्तम यह है कि डेस्क और बैठने की सीट अलग-अलग हो और बैठने पर डेस्क पर रखी पुस्तिका अथवा कापी छात्र की आँखों से १ फुट की दूरी पर हो। आवश्यकतानुसार छोटी-बड़ी सीटों को बदल देना चाहिए।

बैठने का प्रबन्ध—डेस्क अथवा मेज की पंक्तियाँ खिड़की वाली दीवार के साथ समकोण बनाती हुई लगानी चाहिए ताकि उन पर प्रकाश अच्छी तरह से आ सके। प्रत्येक छात्र के लिए कम से कम १५ वर्ग फुट बैठने की जगह होनी चाहिए। सीट की पंक्तियों के बीच कम से कम १८ इंच का अन्तर होना चाहिए ताकि कक्षा में आने-जाने में अथवा अध्यापक को निरीक्षण करने में किसी प्रकार की कठिनाई न हो। कक्षा में छात्रों की अधिकतम संख्या चालीस होनी चाहिए और सीट की पंक्तियाँ छह या सात से अधिक न होनी चाहिए। अध्यापक की सीट छात्रों के सम्मुख बीच वाले भाग में बीचो-बीच होनी चाहिए और यदि वह कुछ ऊँचाई पर हो तो अधिक उत्तम रहे।

कक्षा में बैठने का प्रबन्ध करना अध्यापक का कर्तव्य है [illegible] में पूर्ण और कला होनी चाहिए। डेस्कों और बेंचों की पंक्तियों [illegible] बीच अपेक्षित अन्तर रहना चाहिए। छात्रों के

चाहिए, विशेष कर छोटी कक्षाओं में। छात्रों को सीधे बैठने और खड़े होने का अभ्यास होना चाहिए। डेस्क पर आगे अधिक झुके रहने से रीढ़ की हड्डी पर बल पड़ता है और वह टेढ़ी पड़ जाती है। बैठने की स्थिति उचित न होने से शारीरिक विकृतियाँ उत्पन्न हो सकती हैं और शीघ्र ही थकावट मालूम होने लगती है, जिससे छात्र अध्ययन में उचित ध्यान नहीं दे पाते। इनसे बचने के लिए उचित सीटों का होना आवश्यक है।

कक्षा-कक्ष में कुछ आलमारियाँ भी होनी चाहिए। एक आलमारी कक्षाध्यापक के लिए हो, तो उत्तम है। इसमें अध्यापक अपनी पुस्तकें, कापियाँ, चाक, डस्टर तथा दावात आदि वस्तुएँ रख सकता है। अन्य आलमारियों में छात्रों की कापियाँ, दावात आदि रखे जा सकते हैं। कहीं-कहीं छात्रों के लिखने की सब सामग्री कक्षा-कक्ष में ही रख दी जाती है और लिखते समय निकाल ली जाती है। यदि कक्षा-कक्ष में एक आलमारी में शीशे लगे हों तो उसमें कक्षा की सामूहिक सम्पत्ति, जैसे जीते हुए पदक, शील्ड अथवा मॉडल आदि रखे जा सकते हैं। इससे कक्षा के विद्यार्थियों में गौरव और आत्मसम्मान की भावना बढ़ती है। आलमारियाँ दीवार में बनी होनी चाहिए जिससे वे अधिक स्थान न घेर सकें।

विषय-कक्ष

विषय-कक्षों की साज-सज्जा और कक्षा-कक्ष की साज-सज्जा में कुछ अन्तर होता है। प्रत्येक विषय-कक्ष की अपनी विशेषताएँ और आवश्यकताएँ होती हैं अतः इनकी साज सज्जा विशेष प्रकार की होनी चाहिए। हम ऊपर लिख आये हैं कि विद्यालय में विज्ञान, कृषि, भूगोल, इतिहास, कला-कौशल, गृह-विज्ञान तथा सङ्गीत आदि विषयों के लिये अलग-अलग कक्षों की आवश्यकता होती है। इन कक्षों की साज-सज्जा उन विषयों के अनुकूल ही होनी चाहिये। यथा—

विज्ञान-कक्ष—विज्ञान-कक्ष में साज-सज्जा इस प्रकार की होनी चाहिए कि उसका वातावरण छात्रों को विज्ञान की ओर आकर्षित करे और वैज्ञानिक अध्ययन में उनकी रुचि को बढ़ाए। दीवारों पर प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के कलापूर्ण चित्र लगे होने चाहिए। वैज्ञानिकों के चित्र के अतिरिक्त विज्ञान-सम्बन्धी अन्वेषणों और अन्वेषण-प्रक्रियाओं के चित्र भी लगाये जाने चाहिए। वैज्ञानिक यन्त्र और सामग्री तथा वैज्ञानिक-अध्ययन सम्बन्धी श्रव्य दृश्य सामग्री उचित प्रकार से सजाकर और सुरक्षित परिस्थिति में रखनी चाहिए। विज्ञान-अध्यापक की मेज ऊँची और बड़ी होनी चाहिये और इस प्रकार स्थित होनी चाहिए कि अध्यापक जो प्रयोग करे, उसको कक्षा के समस्त छात्र देख सकें। यदि छात्रों के बैठने की व्यवस्था सीढ़ियों की तरह की हो सके, तो ठिगने लम्बे—दोनों प्रकार के छात्रों को देखने में असुविधा नहीं होगी। अध्यापक की मेज ...ही यदि सम्भव हो तो जल और गैस के आवागमन के साधन होने चाहिए।

बड़ी और ३' ऊँची कुछ स्थायी मेजें होनी चाहिए ताकि विद्यार्थी

विद्यालयों में तीन प्रकार के पुस्तकालय हो सकते हैं :—(पुस्तकालय, (२) कक्षा-पुस्तकालय, और (३) विषय-पुस्तकालय। इ अपनी-अपनी विशेषताएँ और गुण हैं। यथा—

१. केन्द्रीय पुस्तकालय—इसमे सम्पूर्ण विद्यालय की आवश्यकताओं से एक ही केन्द्रीय स्थान मे सभी विषयो और सभी कक्षाओं की पुस्तकें किया जाता है। पुस्तकालय-व्यवस्था की सुविधा के अनुसार केन्द्रीय पुस्तक होता है। इसमे अध्यापक और छात्र अपने विषयो के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें तथा सामान्य पुस्तकें सुगमता से पढ सकते हैं। पुस्तकालय मे अ समीप ही वाचनालय की व्यवस्था भी सम्यक् रीति से हो सकती है।

२. कक्षा-पुस्तकालय—प्रत्येक कक्षा मे एक कक्षा-पुस्तकालय हो इसमे कक्षा-विशेष के स्तर की पुस्तकें रखी जा सकती है और उसका अध्यापक हो सकता है। उसके लिए कक्षा मे एक आलमारी होनी चाहि कक्षा-अध्यापक कक्षा के स्तर मे पूर्ण परिचित होता है। अतः वह सरलत को परामर्श दे सकता है और उन्हे पुस्तको के पढने की प्रेरणा दे सकता है को लेने और पढकर वापस देने मे कोई कठिनाई नही होती है। इससे छात्रो को विशेष लाभ हो सकता है। किन्तु यह प्रणाली छोटी कक्षाओ मे लाभदायक हो सकती है। अन्य कक्षाओ के छात्र उन पुस्तको से लाभ नही हैं। क्रमिक कक्षाओं मे पुस्तको का स्तर विभाजित करने मे भी कठिनाई सकती है।

शिक्षा-शास्त्रियो के मत से केन्द्रीय-पुस्तकालय और कक्षा-पुस्तक मिश्रित प्रणाली सर्वोत्तम होती है। ऐसे प्रबन्ध मे कक्षा-पुस्तकालय केन्द्रीय पु से सम्बन्धित रहेंगे और पुस्तको का परिवर्तन होता रहेगा। आदर्श भी य कक्षा मे वे ही पुस्तकें सदैव न होनी चाहिए। इनमे हेरफेर होता रहना इसमे पुस्तकों की उपयोगिता बढ जायगी और विभिन्न कक्षाओ के छात्र उन उठा सकेंगे।

३ विषय-पुस्तकालय—प्रत्येक विषय की पुस्तकें उनके विषय-कक्षो मे चाहिए। ऊँची कक्षाओं मे यह प्रणाली विशेष लाभदायक सिद्ध होती है। अध्यापक अपने विषय मे विशेषज्ञ होते हैं और अपने विषय की उत्तम पुस्त पूर्ण जानकारी रखते हैं। वे विषय पुस्तकालय को अत्यन्त उपयोगी और उत्त सकते हैं किन्तु अन्य विद्यार्थी उन पुस्तकों से लाभ नही उठा पाते, जो उस वि ऊपर सामान्य ज्ञान प्रदान करने के उद्देश्य से लिखी जाती हैं [illegible] मे विषय-पुस्तकालय [illegible] । मानं सस्थाओं मे यह अत्य [illegible]

पुस्तकालयों में यदि प्रशिक्षित अध्यक्ष हों तो उनका संचालन और प्रशासन ाम होगा। पुस्तकों की सूची, उनका वर्गीकरण, पुस्तकों का सम्पत्ति-रजिस्टर तथा न्देन का रजिस्टर, आदि आवश्यक रजिस्टर सदैव उचित प्रकार से बनाए जाने हिए और ठीक ढंग से रखे जाने चाहिए। प्रत्येक पुस्तकालय में पुस्तकें उधार देने साथ-साथ यह भी व्यवस्था होनी चाहिए कि छात्र मनचाही पुस्तक निकाल कर वहीं ं कर पढ़ सकें। पुस्तकालय में पूर्ण शान्ति विराजनी चाहिए जिससे पढ़ने वालों का ान भग बिलकुल न हो सके। छात्र-कार्य करने वाले व्यक्तियों तथा अध्यापकों के ए पृथक् कक्ष होने चाहिए। अन्य विज्ञानों के समान पुस्तकालय-विज्ञान भी प्रतिदिन ्नति कर रहा है, और हमारे भारतीय विद्यालयों के पुस्तकालयों में सुधार हो रहा । अध्यापकों को चाहिए कि पुस्तकालय को छात्रों के मानसिक और बौद्धिक विकास ा केन्द्र बनाने का प्रयत्न करें और विविध उपायों द्वारा छात्रों को प्रोत्साहित करके न्हें स्वाध्याय की प्रेरणा दें।

वाचनालय—वाचनालय में पत्र पत्रिकाओं के रखने की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि वे इधर-उधर उड़ती न फिरें। पत्रिकाओं के लिए पट्ठों के आवरक बनवा देने से न वे खराब होती हैं और फटती हैं। ऐसी ही व्यवस्था समाचार-पत्रों के लिए भी की जा सकती है। वाचनालय में एक ऐसा रजिस्टर अवश्य रखा रहना चाहिए, जिस पर आने वाले हस्ताक्षर कर दें। इससे कौन-कौन छात्र वाचनालय में रुचि ले रहे हैं, इसका पता चलता रहता है। यह तो स्थायी नियम होना चाहिए कि कोई व्यक्ति वाचनालय में वार्तालाप और किसी प्रकार का शोर न करे।

संग्रहालय

इसकी सामग्री का सकलन भी शैक्षणिक उपयोगिता की दृष्टि से होना चाहिये। इसमें विभिन्न वस्तुओं का संग्रह और उचित वर्गीकरण होना चाहिए। इसमें प्राकृतिक विज्ञानों और सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्धित उन-उन वस्तुओं का सग्रह किया जाना चाहिए, जिनका प्रदर्शन छात्रों के लिए हितकर हो। पाठ्यक्रम में छात्र अनेक वस्तुओं के नाम और विवरण से परिचित होते हैं, किन्तु उन वस्तुओं को न देख पाने के कारण उनका ज्ञान अधूरा और वैचारिक रहता है। यदि वे वस्तुओं के वास्तविक रूप को देख सकें, तो उनका ज्ञान पूरा और स्थायी हो सकता है। ऐसी अनेक-विध पाठन-सामग्री का सकलन सग्रहालय कक्ष में होना चाहिए।

जिस प्रकार केन्द्रीय पुस्तकालय का सम्बन्ध कक्षा-पुस्तकालयों तथा विषय-पुस्तकालयों के साथ रहता है, उसी प्रकार सग्रहालय का सम्बन्ध विषय-कक्षों के साथ रहना चाहिए। जो वस्तुएँ सभी विषयों से सम्बन्ध रखती हैं, उन्हें केन्द्रीय सग्रहालय में ही रखना तथा आवश्यकता पड़ने विषय-कक्षा में भिजवाते रहना उचित होगा। भिजवाने-मँगाने की व्यवस्था समुचित होनी चाहिए।

अध्यापकों की हाजिरी का रजिस्टर—विद्यालय का प्रत्येक क
पर होना चाहिए। इससे उसकी प्रतिष्ठा और कार्य-क्षमता बढ़
अध्यापक को नियत समय पर विद्यालय पहुँचना चाहिए। उनकी
रजिस्टर होना आवश्यक है। इस रजिस्टर में विद्यालय के सभी अध्य
लिखे होने चाहिए और अध्यापकों को इसमें अपने विद्यालय पहुँचने के
हस्ताक्षर कर देने चाहिए। मुख्याध्यापक को प्रतिदिन इस रजिस्टर को
और विलम्ब से आने वाले अध्यापकों को नियत समय पर आने क
चाहिए। इस उद्देश्य से देर से आने वाले अध्यापकों को नाम के सा
नीचे लाल चिन्ह लगा देना पर्याप्त है। स्वाभिमानी अध्यापक के लिए
संकेत अनावश्यक होता है। अन्य प्रकार के अध्यापकों के लिए कुछ वि
की जा सकती है। इस रजिस्टर में अध्यापकों की सभी प्रकार की छु
दर्ज किया जाना चाहिए।

विद्यार्थियों की हाजिरी के रजिस्टर—विद्यालय की प्रत्येक कक्षा
कक्षा के लिए एक-एक उपस्थिति-रजिस्टर होना चाहिए। कक्षाध्यापक
रजिस्टर देना अधिक उपयोगी और सुविधाजनक रहता है। उपस्थिति
बार होनी चाहिए। विद्यालय के कार्यक्रम के आरम्भ में और एक बा
रजिस्टर में क्रम-संख्या, नाम, महीना, तिथि, उपस्थिति और उपस्थिति क
फीस आदि के खाने बने होते हैं। शिक्षा-विभागों ने विशेष प्रकार के र
स्वीकृति प्रदान कर रखी है। प्रायः सभी विद्यालयों में मिलते-जुलते से रं
हैं। अध्यापकों को कक्षा-रजिस्टर का पूरा ज्ञान होना चाहिए, जिससे वे र
ठीक प्रकार से रख सकें और उसमें उपस्थित, छुट्टी, फीस आदि का उचि
भर सकें।

इसी प्रकार छात्रों के प्रवेश रजिस्टर में प्रत्येक छात्र के विद्याल
करने की तिथि, उसकी जन्म-तिथि, उसकी क्रम संख्या, पिता का नाम,
व्यवसाय, जाति, पता आदि लिखा जाना चाहिए। जब तक वह विद्यालय में
तक प्रत्येक कक्षा में उसकी प्रगति तथा उसके चरित्र का विवरण दिया जाना
अन्त में उसके विद्यालय छोड़ने की तिथि और छोड़ने का कारण लिखा जाना
इसी रजिस्टर के आधार पर छात्रों को प्रमाण-पत्र और विद्यालय-परि
सर्टीफिकेट दिया जाता है। इस रजिस्टर को बहुत सावधानी से रखना
अध्यापन-सम्बन्धी अन्य रजिस्टरों को भी सावधानी से रखा जाना चाहिये औ
में तत्सम्बन्धी विवरणों को भर देना चाहिए। किसी भी रजिस्टर का का
नहीं होना चाहिए क्योंकि इससे बहुत सा काम एकत्रित हो जाता है और स
आवश्यक सूचना नहीं प्राप्त होती।

वित्त-सम्बन्धी रजिस्टरों में 'कैशबुक' अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें ए
विद्यालय की आय और ... का विवरण होता है। फीस,

सहायता, अनुदान, चन्दा, दान तथा छात्रवृत्ति आदि विभिन्न मदो से जो कुछ आय विद्यालय को होती है, उसका इसमे दर्ज किया जाना आवश्यक होता है। इसी प्रकार वेतन तथा अन्य व्यय को सामने के पृष्ठ पर दिखाना चाहिए। कैशबुक दो प्रकार की होती है दैनिक—जिसमे प्रतिदिन का आय-व्यय का लेखा दिखाया जाता है, और मासिक जिसमे प्रत्येक महीने का आय-व्यय दिखाया जाता है। वेतन-रजिस्टर फीस रजिस्टर बैंक-बुक आदि वित्त-सम्बन्धी रजिस्टरो का मिलान अवश्य करते रहना चाहिये, जिससे लेन-देन मे किसी प्रकार की अशुद्धि न होने पाए। वित्त-सम्बन्धी अन्य रजिस्टरो मे उस विषय की आय-व्यय का लेखा शुद्ध रूप से निरन्तर दिखलाना चाहिए। प्रधानाध्यापक को वित्त सम्बन्धी रजिस्टरो के विषय मे सदैव सतर्क रहना चाहिए। थोडी सी भी असावधानी और अशुद्धि उसे बदनाम करने के लिए पर्याप्त हो सकती हैं।

किसी भी विद्यालय मे अनेक प्रकार की वस्तुएँ और सामग्री रहती हैं। इन सबका विवरण कहीं न कहीं अवश्य होता है। विद्यालय में फरनीचर, फुटकर सामग्री, पुस्तको, खेल के सामान, पाठ्य सामग्री तथा अन्य विविध सामग्री के लिये स्टाक-बुक का होना अति आवश्यक है। स्टाक-बुक मे क्रमवार वस्तुओ का नाम, उनकी सख्या, उनकी कीमत, उनके खरीदने या बनवाने की तिथि, उनकी दशा तथा उनके खर्च और प्रयोग का विवरण होता है। इससे आसानी से पता लग जाता है कि विद्यालय मे किस प्रकार की कितनी सम्पत्ति है। प्रधानाध्यापक को समय-समय पर इन सामग्री-रजिस्टरो से वस्तुओ का मिलान करना चाहिये और अनुपयोगी और व्यय हो गई वस्तुओ का विवरण लिख देना चाहिए। विज्ञान, भूगोल, इतिहास तथा कौशल आदि विशेष विषयो की अलग-अलग स्टाक-बुकें होनी चाहिये और उसमे उस विषय से सम्बन्धित सभी वस्तुओ का विवरण होना चाहिए।

अन्य रजिस्टरो मे पत्र-व्यवहार रजिस्टर मे विद्यालय मे आने वाले और विद्यालय से जाने वाले सभी पत्रो का सक्षिप्त विवरण रहता है। यह अत्यन्त उपयोगी होता है। इससे पता चलता है कि कहाँ से, किस विषय मे, और किस समय कौन-सा पत्र प्राप्त हुआ और वह किस फाइल मे रखा गया है। इसी प्रकार विद्यालय से कौन-सा पत्र, किस विषय मे, और किस समय (तिथि, माह, आदि) भेजा गया है और उसकी प्रतिलिपि किस फाइल मे प्राप्त होगी। इससे विद्यालय के डाक-व्यय का लेखा प्राप्त होता है।

स्कूल कलेण्डर—कुछ विद्यालय अपना अलग कलेण्डर बनाते हैं। इसमे विद्यालय के खुलने तथा बन्द होने के समय तक की विभिन्न क्रियाओ का विवरण रहता है। विद्यालय वर्ष मे कितनी छुट्टियाँ देगा, उसकी विभिन्न परीक्षाएँ किस-समय होगी, विद्यालय की विभिन्न पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाएँ किस किस होगी, तथा अन्य प्रसिद्ध क्रियाओ की सम्भावित तिथियाँ क्या-क्या होगी, यह दिया जाता है। यह वर्ष के आरम्भ मे ही बन जाना चाहिए। इसकी एक-

एक प्रति समस्त अध्यापको और छात्रो को मिल जानी चाहिए। विद्यालय के अधिकारियो को भी एक प्रति भेज देनी चाहिए। इससे विद्यालय को नियमित कार्यक्रम पूरा करने मे बड़ी सहायता मिलती है।

लॉग बुक (Log Book)—इसमे विद्यालय की समस्त महत्त्वपूर्ण घटनाओं की सूची रहती है। इसे प्राय: प्रधानाध्यापक ही लिखता है। विद्यालय का निरीक्षण विद्यालय मे किसी विशिष्ट व्यक्ति का आगमन, किसी विषय मे प्रधानाध्यापक के निजी अनुभव, सदैव या विभिन्न अवसरो पर ध्यान रखने योग्य बातो और वार्षिक परीक्षा आदि का संक्षिप्त विवरण इसमे रहता है।

कार्यालय मे इन विभिन्न रजिस्टरो और अन्य वस्तुओ का उचित प्रबन्ध होना चाहिए। लोहे की कुछ आलमारियाँ हो, तो अच्छा है, जिनमे महत्त्वपूर्ण कागजात रखे जा सकें। यदि विद्यालय बड़ा है, तो उसमे रुपया पैसा रखने के लिये तिजोरी का होना भी आवश्यक है। कुछ सन्दूक भी होने चाहिए, जिनमे सामान सुरक्षित रखा रहे और इधर-उधर न बिखरा रहे। फाइलो का वर्गीकरण वैज्ञानिक प्रणाली पर होना चाहिये, जिससे किसी फाइल को तलाश करने मे समय का अपव्यय न हो। कुछ कार्यालयों मे किसी प्रकार का उचित वर्गीकरण नहीं रहता है, जिससे किसी कागज को तलाश करने में सभी फाइलों को उलटना-पुलटना पड़ता है। इससे कार्य क्षमता क्षीण हो जाती है।

प्रधानाध्यापक-कक्ष—इस कक्ष की साज-सज्जा विद्यालय की प्रतिष्ठा के अनुरूप होनी चाहिए। इसलिये नहीं कि यह प्रधानाध्यापक के बैठने का कक्ष है, वरन इसलिए कि यह विद्यालय की समस्त क्रियाओं का उद्गम स्थान है और साथ में यहीं आगन्तुकों का स्वागत भी होता है। अभिभावक, निरीक्षक तथा जन-प्रतिनिधि आदि विशिष्ट व्यक्ति सभी इस कक्ष मे आते हैं और प्रधानाध्यापक से मिलते हैं। इस कारण इसे सुन्दर ढंग से सजा होना चाहिए। इसमें एक बड़ा आफिस टेबुल होना चाहिए जिसमें द्वार (कोठे) बने हों। कुछ अच्छी कुर्सियाँ होनी चाहिए ताकि आगन्तुक बैठ सकें। एक या दो आलमारियाँ हों, जहाँ प्रधानाध्यापक गोपनीय कागजात रख सकें। कुछ रैक होने चाहिए, जिनमे शिक्षा-संहिता, कोष, रेल की समय-सारिणी, पाठ्यक्रम आदि कुछ विशेष पुस्तकें रखी जा सकें। इसमें एक छोटी तिजोरी भी होनी चाहिए। इससे मिला हुआ यदि छोटा विश्राम-कक्ष, मूत्रालय, शौचालय हो तो अति उत्तम है। विश्राम-कक्ष में आराम कुर्सी, जल-पात्र एवं दर्पण आदि की व्यवस्था होनी चाहिए अधिकतर प्रधानाध्यापकों को कई घंटे बैठकर कार्यालय का कार्य देखना होता है अतः कक्ष में पंखा, लैम्प, घड़ी आदि होनी चाहिए। कक्ष में कुँजियाँ, कलेण्डर, टाइम-टेबुल तथा चित्र आदि टाँगने की उचित व्यवस्था रहनी चाहिए। बड़े बड़े विद्यालयों में प्रधानाध्यापक-कक्ष से लगा हुआ स्टेनो कक्ष होता है, जहाँ टाइपराइटर [illegible] रहती है।

सामान्य—इसी प्रकार व्यायाम-कक्ष, शौचालय-मूत्रालय, वस्तु-भण्डार, क्रीडा-स्थल, जलपान-गृह, चिकित्सा कक्ष आदि के लिए उनके अभिप्राय और उद्देश्य के अनुरूप साज-सज्जा और सामग्री की व्यवस्था होनी चाहिए। सभी प्रकार की साज-सज्जा की कसौटी—उपयोगिता, सुविधा, स्वच्छता और सुन्दरता होनी चाहिए। आवश्यक साज-सज्जा के बिना उस स्थान के रखने का प्रयोजन कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता है।

उपसंहार

जिस स्थान पर छात्रों का अध्यापन चलता है, उसकी साज-सज्जा में से कुछ का वर्णन इस अध्याय में कर दिया है। प्रत्येक के विषय में जो कुछ लिखा जाना चाहिए अथवा उसके विषय में विभिन्न परिस्थितियों में जो-जो जानकारी आवश्यक हो सकती है, वह सब नहीं लिखी जा सकी है। उस विषय में तो सम्बद्ध व्यक्तियों को अपनी बुद्धि और विवेक से ही काम लेना पड़ेगा। उचित दिशा में चिन्तन को प्रवृत्त करने के लिए जितना लिखना आवश्यक था, उतना लिख दिया गया है।

९

विद्यालय के अचेतन साधन—२

"छात्रावास"

अध्याय-संक्षेप :—

प्रस्तावना; पद्धति की प्राचीनता, वर्तमान परिस्थिति; महत्त्व; छात्रावास का भवन और उसके कक्ष—स्थिति, छात्रों के निवास कक्ष, क्रीड़ा-कक्ष, पुस्तकालय, अतिथि-कक्ष, सामूहिक कक्ष, चिकित्सालय, भोजनालय आदि; छात्रावास-व्यवस्था—छात्रावास का अध्यक्ष, अध्यक्ष के छात्रों के प्रति स्वास्थ्य-विषयक कर्त्तव्य, व्यवहार जन-तान्त्रिक हो छात्राओं के लिए विशेष व्यवस्था; सामान्य सुझाव; उपसंहार।

प्रस्तावना

पिछले अध्याय मे हमने विद्यालय की मुख्य भूमि (वह भूमि, जहाँ अध्ययन एवं अध्यापन कार्य चलता है) पर स्थित कक्षों तथा उसकी साज-सज्जा की चर्चा की थी। इस अध्याय में हम छात्रावास की चर्चा करने जा रहे हैं। वस्तुतः छात्रावास-रहित विद्यालय को पूरी तरह विद्यालय कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि वह विद्यालय के मुख्य उद्देश्य—सम्पूर्ण व्यक्ति के समन्वित विकास को किसी प्रकार भी पूरा नहीं कर सकता। उसके बिना विद्यालय समाज का लघुरूप भी नही बन सकता और न बाहरी दुष्प्रभावों से छात्रों को बचा सकता है। इसी दृष्टि से मुख्य भूमि पर स्थित भवनों के अनन्तर ही इसकी चर्चा की जा रही है।

पद्धति की प्राचीनता

विद्यालयों से सम्बन्धित छात्रावास रखने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। गुरुकुल-पद्धति मे छात्र आश्रम मे निवास करते थे। मध्ययुग मे भी पाठशालाओ मठों, विहारो, मन्दिरों तथा मस्जिदो के साथ विद्यार्थियो के आवास की व्यवस्था भी होती थी। आधुनिक युग मे भी विद्यालयों —विशेषकर माध्यमिक और उच्च विद्यालयो के साथ मे छात्रावास की व्यवस्था अवश्य रहती है। आश्रम पद्धति (Residential System) मे तो प्रत्येक छात्र के लिए छात्रावास में रहना अनिवार्य होता है।

वर्तमान परिस्थिति

किन्तु शिक्षा के व्यापक प्रसार के साथ साथ इधर कुछ काल से छात्रावासो की परम्परा भग्न होती जा रही है। माध्यमिक विद्यालय ग्रामीए क्षेत्रों मे बढ़ने जारहे हैं। आसपास के छात्र पढ़कर अपने-अपने घर को चले जाते हैं। शहरो में भी अधिकतर छात्र अपने अभिभावकों के साथ रहते हैं। आधुनिक परिस्थितियों मे छात्रावासो का जीवन अधिक व्यय-साध्य होता जा रहा है। अनेक निर्धन छात्र छात्रावास के व्यय का भार नही उठा पाते और बाहर कहीं रहकर विद्यालयो मे अध्ययन करते हैं।

महत्त्व

किन्तु इन परिस्थितियो के कारए छात्रावास का महत्त्व कम नही हो जाता है। अनेक छात्र विद्यालय मे दूर से आते हैं। अनेक अभिभावक अपने बच्चों को छात्रावास मे रखना पसन्द करते हैं। वस्तुतः प्रत्येक ऐसे विद्यालय मे जिसमे कुछ छात्र दूर से आते हैं, छात्रावास की व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए। छात्रावासो मे कुछ विशेष शिक्षा-उद्देश्यों की पूर्ति होती है। आधुनिक प्रजातन्त्रीय युग विकसित नागरिकता का युग है। विकसित नागरिकता का एक आवश्यक अंग है सामूहिक जीवन। सामूहिक जीवन का अभ्यास विद्यालयो और छात्रावासो मे ही हो सकता है। छात्रावास मे छात्र को अन्य छात्रों के साथ जीवन व्यतीत करना पडता है। उसके लिये अति आवश्यक हो जाता है कि वह छात्रावास के नियम और अनुशासन को मानता हुआ और सहयोग का आदान-प्रदान करता हुआ उत्तम प्रकार से सामूहिक जीवन व्यतीत करे। इससे उसे उन गुणों की प्राप्ति और अभ्यास होता है, जो एक भावी नागरिक के लिये अनिवार्य हैं।

हम कह चुके हैं कि विद्यालय समाज का एक लघुरूप है। छात्रावास के विषय मे यह कथन अक्षरशः सत्य है। छात्रावास का जीवन पूरी तरह सामाजिक होता है। जिस प्रकार समाज मे रहता हुआ व्यक्ति उसके वातावरए से प्रभावित होकर उसकी अच्छाई और बुराई को ग्रहए करता है, उसी प्रकार छात्र भी छात्रावास मे रहता हुआ उसके वातावरए से प्रभावित होकर उसके अनुसार अपने जीवन को ढाल लेता

और स्नानागार भी इससे सम्बन्धित समीप में हों, तो अति उत्तम हो। छात्रों के अभिभावक और अन्य अतिथि जब आएँ, तो उनको इसमें ठहराना चाहिए, जिससे छात्रावास के जीवन और अध्ययन में व्यतिक्रम न उत्पन्न हो। अतिथि यह धारणा बनाकर न जाएँ कि उनके बच्चे किसी बुरे स्थान और अनुपयुक्त वातावरण में रह हैं, इसलिए अतिथि-कक्ष की व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

सामूहिक कक्ष—छात्रावास में यदि सम्भव हो तो एक सामूहिक-कक्ष होना चाहिए। इसमें प्रार्थना, वाद-विवाद, नाटक, छात्रोपयोगी-फिल्म प्रदर्शन अथवा किसी विशेष आयोजन और उत्सव के अवसर पर छात्रावास के सभी छात्र एकत्रित हो सकते हैं। बाहर से आने वाले अभ्यागत भी इसमें बैठाये जा सकते हैं। यह कक्ष बड़ा और अन्य कक्षों से अपेक्षाकृत अधिक आकर्षक और सुसज्जित होना चाहिए।

सहकारी वस्तु-भंडार—छात्रावास में एक सहकारी वस्तु-भंडार भी होना चाहिए। इसमें छात्रों की आवश्यकता की सभी वस्तुएँ उपलब्ध होनी चाहिए। वस्तु-भंडार की आदर्श व्यवस्था वह कही जाएगी जिसमें छात्रों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बाहर जाना ही न पड़े।

चिकित्सालय—किसी ओर एक छोटा-सा चिकित्सालय भी होना आवश्यक है। छात्रों के बीमार पड़ने पर उनको उचित देख-भाल और चिकित्सा होनी आवश्यक है। कभी-कभी किसी छात्र को छूत की अथवा अन्य कोई गम्भीर बीमारी हो जाती है। ऐसी दशा में उसे अलग कक्ष में रखना आवश्यक होता है। छूत के रोगी को अन्य छात्रों से अलग रखना चाहिए। चिकित्सालय कक्ष में कुछ आवश्यक दवाएँ और प्राथमिक-चिकित्सा की सामग्री अवश्य रखनी चाहिए और ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि उसका चौबीस घण्टे प्रयोग किया जा सके।

शौचालय, मूत्रालय, स्नानागार—छात्रावास के इस अङ्ग पर विशेष ध्यान रहना चाहिए। किसी प्रकार की गन्दगी छात्रावास के वायु मण्डल को दूषित कर अनेक रोगों को जन्म दे सकती है। जैसा कहा गया है, इनकी स्थिति मुख्य भवन से कुछ दूर हटकर होनी चाहिए। इनकी सफाई के विषय में छात्रों और अधीक्षक—दोनों को सदैव जागरूक रहना चाहिए। शौचालय और मूत्रालय [illegible] से बाहर सदैव स्वच्छ बनाए रखने चाहिए। शौचालयों, मूत्रालयों और स्नानागारों की संख्या छात्रों की संख्या के अनुपात में होनी चाहिए। इन स्थानों का निरीक्षण अधीक्षक को बराबर करते रहना चाहिए और यहाँ जो गन्दगी दिखाई दे उसे साफ करवा देना चाहिए। छात्रों को भी प्रोत्साहित किया जाना चाहिए कि वे इन स्थानों को स्वच्छ रखें और इनको किसी प्रकार से गन्दा करके न छोड़ें।

भोजनालय, रसोईघर, भण्डार कक्ष आदि—इन स्थानों की स्वच्छता अत्यन्त आवश्यक है। भोजन और स्वास्थ्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। छात्रावास में एक ऐसा भोजन कक्ष आवश्यक है, जहाँ बैठकर सभी छात्र एक साथ भोजन कर सकें। इस कक्ष को अधिक हवादार होना चाहिए। इसमें छात्रों की संख्या के अनुसार मेज,

कुर्सियाँ अथवा बेंचें तथा भारतीय रीति से बैठने के आसन—दोनो होनी चाहिए। इसे अत्यन्त स्वच्छ और आकर्षक बनाकर रखना चाहिए। किसी भी प्रकार की ऐसी वस्तु इसमे न होनी चाहिए, जिससे भोजन करते समय छात्रो मे अरुचि उत्पन्न हो। रसोई-घर भी हवादार और स्वच्छ होना चाहिए। भोजन की सब सामग्री और पीने का पानी ढका होना चाहिए। खुला खाद्य पदार्थ मक्खियो को निमन्त्रण देता है और उनके बैठने से अनेक कीटाणु उत्पन्न हो सकते हैं। इसमे धुँआ निकलने की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। आजकल गैस के चूल्हे मिलने लगे हैं। यदि उन्हें लगवा लिया जाए, तो धुएँ से रक्षा के साथ समय और श्रम को भी बहुत सी बचत हो जाए। भण्डार-कक्ष मे भी सभी वस्तुएँ ढककर और सुव्यवस्थित ढङ्ग से रखनी चाहिए। यदि छात्रावास नगर से कुछ दूर हो, तो इसमे सभी वस्तुओ का आवश्यकतानुसार संग्रह होना चाहिए। इनकी व्यवस्था और सेवा-कार्य छात्रो को सहकारिता के आधार पर करने चाहिए।

छात्रावास-व्यवस्था

छात्रावास का अध्यक्ष—कुछ विद्वानों की राय मे छात्रावास-व्यवस्था-कार्य विद्यालय-व्यवस्था कार्य से अधिक कठिन है। छात्रावास मे छात्र विद्यालय की अपेक्षा अधिक समय तक रहते हैं। इसमे एक प्रकार का पारिवारिक जीवन रहता है। इस कारण छात्रावास की व्यवस्था का उत्तरदायित्व किसी सुयोग्य, अनुभवी तथा प्रतिष्ठित अध्यापक को देना चाहिए। यदि छात्रावास बडा हो, तो एक वार्डन और एक हाउस मास्टर नियुक्त करना चाहिए। यदि छात्रावास साधारण हो, तो एक ही अध्यक्ष कार्य कर सकता है। अध्यक्ष का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। इस पद के लिए किसी अध्यापक का चुनाव करते समय प्रधानाध्यापक को विद्यालय मे उसका काम कर देना चाहिए ताकि वह अधिक समय देकर छात्रावास के उत्तर-दायित्व को निभा सके। छात्रावास के अध्यक्ष के कर्त्तव्यो और उत्तरदायित्वो की तुलना एक गृहपति से की जा सकती है। छात्रावास के छात्रो को अपने बच्चों के समान समझ कर उसे उनके स्वास्थ्य (शारीरिक और मानसिक), सुख और सुविधा का ध्यान रखते हुए कार्य करना चाहिए।

अध्यक्ष के छात्रों के स्वास्थ्य (शारीरिक और मानसिक) विषयक कर्त्तव्य—अध्यक्ष को छात्रावास के सभी छात्रो के स्वास्थ्य के विषय मे सतर्क रहना चाहिए। स्वास्थ्य के लिये नियमित जीवन, सतुलित आहार, सफाई, सच्चरित्रता, व्यायाम तथा चिकित्सा की उचित व्यवस्था आदि आवश्यक होते हैं। अध्यक्ष के लिए उचित है कि वह छात्रों मे नियमित जीवन की प्रेरणा उत्पन्न करे। छात्रावास मे प्रत्येक कार्य का समय निश्चित होना चाहिए और एक समय विभाग बनाकर छात्रो को नियमित जीवन व्यतीत करने के लिये प्रोत्साहन देना चाहिए। उठने, सोने, भोजन, अध्ययन, खेल-कूद आदि सभी कार्यों का समय निश्चित रहना चाहिए। ऐसा होने से समय का अपव्यय और दुरुपयोग नहीं होता है। नियमित जीवन का अभ्यास आरम्भ मे कुछ कठिन

समय के भीतर (यूनीवर्सिटी तक) वापस आ जाएं। छात्रों में नैतिकता का ह्रास हो
जा रहा है, यह देश के लिये बहुत दुर्भाग्य की बात है। छात्रावासों को
नियमों की सहायता से नैतिक वातावरण का केन्द्र बनाया जाना चाहिए।

अनुशासनीय व्यवहार छात्रों की सुख सुविधा के प्रति अध्यक्ष को
सावधान रहना चाहिए। छात्रावास नागरिकता की शिक्षा के लिये महत्त्वपूर्ण
है। अध्यक्ष को यहाँ पर जनतन्त्रीय प्रणाली का प्रयोग करना चाहिए। छात्रों
का सहयोग प्राप्त कर छात्रावास को विभिन्न क्रियाओं के लिये समितियाँ
देनी चाहिए। सफाई, भोजन, खेलकूद, अनुशासन, वाचनालय तथा पुस्त-
आदि की व्यवस्था के लिये छात्रों की समितियाँ बनाकर उन
निरीक्षण करते रहना चाहिए। छात्रों में उत्तरदायित्व, स्वावलम्बन, सहयो-
समता एवं संयम आदि गुणों की भावना उत्पन्न करने का सर्वोत्तम ढंग उन्हें उ-
दायित्वपूर्ण कार्यों में संलग्न रखना है। यह प्रणाली छात्रों को सामाजिक
लिये प्रस्तुत करती है और उन्हें भविष्य में अच्छे नागरिक बनने की प्रेरणा देती है।
छात्रावास के नियम स्पष्ट होने चाहिए और उनके पालन में किसी प्रकार की शि-
न आने देनी चाहिए। अनुशासन और नियम के भीतर रहकर ही छात्र सुनागरि-
की शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं।

छात्राओं के लिए विशेष व्यवस्था—भारत में छात्राओं के छात्रावासों का
बहुत अभाव है। उनकी अपनी विशेष समस्यायें भी हैं, जिन पर विशेष ध्यान दे-
चाहिए। अधिकांश अभिभावक लड़कियों को अपने से दूर रखने में हिचकते हैं। सामाजि-
और आर्थिक परिस्थितियाँ अधिकांश में इसके लिए उत्तरदायी हैं। स्वतन्त्र भारत में
लड़कियों की शिक्षा पर विशेष बल दिया जा रहा है। फलस्वरूप उनके लिये छात्रा-
वासों की आवश्यकता बढ़ती जा रही है। छात्राओं के छात्रावास की प्रमुख समस्या
सुरक्षा की होती है। अभी समाज में अवांछनीय तत्वों का अभाव नहीं हुआ है।
स्त्रियों के लिये जो स्वस्थ दृष्टिकोण पुरुष में होना चाहिए, उसे युग की अर्ध सम-
प्रधानता के कारण हमारा समाज अभी प्राप्त नहीं कर सका है। अतः छात्राओं का
निवास स्थान सुरक्षित स्थान पर चहारदीवारी से घिरा हुआ होना चाहिए। उसमें
कर्मचारी और अध्यक्ष सभी सच्चरित्र महिलाएँ होनी चाहिए। आने-जाने पर प्रतिबन्ध
होना चाहिए और नियमों का पालन सख्ती से होना चाहिए। सिनेमा तथा कुरुचिपूर्ण
साहित्य आदि पर प्रतिबन्ध रहना चाहिए। छात्राओं को प्रेरणा दी जानी चाहिए कि
वे जहाँ भी जाएँ समूह में जाएँ। उनके अभिभावकों द्वारा अनुभवी व्यक्तियों को ही
उनसे मिलने-जुलने की छूट दी जानी चाहिए। विशिष्ट परिस्थितियों को छोड़कर
उनके लिए आवश्यक सामग्री छात्रावास की ओर से मँगा देनी चाहिए। उनके लिए
चिकित्सा की भी विशेष व्यवस्था रहनी चाहिए। उनमें वातावरण को शुद्ध रखना
अति आवश्यक है। वातावरण की शुद्धता के लिए पहली आवश्यकता प्रत्येक अध्यापक
तथा कर्मचारी के सच्चरित्र होने की है। यदि प्रधानाध्यापक ढीला तथा एक भी

अध्यापक चरित्रहीन हुआ, तो वातावरण की पवित्रता आशा करने योग्य वस्तु बन कर ही रह सकेगी।

सामान्य सुझाव

प्रत्येक छात्रावास में सामग्री, उपस्थिति, हिसाब-किताब, रसोईघर आदि सभी विभागों तथा क्रियाओं के लिये रजिस्टर होने चाहिए। छात्रावास का हिसाब-किताब अत्यन्त शुद्ध होना चाहिए। अभिभावकों को छात्रों और छात्राओं की प्रगति रिपोर्ट भी भेजी जाती रहनी चाहिए। अध्यक्ष को सहानुभूति किन्तु कठोरता से कर्मचारियों का अनुशासन करना चाहिए ताकि वे अपने कार्य में किसी प्रकार की अनियमितता न बर्तें। आजकल के अधिकतर छात्रावासों की दशा संतोषजनक नहीं है। नियमित जीवन के अभाव में उन्हें छात्रावास के स्थान पर 'सराय' कहना अधिक उचित है। इनमें सुधार अपेक्षित है, जिससे भावी भारतीय नागरिक नागरिकता का उचित प्रशिक्षण प्राप्त कर जीवन में प्रवेश करें।

उपसंहार

छात्रावास व्यवस्था के विषय में कुछ सलाहें इस अध्याय में दे दी गई हैं। उनको पर्याप्त मानकर चलने से छात्रालय के अध्यक्ष का काम नहीं चल सकता। एक योग्य पिता अपने बच्चों को योग्य बनाने तथा उन्हें स्वस्थ और सुखी रखने के लिए जो-जो व्यवस्थाएँ करता है, वे सब उसे करनी चाहिए। उसके व्यवहार आरम्भ में चाहे छात्रों को कुछ कठोर प्रतीत हों, परन्तु परिणाम छात्रों तथा समाज दोनों के लिए भला होगा। आजकल के छात्रावासों में अनुशासन का स्थान उच्छृङ्खलता ने ले लिया है। अपने देश में अच्छे छात्रावास की बहुत आवश्यकता है। जितनी जल्दी देश में अच्छे छात्रावास उपलब्ध हो सकेंगे, राष्ट्र का सामाजिक नव-निर्माण उतनी ही शीघ्रता से आरम्भ हो सकेगा।

१०

विद्यालय के अचेतन साधन—३

पाठ्यक्रम तथा पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाएँ

अध्याय-सारांश : —

प्रथम खण्ड—पाठ्यक्रम

प्रस्तावना; पाठ्यक्रम का अर्थ, पाठ्यक्रम का महत्त्व; पाठ्यक्रम निर्माण के उत्तरदायित्व; पाठ्यक्रम निर्माण के आधार—सामाजिक आवश्यकताएँ, मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ, समन्वय, प्रचलित पाठ्यक्रमों के दोष; सुधार के प्रयत्न; माध्यमिक-शिक्षा-कमीशन द्वारा प्रस्तुत पाठ्यक्रम—प्राथमिक तथा जूनियर विद्यालय माध्यमिक विद्यालय; इन पाठ्यक्रमों का मूल्यांकन; उपसंहार।

द्वितीय खण्ड—पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाएँ

प्रस्तावना, महत्त्व; महत्त्व के कारण; क्रियाओं का वर्गीकरण; साहित्यिक क्रियाएँ; सामाजिक क्रियाएँ, शारीरिक क्रियाएँ, मनोरंजनात्मक क्रियाएँ; प्रदर्शनात्मक क्रियाएँ; विद्यालयों की कठिनाइयाँ और कर्तव्य; उपसंहार।

प्रथम खण्ड

(पाठ्यक्रम)

प्रस्तावना

विद्यालय-भवन एवं छात्रावास की व्यवस्था के पश्चात् स्वभावतः अध्यापकों तथा छात्रों के मन में प्रश्न उठता है कि विद्यालय में क्या कराया अथवा किया जाए?

विद्यालय मे रहकर छात्र पाठ्यक्रम का अध्ययन तथा कतिपय क्रियाओ का अनुष्ठान करते हैं। अध्यापक मिलकर यह प्रयत्न करते हैं कि छात्रो का अध्यापन और क्रिया-नुष्ठान सुचारु रूप से चले। अध्ययन और क्रियानुष्ठान करते हुए छात्रो मे वे गुण स्वयमेव उत्पन्न होते चलते हैं, जिन्हें लक्ष्य बनाकर विद्यालय कार्य-प्रवृत्त होता है। फलतः इस अध्याय मे हम पाठ्यक्रम और सहगामिनी क्रियाओ की कुछ विस्तार के साथ चर्चा करने जारहे हैं।

पाठ्यक्रम का अर्थ

साधारणतया पाठ्यक्रम का अभिप्राय उन विभिन्न विषयो से होता है जो शिक्षा-संस्थाओ मे पढ़ाये जाते हैं। सामान्यतया उन विषयो के क्षेत्रो मे कुछ निश्चित पुस्तकीय ज्ञान प्रदान कर देना ही विद्यालयों का उद्देश्य समझा जाता है। किन्तु आधुनिक शिक्षा का क्षेत्र और अर्थ अत्यन्त व्यापक हो चला है अत पाठ्यक्रम का प्राचीन अर्थ भी बदल गया है। अब पाठ्यक्रम का अर्थ—अत्यन्त विस्तृत माना जाता है। आधुनिक पाठ्यक्रम मे वे सभी अनुभव सम्मिलित किये जाते हैं, जो छात्र विद्यालय के वातावरण से प्राप्त करता है। कोई भी अनुभव जो छात्र मे अन्तर्दृष्टि उत्पन्न करता है, उसके पाठ्यक्रम का अंग होता है। विद्यालय का सम्पूर्ण वातावरण—अध्ययन, क्रियाएँ तथा सम्पर्क—जो छात्रो के लिये उपस्थित किया जाता है, उसके पाठ्यक्रम के अन्तर्गत आता है।

पाठ्यक्रम का महत्त्व

शिक्षा के अचेतन साधनों मे पाठ्यक्रम का स्थान और महत्त्व सर्वोपरि है। बिना पाठ्यक्रम के न तो कोई शिक्षा-प्रणाली सफल हो सकती है और न कोई विद्यालय। शिक्षा कुछ विशिष्ट लक्ष्यो और उद्देश्यो की पूर्ति के लिये नियोजित होती है और उस पूर्ति का मार्ग पाठ्यक्रम प्रशस्त करता है।

पाठ्यक्रम-निर्धारण का उत्तरदायित्त्व

पाठ्यक्रम-निर्धारण समाज का उत्तरदायित्व है। समाज अथवा समाज के प्रतिनिधि—व्यवस्थापक अथवा उनके सहयोगी अध्यापक इस उत्तरदायित्त्व का निर्वाह करते हैं।

इस उत्तरदायित्व के निर्वाह मे वे विशेषज्ञो की सम्मतियो का सहारा भी लेते है परन्तु निर्णय का अन्तिम उत्तरदायित्व उन्हें ही उठाना पड़ता है। जनतन्त्रीय पद्धति मे ऐसा होना स्वाभाविक भी है।

पाठ्यक्रम-निर्धारण के आधार

१. सामाजिक आवश्यकताएँ—पाठ्यक्रम निर्धारण का एक आधार उस समाज की आवश्यकताएँ होती हैं, जिसमें बालक को विद्यालय से निकल कर अपना जीवन

विकास होगा। इस दृष्टि से विचार करने पर पाठ्यक्रम में कतिपय विषयों का
आवश्यक हो जाता है। वे विषय कौन-कौन से हों, और वे किस प्रकार
समाज के योग्य बनाते हैं, यह निम्नलिखित कथन से ज्ञात हो सकेगा—

(१) मनुष्य बुद्धि और वाणी से युक्त है। विकासक्रम में मनुष्य ने वा
सृजन और विकास किया है। वह अपनी वाणी और लेखनी द्वारा ज्ञान
व्यक्त कर सकता है, अपने अनुभवों को स्थायी रूप दे सकता है और अपनी
पूर्ण रूप दे सकता है। मानव-जाति का समस्त अर्जित और संचित ज्ञान
माध्यम से ही प्रसार और विकास प्राप्त करता है। भाषा के माध्यम से ही
दूसरों के ज्ञान और अनुभव का लाभ उठा सकता है और अपने ज्ञान और अनु
दूसरों को लाभ पहुँचा सकता है। भाषा के मौखिक और लिखित—दोनों ही रू
है। अतः इनका ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक होता है।
कारण है कि भाषा किसी भी पाठ्यक्रम का प्रमुख अंग होती है।

(२) व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहारों की सफलता के लिए यह आवश्
है कि व्यवहारकर्त्ता के चिंतन और अभिव्यंजन—दोनों बिलकुल यथार्थ और नपे-तु
हों। चिन्तन में अभीष्ट यथार्थता तथा नपा-तुलापन गणित के योग से उत्पन्न हो
है। गणित के योग से चिन्तन, बोध और अभिव्यंजन में सरलता एवं संक्षिप्तता
आजाती है। इसी उपयोगिता के कारण गणित को भी पाठ्यक्रम का अंग बनाया
जाता है।

(३) मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे समाज के नियमों के अनुसार
चलना पड़ता है। उसके लिए सामाजिक व्यवहार मे कुशल होना आवश्यक है। यह
तभी सम्भव है, जब वह अपने सामाजिक वातावरण; अर्थात्—आदर्शों, रीतियों,
परम्पराओं तथा परिस्थितियों आदि को समझे और अपने जीवन को उनके अनुकूल
बनाए। इसके लिये उसे सामाजिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होता है।
इस कारण इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र आदि
सामाजिक विषय पाठ्यक्रम के अंग बन जाते हैं।

(४) मनुष्य अपने भौतिक वातावरण को भी समझने का प्रयत्न करता है,
जिससे वह उसको नियन्त्रित रखता हुआ संतुलित एवं सफल जीवन यापन कर सके।
इस उद्देश्य के लिये उसे प्रकृति-विज्ञान के विषयों का ज्ञान आवश्यक हो जाता है।
आधुनिक उन्नत वैज्ञानिक युग मे इस ज्ञान की आवश्यकता और अधिक बढ़ गई है।
इसी कारण प्रकृति-विज्ञान पाठ्यक्रम में स्थान पाता है।

(५) मनुष्य ने विकासक्रम मे जीविकोपार्जन के विभिन्न मार्ग ढूंढ़ निकाले हैं।
प्रत्येक व्यक्ति के लिए जीवन-यापन के उद्देश्य से किसी न किसी व्यवसाय को ग्रहण
करना आवश्यक होता है अतः व्यावसायिक विषयों को भी पाठ्यक्रम मे स्थान दिया
जाता है।

(६) मनुष्य केवल मशीन नही है। उसके लिए अपने जीवन मे विनोद एवं उदात्त भावना को प्रश्रय देना आवश्यक है, उसके लिए अवकाश के समय का सदुपयोग करने की दृष्टि से यह भी आवश्यक है कि उसे अपने अवकाश के समय के सदुपयोग करने का साधन मिले। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न कलाएँ पाठ्यक्रम मे स्थान प्राप्त करती हैं।

(७) मनुष्य केवल मन ही नहीं, तन भी है। और यह भी सत्य है कि मन और तन—दोनो की स्वस्थता और अस्वस्थता एक-दूसरे को प्रभावित करती रहती है। इसी कारण "स्वस्थ तन मे स्वस्थ मन" और "स्वस्थ मन में स्वस्थ तन" ये कहावतें कही जाती हैं। तन को स्वस्थ रखने के लिए स्वास्थ्य-विज्ञान की जानकारी तथा नियमित व्यायाम आदि आवश्यक होते हैं। इसी उपयोगिता के कारण पाठ्यक्रम में स्वास्थ्य-विज्ञान एवं शारीरिक व्यायाम भी स्थान पाये रहते हैं।

(८) प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री डिवी के मतानुसार शिक्षा जीवन की तैयारी नहीं वरन् स्वयं जीवन है। उसके विचार मे शिक्षा अनुभव और जीवन—दोनों ही है अत. वे सभी अनुभव जो विद्यालय के वातावरण से प्राप्त होते हैं, पाठ्यक्रम के अग हैं। वे अनुभव वहाँ प्रस्तुत किए ही इसलिए जाते हैं कि वे छात्र के व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार के जीवनो के वर्तमान और भविष्य—दोनों कालो के लिए उपयोगी होते हैं।

२. मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ—उपरोक्त पाठ्यक्रम साधारणतया छात्र की सामाजिक आवश्यकताओं पर आधारित है किन्तु आधुनिक शिक्षा-शास्त्री इस आधार को अपर्याप्त मानते हैं। उनके विचार से पाठ्यक्रम-निर्धारण मे समाज और उसके वयस्क सदस्यों की आवश्यकता और विचारों को उतना महत्त्व नही मिलना चाहिए, जितना बच्चो की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता, अर्थात् आयु, योग्यता और रुचि को। आज की शिक्षा बाल-केन्द्रित है अतः पाठ्यक्रम भी इसके अनुसार ही बाल-केन्द्रित होना चाहिए। सभी विषय सभी बालकों को नही पढ़ाये जा सकते। बालको की व्यक्तिगत रुचि, योग्यता और आयु के अनुसार ही पाठ्यक्रम का विकास होना चाहिए। आरम्भ में मौखिक शिक्षा होनी चाहिए और उसे क्रमशः लिखित शिक्षा की ओर अग्रसर होना चाहिए। आरम्भ मे केवल अनुभव और निरीक्षण द्वारा शिक्षा देनी चाहिए और पुस्तकीय शिक्षा बाद मे आनी चाहिए। आरम्भ की शिक्षा क्रिया-प्रधान होनी चाहिए और बाद मे पुस्तको द्वारा। इस प्रकार के पाठ्यक्रम का उद्देश्य बालक के व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास में सहायता प्रदान करना है। पाठ्यक्रम बालक के लिए है, बालक पाठ्यक्रम के लिए नहीं। पाठ्यक्रम ऐसा नही होना चाहिए कि बालक के लिए बोझ हो जाए और उसके स्वाभाविक विकास को अवरुद्ध कर उसके व्यक्तित्व को विकृत कर दे। सभी छात्र समान योग्यता और समान बुद्धि के नहीं होते। व्यक्तिगत विभिन्नताओं का ध्यान पाठ्यक्रम-निर्धारण मे अवश्य होना चाहिए। पाठ्यक्रम प्रगतिशील, विस्तृत और उपयोगी होना चाहिए।

है । पाठ्यक्रम — [illegible] विचारधाराओं के अनुसार [illegible] के [illegible] होनी चाहिए । [illegible] आवश्यक है । [illegible] माध्यमिक शिक्षा आयोग [illegible] (१९५२-५३) ने [illegible] पाठ्यक्रम-निर्माण के [illegible] निर्धारित इस से किया है -

(१) यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि आधुनिक उद्देश्य की विचारधारा के अनुसार पाठ्यक्रम का अर्थ केवल वे पुस्तकीय विषय ही नहीं हैं जो कक्षाओं में विद्यार्थियों को पढ़ाये जाते हैं । पाठ्यक्रम में वे सभी अनुभव सम्मिलित होते हैं, जिन्हें बालक विद्यालय में रहते हुए विभिन्न क्रियाओं के द्वारा कक्षा में, पुस्तकालय में, प्रयोगशाला में, कार्यशाला में, विद्यालय के क्रीड़ा क्षेत्र में और कक्षा एवं छात्र के अनेक अनौपचारिक सम्पर्कों में प्राप्त करता है ।

(२) पाठ्यक्रम में विविधता और लचक होनी चाहिए ताकि इसके सहारे विभिन्न रुचियों और योग्यताओं के बच्चों को अपनी रुचि और क्षमता के अनुसार पाठ्यक्रम चयन करने की सुविधा हो । जीवन-यापन के लिए सामान्य ज्ञान, क्षमता और व्यवहार कुशलता का ज्ञान जो सभी व्यक्तियों के लिए आवश्यक है और उसको दिया जाना चाहिए, किन्तु इसके भी बच्चों से समान सफलता प्राप्ति की आशा नहीं करनी चाहिए ।

(३) पाठ्यक्रम सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग और उसके घनिष्ठ सम्पर्क में होना चाहिए । बालक को समाज का एक उत्पादक घटक बनाना है । स्थानीय आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार पाठ्यक्रम में उन विषयों का ज्ञान होना आवश्यक है, जिसे प्राप्त कर छात्र समाज में अपनी जीविका कमा सकें और समाज का कल्याण कर सकें ।

(४) पाठ्यक्रम का निर्माण इस दृष्टिकोण से किया जाय कि वह छात्र को केवल व्यवसाय का ही प्रशिक्षण न दे वरन् उसे अवकाश के क्षणों का सदुपयोग करने के लिए समर्थ भी बनावे । इस उद्देश्य से स्कूल में सामाजिक, शारीरिक और सौन्दर्यानुभूति-सम्बन्धी विभिन्न क्रियाओं का समावेश होना आवश्यक है ।

(५) पाठ्यक्रम के विषय असम्बन्धित और अन्य विषयों से सर्वथा अलग नहीं होने चाहिए । सम्पूर्ण ज्ञान एक है, अतः पाठ्यक्रम के विभिन्न विषयों में सहसम्बन्ध होना चाहिए ।

प्रचलित पाठ्यक्रमों के दोष

पाठ्यक्रम-विषयक आधुनिक विचारधारा के प्रकाश में जब हम अपने विद्यालयों के आधुनिक पाठ्यक्रम का समीक्षण करते हैं, तो हमें वर्तमान पाठ्यक्रम में अनेक त्रुटियाँ और अभाव दिखाई पड़ते हैं । यही कारण है कि वर्तमान शिक्षा की आलोचना

सभी ओर से हो रही है और पाठ्यक्रम को पुनः-सगठित करने की माँग की जा रही है। माध्यमिक-शिक्षा-कमीशन ने माध्यमिक विद्यालयो के वर्तमान पाठ्यक्रमो में निम्नांकित दोषो को इगित किया है। ये न्यूनाधिक परिवर्तनो के साथ हमारी सम्पूर्ण शिक्षा-प्रणाली मे व्याप्त हैं :—

(१) वर्तमान पाठ्यक्रम सकुचित है। प्राथमिक और माध्यमिक स्तर का अधिकांश पाठ्यक्रम, अब भी इसी उद्देश्य से चल रहा है कि उन स्तरो की परीक्षाएँ पास कर छात्र कालेजो की शिक्षा प्राप्त कर सकें और डिग्रियाँ लेकर नौकरियो की तलाश करें।

(२) पाठ्यक्रम में पुस्तकीय ज्ञान और सैद्धान्तिक बातों पर ही विशेष बल है। यह त्रुटि भी उच्च शिक्षा पर अधिक बल देने ही के कारण है। इसके परिणामस्वरूप विद्यालयों के पाठ्यक्रम मे विषय और विषय-वस्तु की बहुलता होगई है।

(३) पाठ्यवस्तु मे अनावश्यक विस्तार रख दिया गया है। जीवन से असम्बन्धित और नीरस विषय-वस्तु केवल स्मरण-शक्ति पर बोझ हो रही है। वास्तविक जीवन मे उसका कोई उपयोग नहीं हो पा रहा है।

(४) प्रायौगिक क्रियाओ के लिए पाठ्यक्रम मे बहुत कम सुविधाएँ प्रदान की गई हैं।

(५) वैयक्तिक विभिन्नताओ का ध्यान नहीं रखा गया है। रुचि-वैचित्र्य स्वाभाविक है किन्तु पाठ्यक्रम सभी छात्रों को एक ही मार्ग पर चलने के लिए बाध्य कर देता है। व्यक्तिगत विकास पर ध्यान कम रखा गया है। वास्तव मे पाठ्यक्रम मे व्यक्तिगत और सामाजिक विकासो का सतुलित समन्वय होना चाहिए।

(६) वर्तमान पाठ्यक्रम पर परीक्षा-प्रणाली का घातक प्रभाव पडता है। शिक्षा—शिक्षा के लिए न होकर, केवल परीक्षा के लिए होती है।

(७) प्राविधिक तथा व्यावसायिक विषयो का व्यवहारतः अब भी अभाव है। वर्तमान युग मे इन पर अधिक बल होना आवश्यक है।

सुधार के प्रयत्न

इन विभिन्न दोषो के कारण हमारे विद्यालयो का वर्तमान पाठ्यक्रम हमारे वर्तमान जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति नही कर पा रहा है। अनेक देशो मे पाठ्यक्रम निर्धारित करने का उत्तरदायित्व सरकार पर होता है, विशेषकर माध्यमिक स्तर तक। हमारे भारत मे भी अभी यही परम्परा चल रही है और राज्य के शिक्षा-विभागो द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम ही माध्यमिक स्तर तक चल रहे हैं अथवा राज्य-सरकार द्वारा सगठित कोई परिषद् इस कार्य को करती है। स्वतन्त्र भारत के सभी अभिकरण इस दिशा मे प्रयत्नशील हैं कि भारतीय विद्यालयो का पाठ्यक्रम वर्तमान भारत की राष्ट्रीय आकाक्षाओ और परिस्थितियो के अनुकूल पुनःसगठित किया जाय।

माध्यमिक-शिक्षा-कमीशन द्वारा प्रस्तुत पाठ्यक्रम

माध्यमिक-शिक्षा-कमीशन ने वर्तमान भारत की सामाजिक और ... आवश्यकताओं का विश्लेषण करके देश की सामर्थ्य और क्षमता को ध्यान में ... ए, जिस पाठ्यक्रम का सुझाव रखा है, उसकी रूपरेखा निम्नांकित है :—

...ाथमिक तथा जूनियर विद्यालय

(१) प्राथमिक विद्यालयों का पाठ्यक्रम क्रियाओं पर आधारित होना चा... योंकि राष्ट्र ने बुनियादी (बेसिक) शिक्षा योजना को स्वीकार कर लिया है। ...स स्तर पर बेसिक पाठ्यक्रम अथवा उससे मिलता-जुलता पाठ्यक्रम हो... ...ाचित है।

(२) मिडिल अथवा जूनियर हाईस्कूल अथवा सीनियर बेसिक विद्याल... ...ाठ्यक्रम प्राथमिक पाठ्यक्रम के विकास-क्रम में ही होना चाहिए, ताकि दोनों ... पाठ्यक्रम में असमानता न हो जाय। इस स्तर के शिक्षा-उद्देश्यों और आवश्यक... ...ा ध्यान रखते हुए निम्नलिखित पाठ्यक्रम रखा जाना चाहिए :—

(१) भाषाएँ, (२) सामाजिक अध्ययन, (३) सामान्य विज्ञान, (४) ग... ...५) कला और संगीत, (६) कौशल (क्राफ्ट), (७) शारीरिक शिक्षा।

भाषाओं में मातृभाषा, प्रादेशिक भाषा, संघीय भाषा और अंग्रेजी का... ...ो सकता है। अंग्रेजी ऐच्छिक भाषा हो सकती है। मातृभाषा के अतिरिक्त ...ो अन्य भाषायें पढ़ाई जानी चाहिए, जिससे पाठ्यक्रम बहुत बोझिल न हो... ...ाफ्ट का चुनाव स्थानीय आवश्यकता के अनुसार होना चाहिए।

...ाध्यमिक विद्यालय

इसी प्रकार कमीशन ने उच्च और उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों के ...निम्नांकित पाठ्यक्रम का सुझाव रखा है :—

[अ] (१) मातृभाषा अथवा प्रादेशिक भाषा अथवा मातृभाषा और प्राच्य ...ा सम्मिलित पाठ्यक्रम।

(२) निम्नाङ्कित भाषाओं में से कोई एक :—

(अ) हिन्दी (उनके लिए जिनकी मातृभाषा हिन्दी न हो);

(आ) प्रारम्भिक अंग्रेजी (उनके लिए जिन्होंने मिडिल स्तर अंग्रेजी नहीं पढ़ी है);

(इ) उच्च अंगरेजी (उनके लिए जो मिडिल स्तर पर अंगरेजी ... चुके हैं।)

(ई) एक आधुनिक भारतीय भाषा (हिन्दी को छोड़कर);

(उ) एक आधुनिक विदेशी भाषा (अंग्रेजी के अतिरिक्त);

[आ] (१) सामाजिक अध्ययन—सामान्य पाठक्रम (केवल प्रथम दो वर्षों मे),
(२) सामान्य विज्ञान, गणित-समेत—सामान्य पाठ्यक्रम (केवल प्रथम दो वर्ष मे)

[इ] निम्नाङ्कित कौशलो मे से एक कौशल (आवश्यकतानुसार बढ़ाया जा सकता है)

(१) कताई और बुनाई
(२) लकड़ी का काम
(३) धातु का काम
(४) बागवानी
(५) दर्जी का काम
(६) छपाई (Topography)
(७) वर्कशाप का अभ्यास
(८) सिलाई, कसीदाकारी और कढ़ाई का काम
(९) माडल बनाना (Modelling) ।

[ई] निम्नांकित वर्गों मे से किसी एक वर्ग के तीन विषय :—

वर्ग १—(साहित्यिक)

(अ) एक प्राच्य भाषा अथवा (अ) (२) से कोई तीसरी भाषा, जो पहले न ली गई हो ।
(आ) इतिहास :—
(इ) भूगोल
(ई) अर्थशास्त्र और नागरिक शास्त्र के तत्व-सिद्धान्त
(उ) मनोविज्ञान और तर्कशास्त्र के तत्व-सिद्धान्त
(ऊ) गणित
(ए) सगीत
(ऐ) गृह-विज्ञान ।

वर्ग २—(विज्ञान) :—

(अ) भौतिक विज्ञान

[illegible] ज्ञान (जीव-विज्ञान के साथ

महत्त्व के कारण

इन क्रियाओं के महत्व का कारण उनकी उपयोगिता और अनुभव प्रदान करने की क्षमता है। इन क्रियाओं से छात्र को मानसिक, बौद्धिक, नैतिक, शारीरिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास का अवसर प्राप्त होता। इनसे प्राप्त होने वाले अनेकानेक लाभों से कुछ का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जा रहा है :—

(१) विद्यालय समाज का लघु रूप है। इसमें होने वाली विभिन्न पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाओं द्वारा सामाजिक गुणों का विकास होता है। छात्र सामूहिक जीवन द्वारा सुनागरिकता का प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। सुनागरिक जीवन के लिये सहनशीलता, नेतृत्व, सहयोग, उदारता तथा न्याय आदि गुण परमावश्यक हैं। इनकी उत्पत्ति और वृद्धि पाठ्यक्रम-सहगामिनी-क्रियाओं द्वारा ही होती हैं।

(२) इन क्रियाओं द्वारा चारित्रिक प्रशिक्षण बहुत अच्छी तरह से दिया जा सकता है। मुदालियर-कमीशन-रिपोर्ट के अनुसार शिक्षा का महानतम उद्देश्य—चरित्र और व्यक्तित्व का प्रशिक्षण है, जिससे छात्र अपनी स्वाभाविक शक्तियों का चरम विकास प्राप्त करके समाज का कल्याण करने में सहयोग प्रदान कर सकें।

(३) शारीरिक विकास की दृष्टि से भी इन क्रियाओं का बड़ा महत्व है। स्वास्थ्य-वर्द्धक क्रियाएँ छात्रों के शरीर और मस्तिष्क को स्वस्थ रखती हैं। किसी भी राष्ट्र के लिये नागरिकों का स्वास्थ्य बहुमूल्य सम्पत्ति होता है।

(४) मानव-स्वभाव किसी भी कार्य में सदैव लीन रहने के प्रतिकूल है। वह परिवर्तन चाहता है। छात्र सदैव अध्ययन में ही लीन नहीं रह सकते, और खाली मस्तिष्क शैतान का घर होता है। अतः छात्रों के लिये पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाओं का होना आवश्यक हो जाता है, जिससे वे अपने अवकाश और समय का सदुपयोग कर सकें और अपने भविष्य जीवन के लिये उपयोगी ज्ञान प्राप्त कर सकें।

(५) इन क्रियाओं के द्वारा ही छात्रों में Esprit-de-Corps की भावना उत्पन्न होती है और वे अपने विद्यालय से प्रेम करने लगते हैं। अनुशासन, सगठन तथा सयम आदि नागरिक गुणों का विकास इन्हीं क्रियाओं द्वारा होता है।

क्रियाओं का वर्गीकरण

सभी पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाओं का वर्गीकरण भी साहित्यिक, सामाजिक, शारीरिक, मनोरंजनात्मक तथा प्रशिक्षणात्मक वर्गों में किया जा सकता है। किन्तु यह वर्गीकरण मुख्य उद्देश्य को दृष्टि में रखकर किया गया है, यों कुछ क्रियाएँ सभी वर्गों में सम्मिलित की जा सकती हैं। यथा—

साहित्यिक क्रियाएँ

साहित्यिक क्रियाओं में साहित्यिक गोष्ठी, वाद-विवाद, व्याख्यान, अन्त्याक्षरी, कवि-सम्मेलन, लेख-प्रतियोगिता, वाचनालय अध्ययन, विद्यालय-पत्रिका, भित्ति-पत्रिका,

भाषण-प्रतियोगिता एवं शैक्षिक पर्यटन आदि सम्मिलित किये जा सकते हैं। इन क्रियाओं का उद्देश्य छात्रों का मानसिक और बौद्धिक विकास करना होता है। पाठ्य-पुस्तकें केवल सिद्धान्तो का ज्ञान प्रदान कर सकती हैं किन्तु व्यावहारिक ज्ञान इन क्रियाओ द्वारा ही सम्भव है। इन क्रियाओ का उद्देश्य स्पष्ट रूप से छात्रों के सम्मुख होना चाहिए। इनका विषय पूर्व-निर्धारित होना चाहिये। उदाहरण के लिए, साहित्य-गोष्ठियो, वाद विवादों, लेख-प्रतियोगिताओ आदि मे विषयो के पूर्व-निर्धारित रहने से छात्रो को अध्ययन और मनन का अवसर मिलता है। वे उस विषय को व्यवस्थित रूप मे तैयार करते हैं और अनेक प्रकार की नवीन बातो को सीखते हैं। इन क्रियाओं द्वारा छात्रो मे आत्माभिव्यजन की क्षमता उत्पन्न होती है। भाषण देना एक कला है और आधुनिक जनतन्त्रीय युग मे इसका महत्व अवर्णनीय है। यह देखा गया है कि जो छात्र अपने छात्र-जीवन मे अच्छे वक्ता होते हैं, वे ही नागरिक जीवन मे सफल नेता होते है। वे छात्र-जीवन मे भाषण-कला का अभ्यास कर लेते हैं और आगे चल कर किसी सभा मे बोलने मे नहीं हिचकते।

अन्त्याक्षरी, कवि-सम्मेलन और पर्यटन आदि का साहित्यिक महत्व तो है ही, किन्तु उनका सास्कृतिक महत्व भी कम नहीं है। इनसे बुद्धि और चातुर्य का विकास तो होता ही है, साथ ही साथ हमारी रागात्मक प्रवृत्तियो को पोषक तत्व प्राप्त होता है। सौन्दर्यानुभूति का अनुभव काव्य द्वारा ही सम्भव है। कवि-सम्मेलनो मे प्रोत्साहन प्राप्त कर अनेक छात्र भविष्य मे अच्छे कवि बन जाते हैं। छात्रो की आन्तरिक प्रवृत्तियो के विकास और अभिव्यजन का जितना अवसर इन क्रियाओ द्वारा प्राप्त होता है, उतना पुस्तकीय पाठ्यक्रम द्वारा कभी सम्भव नही होता।

सामाजिक क्रियाएँ

पाठ्यक्रम-सहगामिनी सामाजिक क्रियाओ मे समाज-सेवा, श्रमदान, स्वशासन, पर्वोत्सव, वार्षिक दिवस, विद्यालय-सप्ताह अभिनय तथा फिल्म-प्रदर्शन आदि सम्मिलित किये जा सकते हैं। इन क्रियाओ द्वारा छात्र समाज के सम्पर्क में आते हैं और सामूहिक जीवन का अनुभव प्राप्त करते हैं। छात्रों पर समाज का ऋण होता है, क्योकि समाज उनकी शिक्षा की व्यवस्था करता है। विद्यार्थियो को इस भावना का बोध कराने के लिये प्राचीन काल मे भिक्षाचरण पाठ्क्रम का एक अनिवार्य अग था। आधुनिक काल मे ऐसी परम्परा नहीं है। किन्तु आधुनिक काल मे समाज-सेवा पर बल दिया जा रहा है। छात्रो के दल गाँवो मे जाकर साक्षरता का प्रचार, सफाई, सडको, तालाबों, कुओ तथा बाँधो का निर्माण, फसल की बुवाई और कटाई; रोगो की रोकथाम के उपाय करना और औषधि-वितरण आदि कार्यों मे सहयोग प्रदान कर रचनात्मक कार्य करते हैं और इस प्रकार उनमे समाज के कल्याण और सेवा की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। स्वतन्त्र भारत मे विद्यालय के छात्रो ने ग्रामीण जनता के सहयोग से इस दिशा मे प्रशंसनीय कार्य किया है। सामूहिक उत्सवो, मेलों और

शारीरिक-प्रशिक्षण (ड्रिल) भी प्रत्येक प्राथमिक एवं माध्यमिक विद्यालय में अनिवार्य होना चाहिये। इसके द्वारा शरीर के विभिन्न अवयवों का व्यायाम होता है और छात्रों को स्वास्थ्य, सुडौलता तथा शरीर-नियन्त्रण की शक्ति प्राप्त होती है। विद्यालय की समय-सारिणी में इसका प्रबन्ध किया जाना चाहिए। प्रत्येक कक्षा का कुछ निश्चित समय पी०टी० के लिये होना चाहिए। ड्रिल का समय इस प्रकार निश्चित करना चाहिए कि वह भोजन के समय से पर्याप्त दूर पड़े। भोजन करके आए हुए छात्रों से ड्रिल कराना हानि के अतिरिक्त और क्या करेगा ? कभी-कभी समस्त छात्रों की सामूहिक ड्रिल भी होनी चाहिए। इस कार्य के लिए एक विशेष पी० टी० निर्देशक तो रहता ही है, किन्तु सभी अध्यापकों को इसका प्रशिक्षण मिलना चाहिए ताकि अवसर आ पड़ने पर वे स्वयं अपनी कक्षाओं की ड्रिल करा सकें।

५ मनोरंजनात्मक क्रियाएँ

व्यसनों (Hobbies), उल्लास-यात्राओं, वन-विहारों तथा अभिनयों आदि के आयोजन को मनोरंजनात्मक क्रियाओं में गिना जा सकता है। धीरे-धीरे ये सभी विद्यालयों की अंग बनती चली जा रही हैं। इनका प्रकट उद्देश्य तो मनोरंजन होता है परन्तु इनका शैक्षणिक महत्त्व भी कम नहीं होता। ये विद्यालय-जीवन से थकान तथा नीरसता को दूर करके छात्रों में नई स्फूर्ति और शक्ति भर देते हैं। इनके आयोजन से सहयोग आदि सामाजिक गुणों का भी विकास होता है।

Hobbies—प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिये फोटोग्राफी, और चित्रकला आदि में से कोई न कोई व्यसन पसन्द कर लेना चाहिये। इससे अवकाश के समय का सदुपयोग होता है और मनोरंजन का मार्ग निकल आता है। छात्रों को विभिन्न रुचिकर Hobbies के लिये प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। उन्नत देशों में इसका अधिक प्रचार है। इन कार्यों द्वारा मानसिक, शारीरिक तथा सांस्कृतिक विकास प्राप्त किया जा सकता है। जीविका के मुख्य साधन के नष्ट हो जाने पर कभी-कभी ये व्यसन जीविका के उपयोगी साधन बन जाते हैं।

६ प्रशिक्षणात्मक क्रियाएँ

स्काउटिंग, एन० सी० सी०, ए० सी० सी०, तथा रेडक्रॉस आदि से सम्बद्ध क्रियाओं को प्रशिक्षणात्मक क्रियाओं में रखा जा सकता है। इनका प्रयोजन छात्र में विशेष प्रकार की अभिरुचियाँ तथा योग्यताएँ उत्पन्न करना होता है और इस लक्ष्य से उनको विधिवत् प्रशिक्षण दिया जाता है।

स्काउटिंग (बालचर) तथा गर्ल गाइड—आधुनिक समय में चारित्रिक शिक्षा एवं नागरिकता की शिक्षा देने के लिये बालचर संस्था तथा गर्ल-गाइड संस्था से अधिक प्रभावशाली आन्दोलन अन्य कोई नहीं है। यह सभी अवस्था के छात्रों तथा छात्राओं के लिये लाभदायक है। इनके द्वारा छात्र एवं छात्राएँ चारित्रिक विकास का अवसर

प्राप्त करते हैं। वे स्फूर्ति, सेवा, कर्मठता, कार्यक्षमता, चतुरता, विनय और अनुशासन आदि गुणो का उपार्जन करते हैं। "इनको विभिन्न प्रकार की खेल कूद क्रियाओ के आधार पर व्यावहारिक बुद्धि, समाज सेवा, उत्तम व्यवहार, नेताओ के प्रति श्रद्धा, राज्य के प्रति भक्ति, और किसी भी परिस्थिति का मुकाबला करने की शक्ति के आदर्शों की आधारशिला रखना सम्भव है।"—(मुदालियर कमीशन) प्रत्येक विद्यालय मे इन संस्थाओ की शाखाएँ होनी चाहिए। छात्रो के लिये स्काउटिंग शिविरो का आयोजन होना आवश्यक है। इनसे बड़ा भारी लाभ होता है। वास्तविक परिस्थितियो मे रहते हुए छात्र एवं छात्राएँ शिविर-जीवन मे उपयोगी अनुभव प्राप्त करते हैं। सस्था के नियमो को यदि पूर्णत. पालन किया जाए, तो बालचर से बढकर उत्तम नागरिक कोई अन्य हो ही नहीं सकता। इधर ५० वर्षों मे इस आन्दोलन का प्रचार भारत मे बहुत हुआ है। किन्तु इस पर अधिक ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है।

ए० सी० सी० और एन० सी० सी०—इनका प्रचार अभी हाल मे बढ़ा है। नागरिको को आवश्यकता पडने पर देश और राष्ट्र के लिए युद्ध करना पड सकता है अतः नागरिक जीवन मे सैनिक शिक्षा भी आवश्यक है। छात्रो को सैनिक शिक्षा देने के उद्देश्य से ए० सी० सी० और एन० सी० सी० का विकास हुआ। इनके द्वारा भी चारित्रिक, शारीरिक और मानसिक विकास होता है। छात्रो मे अनुशासन और नेतृत्व शक्ति का विकास करने मे इन क्रियाओ से बडी सहायता मिलती है। छात्रो को इनके अन्तर्गत परेड तथा अन्य शारीरिक काम करने पडते हैं। देश-प्रेम और सेवा-भावना की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन प्राप्त होता है। ए० सी० सी० और एन० सी० सी० के छात्रो ने अपने श्रमदान द्वारा देश-हित के अनेक प्रशसनीय कार्य किये हैं।

इन क्रियाओ के व्यावहारिक प्रशिक्षण के लिये इनके वार्षिक शिविरो का आयोजन किया जाता है और क्रियात्मक क्रियाओ द्वारा नागरिकता एव सैनिक-जीवन की शिक्षा दी जाती है। लडकियों के लिये भी सैनिक शिक्षा की योजना चालू कर दी गई है। सरकार और जनता के सहयोग से अधिकाधिक शिक्षा-सस्थाओ मे इनकी शाखाएँ खुलती जा रही हैं।

रेडक्रास—यह एक अन्तर्राष्ट्रीय सस्था है। विद्यालयो मे जूनियर रेडक्रास सोसाइटी की शाखाएँ होती हैं। इनका उद्देश्य दुखो और पीडित मानवता की सहायता और सेवा करना है। विपद्ग्रस्त मानव को भोजन-वस्त्र और दवाएँ पहुँचाने का कार्य रेडक्रास सस्था करती है। अन्तर्राष्ट्रीय रेडक्रास सस्था का व्यय चन्दे द्वारा चलता है। विद्यार्थी इसमे पर्याप्त सहयोग दे सकते हैं। स्वास्थ्य और स्वच्छता का प्रचार कर रेडक्रास के छात्र देश और राष्ट्र का महान् हित कर सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय होने के नाते इसके द्वारा छात्रो मे विश्व-बन्धुत्व की भावना का प्रचार भी हो [illegible]

विद्यार्थियों की कठिनाई और कार्य

इसके ऊपर विभिन्न पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाओं का उल्लेख किया है। [illegible] क्रियाओं के महत्व के विषय में भी हम कह चुके हैं। यह आवश्यक नहीं है कि ये क्रियाएँ किसी एक ही विद्यालय में आयोजित की जा सकें। किन्तु प्रत्येक विद्यालय इनमें से अधिक से अधिक क्रियाओं को स्थान देने का प्रयत्न करना चाहिए। [illegible] की मुख्य कठिनाई इस दिशा में धनाभाव, स्थानाभाव और समयाभाव के कारण है। किन्तु इनके महत्व को देखते हुए प्रत्येक विद्यालय का कर्तव्य है कि अपनी और सुविधा के अनुसार कम से कम इतनी पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाओं का आयोजन करे कि विद्यालय का प्रत्येक छात्र किसी न किसी क्रिया में भाग ले सके। धनाभाव को अभिभावकों और सरकार की सहायता से दूर किया जा सकता है। स्थानाभाव भी जनता और सरकार की सहायता से दूर हो सकता है। किन्तु समयाभाव की समस्या अध्यापकों से सम्बन्ध रखती है। अध्यापकों को इन क्रियाओं में अधिक दिलचस्पी लेनी चाहिए और छात्रों के हित में अधिकाधिक सफलता से इन क्रियाओं का संगठन करना चाहिये।

उपसंहार

यदि उचित संगठन और संचालन न हुआ तो इन क्रियाओं से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होगी। अनेक लोगों को अब भी शंका रहती है कि इन क्रियाओं के कारण अध्ययन में विघ्न पड़ता है और छात्रों का अमूल्य समय नष्ट होता है। अध्यापक भी कहते हैं कि इन क्रियाओं के कारण उनका कार्यभार बढ़ जाता। किन्तु सत्य तो यह है कि इन क्रियाओं द्वारा हम समुन्नत नागरिक उत्पन्न कर सकते हैं। विनय और अनुशासन की अनेक समस्याएँ इनके आयोजन से स्वतः सुलझ जायँगी और छात्रों तथा अध्यापकों—दोनों ही को इनसे बहुत लाभ होगा। प्रत्येक अध्यापक के ऊपर किसी न किसी पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रिया का भार होना चाहिये। इस प्रकार भार का बँटवारा हो जाने पर कार्य सुगमता से हो सकता है। छात्रों को इन क्रियाओं के संगठन में सम्मिलित करना आवश्यक है। जैसा कहा जा चुका है, इन क्रियाओं का संगठन प्रजातन्त्रीय प्रणाली द्वारा होना चाहिए, जिससे छात्र नागरिक-जीवन के उत्तरदायित्वों, अधिकारों और कर्त्तव्यों से भली प्रकार परिचित हो जायँ।

११

विद्यालय के अचेतन साधन—४

समय-विभाग

अध्याय-सक्षेप :—

प्रस्तावना; समय-विभाग का अर्थ एव महत्व, समय-विभाग-निर्माण के सिद्धान्त—(१) समय-विभाग बाल-केन्द्रित हो; (२) समय का सदुपयोग हो; (३) पाठ्य-वस्तु का मनोवैज्ञानिक वितरण हो ; (४) अध्यापकों की सुविधा पर ध्यान रहे; (५) सरलता और स्पष्टता भी; (६) व्यावहारिकता ध्यान मे रहे, समय-विभाग का पालन; दो प्रकार के समय-विभाग—(क) नवीन पद्धतियों मे, (ख) आदर्श समय-विभाग; उपसहार।

प्रस्तावना

विद्यालय एव छात्रावास मे रहते हुए छात्रो को क्या सीखना है, और क्या करना है ? यह पिछले अध्याय मे विचार किया जा चुका है। सभी विषय एक साथ नहीं पढ़ाये जा सकते और न सब क्रियाएँ ही एक साथ कराई जा सकती हैं अतः अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उनके पढ़ाने और कराने मे क्या क्रम रहे और किस-किस को किस-किस समय और कितनी देर तक पढ़ाया या कराया जाए ? इसी प्रसग मे यह भी प्रश्न उठता है कि इन प्रश्नो के उत्तर के पीछे क्या-क्या सिद्धान्त काम कर रहे हैं ? इन तथा ऐसे ही प्रश्नो का उत्तर इस अध्याय मे दिया जायगा।

समय-विभाग का अर्थ एवं महत्त्व

अर्थ—विभिन्न विषय एवं क्रियाएँ किस-किस समय, कितनी-कितनी देर तक पढ़ाए या कराए जाने को हैं—इस बात के लेखे को 'समय-विभाग' कहते हैं। प्रत्येक

विद्यालय में इस प्रकार का एक-एक समय-विभाग होता है। इसके लिए उचित सिद्धान्तों के आधार पर बना है या नहीं? यह अलग प्रश्न है, परन्तु [illegible] आवश्यक है।

महत्व— पाठ्यक्रम का संचालन तथा पाठ्यान्तर क्रियाओं के संगठन द्वारा और इस प्रकार विद्यालय के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए एक निश्चित सुनियोजित, सुव्यवस्थित मनोविज्ञान एवं स्वास्थ्य विज्ञान के उचित सिद्धान्तों पर आधारित और सर्वांगीण समय-विभाग द्वारा आवश्यक होता है। इसके बिना विद्यालय एक संगठन न रहकर एक भीड़ बन जाता और उसके कार्यों की क्रिया सुव्यवस्थित रूप से न चल सकती। उसका दोषपूर्ण समय-विभाग भी विद्यालय के उद्देश्यों को प्राप्त कराने में सफल न हो सकता। यदि वह समय-विभाग [illegible] विज्ञान के सुनिश्चित सिद्धान्तों पर आधारित न हुआ, तो उससे काम भले चलता रहे परन्तु छात्रों और अध्यापकों को शक्ति, धन और समय के व्यय का पूरा फल नहीं मिल सकेगा। उचित प्रकार के समय-विभाग से रहित विद्यालय में रहकर छात्रों को समय को योजना-पूर्वक बिताने का अभ्यास नहीं होता। इस कारण समय-विभाग ही नहीं, एक अच्छा समय-विभाग प्रत्येक विद्यालय की आधारभूत आवश्यकता होती है।

समय-विभाग-निर्माण के सिद्धान्त

समय विभाग बनाना प्रधानतः प्रधानाध्यापक का उत्तरदायित्व होता है। वह सहायता अन्य अध्यापकों की भी ले सकता है। समय-विभाग बनाते समय उसे अनेक बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। उसे इसके निर्माण में पाठ्यक्रम, सहगामिनी क्रियाओं, कक्षाओं, छात्रों, अध्यापकों तथा कर्मचारियों आदि सभी का ध्यान रखना चाहिए। उसका निर्माण करते समय प्रधानाध्यापक को निम्नलिखित सिद्धान्तों का ध्यान रखना चाहिए :—

(१) समय-विभाग बाल-केन्द्रित हो—आधुनिक शिक्षा बाल-केन्द्रित शिक्षा है, अतः समय विभाग भी बाल-केन्द्रित होना चाहिए। समय-विभाग बनाते समय छात्रों की आयु, योग्यता और रुचि का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। कम आयु के बच्चे शीघ्र थक जाते हैं, उनके समय-विभाग में इस सत्य का ध्यान आवश्यक है। पाठ्यक्रम के विभिन्न विषयों को बालकों की रुचि के अनुसार व्यवस्थित करने का प्रयत्न होना चाहिए। यदि अनेक विषयों के पढ़ने की सुविधा हो, तो समय-विभाग लचीला होना चाहिए, जिससे छात्र अपनी रुचि के क्रम से विषयों का अध्ययन कर सकें। बालक के स्वभाव तथा उनकी रुचियों और प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए जो समय-विभाग होगा, वह बालकों को अधिक पसन्द आयेगा और वे अधिक कार्य कर सकेंगे।

बालकों में कार्य करने की पर्याप्त क्षमता होती है। किन्तु वे लगातार एक ही प्रकार का कार्य देर तक नहीं कर सकते हैं। उनको शारीरिक और मानसिक थकान

उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। इस थकान के उत्पन्न होने के अनेक कारण होते हैं। उनके न जानने से हम बच्चों की स्वाभाविक थकान को भी शरारत समझ बैठते हैं और उनसे आशा रखते हैं कि वे प्रौढ़ों की भाँति आचरण करें। कुशल प्रधानाध्यापक बच्चों की इस प्रवृत्ति का जानकार होता है और समय-विभाग का इस प्रकार निर्माण करता है कि बच्चों में थकान नहीं उत्पन्न होने पाती। थकान से अरुचि उत्पन्न होती है और अरुचि न होने देने की दवा है—कार्य-परिवर्तन। आधुनिक मनोविज्ञान एक अति उन्नत विज्ञान है। अरुचि और थकान के कारणों पर पर्याप्त शोध-कार्य हुआ है। मनोविज्ञान ने इसका पता लगा लिया है कि विभिन्न आयु-वर्गों के बच्चे कितने समय तक एकाग्र मन से किसी कार्य को कर सकते हैं। चतुर अध्यापक और प्रधानाध्यापक इन खोजों से लाभ उठाते हैं और अपने समय-विभाग में कार्य-परिवर्तन का विशेष ध्यान रखते हैं। अध्ययन के लिए निश्चित अन्तरों के बीच में कुशल प्रधानाध्यापक कुछ शारीरिक व्यायाम आदि भी रख देते हैं। विशेष कर छोटी आयु के बच्चों का समय-विभाग अत्यन्त रोचक होना चाहिए; जिससे उनकी स्फूर्ति और रुचि जागृत बनी रहे। क्रमशः अभ्यास बढ़ने के साथ-साथ बच्चे अधिक समय तक एकाग्र चित्त से कार्य करने के अभ्यस्त हो जाते हैं। समय-विभाग न तो इतना जटिल हो कि बच्चे विद्यालय को कारागार समझने लगें और न इतना ढुलमुल हो कि वह उनके समय और जीवन को व्यर्थ नष्ट करे। अधिकतर बालक स्वयं स्वभावतः निश्चित, नियमित और व्यवस्थित कार्य-पद्धति पसन्द करते हैं।

(२) समय का सदुपयोग हो—छात्र जीवन का प्रत्येक क्षण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं अनेक सम्भावनाओं से पूर्ण होता है। विद्यालय का कर्त्तव्य है कि वह छात्र को विभिन्न क्रियाओं में व्यस्त रखे और उसके अमूल्य समय को नष्ट न होने दे। समय-विभाग में इसका विशेष ध्यान रखना चाहिए कि छात्र अपने प्राप्य समय में शिक्षा का अधिक से अधिक लाभ उठा सके। विद्यालय में शिक्षण-कार्य वर्ष में कितने दिन होगा, कितनी छुट्टियाँ होंगी, प्रतिदिन कितना समय उपलब्ध होगा आदि बातें प्रायः शिक्षा-विभाग अथवा राज्य सरकारें नियत करती हैं। प्रधानाध्यापक को समय-विभाग बनाते समय इन सभी बातों की गणना कर लेनी चाहिए। समय-विभाग में स्थानीय जन-जीवन, जलवायु की दशा तथा स्थानीय व्यवसाय आदि का भी ध्यान रखना आवश्यक है। मुदालियर-कमीशन-रिपोर्ट के अनुसार विद्यालय में शिक्षण-कार्य वर्ष में २०० दिनों से कम नहीं होनी चाहिए। शिक्षा-विभाग के नये आदेश के अनुसार कार्य-दिनों की संख्या २२० निर्धारित करदी गई है। प्रति सप्ताह कम से कम ३५ अन्तर शिक्षण-कार्य होना चाहिए और प्रत्येक अन्तर ४५ मिनट का होना चाहिए। इसमें विद्यालय की पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाएँ भी सम्मिलित हैं। विद्यालय-कार्य नियमित रूप से सप्ताह में ६ दिन होना चाहिए। इसमें एक दिन अर्ध-दिवस होना चाहिए ताकि शेष समय में छात्र और अध्यापक पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाओं पर विशेष ध्यान दे सकें। विद्यालय में दो माह का ग्रीष्मावकाश तथा दस-दस या पन्द्रह-पन्द्रह दिवस के

दो अवकाश उचित समय पर बीच में होने चाहिए। दिन छुट्टियाँ कम से कम कर देनी चाहिए। इन बातों का उचित ध्यान रखकर जो समय उपलब्ध है, उसे विभिन्न विषयों को पाठ्य सामग्री की कठिनता के अनुसार आनुपातिक विभक्त कर दिया जाना चाहिए।

(३) पाठ्यवस्तु का मनोवैज्ञानिक वितरण हो—समय-विभाग में विभिन्न विषयों का स्थान मनोवैज्ञानिक आधार पर होना चाहिए। सभी विषय श्रम-साधना की दृष्टि से समान नहीं होते। उनकी प्रकृति में भिन्नता पाई जाती है। कुछ विषयों के अध्ययन में अधिक मानसिक श्रम करना पड़ता है और कुछ में अपेक्षाकृत कम। उदाहरणार्थ—गणित कठिन विषय है और विशेष मानसिक श्रम चाहता है। मनोवैज्ञानिकों ने विद्यालय में पढ़ाये जाने वाले विषयों की प्रकृति के आधार पर उनका क्रम इस प्रकार रखा है—गणित, भाषाएँ, भौतिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञान और कला-कौशल (क्राफ्ट) आदि।

विषयों के मनोवैज्ञानिक आधार के साथ छात्रों के मनोवैज्ञानिक आधार का संतुलन करने से समय-विभाग उत्तम बन सकता है। मानसिक श्रम थकावट उत्पन्न करता है। जो विषय अधिक मानसिक श्रम चाहते हैं, उनको ऐसे समय रखना चाहिए जबकि छात्रों के मस्तिष्क ताजे हों। इसी प्रकार मिले हुए अन्तरों में कठिन विषय नहीं होने चाहिए। कठिन और सरल विषय एक-दूसरे के बाद आते रहें, तो थकावट कम होगी। इसी आधार पर मौखिक और लिखित कार्य भी बारी-बारी से आने चाहिए। प्रातःकाल का विद्यालय-समय ग्रीष्म और बरसात में अच्छा रहता है क्योंकि इन ऋतुओं में उसी समय छात्रों का ध्यान अध्ययन में अधिक केन्द्रित हो सकता है। किन्तु जाड़ों में दिन का समय उत्तम होता है। रुचि के विचार से प्रथम अन्तर साधारण रहता है क्योंकि छात्र घर से अथवा छात्रावास से आकर शीघ्र अध्ययन में लीन नहीं हो पाते हैं। द्वितीय और तृतीय अन्तरों में उनकी शक्तियाँ खुल जाती हैं अतः वे बहुत अच्छे माने जाते हैं इसी प्रकार विद्यालय के अन्तिम अन्तर तक छात्र थकावट का अनुभव करने लगते हैं। इनमें कठिन विषय नहीं रखने चाहिए। प्रत्येक दो अन्तरों के बाद कुछ अन्तराल (Recess) होना चाहिए। बीच में मुख्य अन्तराल कुछ बड़ा होना चाहिए। इन अवकाशों में छात्र फिर से ताजे हो जाते हैं। सोमवार और शनिवार के दिन छुट्टी के आगे और पीछे होने के कारण विशेष उत्तम नहीं माने जाते। प्रथम में छात्रों की शक्तियाँ पूरी तरह खुल नहीं पातीं और द्वितीय में छुट्टी की आशा में उनमें शिथिलता आ जाती है। इसलिए मंगलवार और बुधवार सर्वोत्तम होते हैं और वृहस्पतिवार और शुक्रवार साधारण। समय-विभाग में कार्य-भार का वितरण करते समय उपरोक्त मनोवैज्ञानिक तथ्यों को ध्यान में रखना उचित है।

(४) अध्यापकों की सुविधा पर भी ध्यान रहे—समय-विभाग में केवल छात्रों और पाठ्यक्रम के दृष्टिकोणों का ध्यान रखना ही यथेष्ट नहीं है। अध्यापकों के साथ

भी उचित न्याय होना चाहिए। अध्यापकों पर यथासाध्य कार्यभार का वितरण समान होना चाहिए। अध्यापकों को कार्य वितरित करते समय उनकी योग्यता, अनुभव, रुचि और कार्य-क्षमता का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। विद्यालय मे उपलब्ध अध्यापकों का समय-विभाग पर गहरा प्रभाव पड़ता है। सिद्धान्त रूप से सभी अध्यापकों पर कार्य-भार समान होना चाहिए किन्तु यह सम्भव नहीं हो पाता क्योंकि विशेष विषयों की प्रकृति पर बहुत कुछ निर्भर रहेगा। यदि गणित के अध्यापक को विद्यालय का कार्य आरम्भ करने के समय से लेकर अन्त तक निरन्तर विभिन्न कक्षाओं को गणित ही पढ़ना पड़े, तो वह थक जायगा और उसकी कार्य-क्षमता मे कमी आ जायगी। अतः उसे कुछ दूसरे सरल विषय भी पढ़ाने को दिये जाने चाहिए। यदि ऐसा न हो, तो उसे कुछ अधिक रिक्त समय मिलना चाहिए। इसी प्रकार भाषा-शिक्षक के पास त्रुटि-संशोधन का कार्य अधिक रहता है। उसे भी संशोधन-कार्य के लिए रिक्त समय मिलना चाहिए। यदि अध्यापकों की नियुक्ति करते समय यह ध्यान रखा जाय कि ऐसे ही अध्यापक नियुक्त किये जाएँ, जो कम से कम दो विषय अच्छे प्रकार पढ़ा सकें, तो अध्यापकों के लिए सुविधाजनक समय-विभाग सरलता से बन सकता है।

कुछ राज्यों मे शिक्षा-विभाग समय-विभाजन के सिद्धान्त भी स्थिर कर देते हैं और प्रधानाध्यापक उसके अनुसार विद्यालय का कार्यक्रम निश्चित कर देता है। प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार प्रधानाध्यापक तथा अध्यापकों को इस दिशा मे अधिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। स्थानीय आवश्यकताओं, अपने अध्यापकों की संख्या और योग्यता, छात्रों की संख्या, विद्यालय-भवन तथा उपलब्ध साज-सज्जा आदि के अनुसार प्रधानाध्यापक को समय-विभाग निर्धारित करने की छूट होनी चाहिए। प्रधानाध्यापक को विभिन्न विषयों के अध्यापकों को भी स्वतन्त्रता देनी चाहिए कि वे अपने विषय के लिये प्राप्य समय को अपनी विषय-वस्तु के अनुसार विभाजित करलें। प्रत्येक अध्यापक को किसी न किसी अन्तर मे विश्राम का समय भी होना चाहिए।

(५) सरलता एवं स्पष्टता भी—समय-विभाग इतना सरल होना चाहिए कि छात्र एवं अध्यापक सुगमता से उसे समझ सकें और उसके अनुसार आचरण कर सकें। किस अन्तर मे कौनसा विषय किस कक्षा में पढ़ाया जायगा, इसका उसमे स्पष्ट उल्लेख रहना चाहिए। यदि समय-विभाग जटिल हो और एक ही विषय विभिन्न कक्षों मे रख दिया जाय, तो छात्रों को भ्रम हो सकता है और उनका समय इधर-उधर व्यर्थ चक्कर काटने मे नष्ट हो जाता है। यदि एक ही अन्तर मे विभिन्न दिन विभिन्न विषय रख दिये जायँ, तो भी छात्र स्मरण नहीं रख पाते और वे आवश्यक पुस्तकें नहीं लाते। इन बातों से अध्ययन मे व्यवधान उपस्थित होता है। इस कारण समय-विभाग सरल होना चाहिए जिससे उसके समझने और स्मरण रखने मे कठिनाई न हो। समय-विभाग में विद्यालय आरम्भ होने के समय से लेकर उसके समाप्त होने के समय तक की अवधि में होने वाली प्रत्येक क्रिया का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए और उसकी

उपसंहार

समय-विभाग निर्माण के लिए जितनी बातें आवश्यक हैं, उनकी चर्चा इस
अध्याय मे की जा चुकी है। आदर्श समय-विभाग—आदर्श परिस्थितियो मे ही बन
सकता है। अभिभावको तथा शिक्षा-विभागो की निर्धनता के कारण हमारे विद्यालय
भी निर्धन ही हैं। फलत. वहाँ आदर्श परिस्थितियाँ कदाचित् ही मिल पाती हों।
उनमे विभिन्न विषयो मे जितने अध्यापक होने चाहिए उतने नही रखे जा पाते हैं।
अध्यापन-सामग्री तथा कक्षो आदि की भी कमी रहती है, तथापि उपलब्ध परि-
स्थितियो मे अधिक से अधिक आदर्श समय-विभाग बनाने का प्रयत्न किया जाना
चाहिए। यदि प्रधानाध्यापक निरन्तर चिन्तन-शील रहे और उसे उसके सहयोगियो
का ठीक सहयोग मिलता रहे, तो सीमाओ के भीतर भी बढ़िया काम किया जा
सकता है।

१

१२
पर्यवेक्षण एवं निरीक्षण

अध्याय-सक्षेप :—

प्रस्तावना; पर्यवेक्षण का महत्त्व; मुख्य अभिप्राय; सफल पर्यवेक्षण का स्वरूप; पर्यवेक्षण से लाभ; पर्यवेक्षण के सिद्धान्त, आवश्यक सलाहें—प्रत्येक क्रिया पर्यवेक्षणीय, पर्यवेक्षण नियमित हो, उद्देश्य स्पष्ट और सद्भावना-पूर्ण, अध्यापकों के सहयोग से, आत्म विश्वास चलता रहे, शिक्षण-कार्य पर विशेष ध्यान, क्या क्या देखें, गृहकार्य—उपयोगिता, दिया जाए अथवा नहीं, गृहकार्य कैसा हो, गृह-कार्य का परिमाण, आवश्यक सावधानियाँ, पर्यवेक्षण एवं निरीक्षण; उपसहार।

प्रस्तावना

इस अध्याय मे हम पर्यवेक्षण एवं निरीक्षण की चर्चा करने जा रहे हैं। साधारणतया पर्यवेक्षण का अर्थ 'देखना' समझा जाता है परन्तु इस शब्द द्वारा अभिप्रेत "देखना" ऐसा देखना होता है, जो किसी ऊँचे स्थान पर स्थित होकर किया जाए, जहाँ से नीचे का सम्पूर्ण *क्रिया-कलाप इतनी अच्छी तरह दिखाई पड़े कि उसमे भाग* लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति की कमियाँ, कमजोरियाँ तथा उनका सम्पूर्ण क्रिया-कलाप पर पड़ने वाला प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता रहे। विद्यालय का सुसचालन इसी प्रकार के देखने से हो सकता है। भावी अध्यापक उसके महत्त्व, उपयोगी सिद्धान्तो तथा क्रिया-विधियो से परिचित हो जाएँ—इसीलिए इस अध्याय मे उसकी चर्चा की जा रही है।

पर्यवेक्षण के सिद्धान्त

पर्यवेक्षण का कार्य सरल नहीं है। इसके लिए विशेष समीक्षात्मक बुद्धि और ज्ञान की आवश्यकता होती है। यों तो प्रत्येक व्यक्ति किसी कार्य में अपनी समझ के अनुसार अनेक त्रुटियाँ निकाल सकता है, किन्तु विध्वंसात्मक समीक्षा से कोई लाभ नहीं होता। पर्यवेक्षण का उद्देश्य—रचनात्मक होना है, विध्वंसात्मक नहीं। किसी कार्य की समीक्षा करते हुए उसके सुधार और संशोधन के लिए ठोस परामर्श और सुझाव देना भी पर्यवेक्षण का अङ्ग है। इस प्रकार के कार्य के लिये विशेष योग्यता और उन सिद्धान्तों की जानकारी अपेक्षित है, जिनके आधार पर पर्यवेक्षण उपयोगी और सार्थक हो सकता है। नीचे हम पर्यवेक्षण के प्रमुख सिद्धान्तों को उल्लिखित करेंगे :—

(१) **किसी कार्य की पूर्ण समीक्षा की जानी चाहिए**—यह तभी सम्भव है जब कि अंग-प्रत्यंग, साधनों, कार्य-प्रणाली और उससे प्राप्त फल की पूर्णतः विवेचना की जाय और उनमें पाई जाने वाली त्रुटियों और अच्छाइयों—दोनों को देखकर परामर्श दिया जाय। समीक्षा का अभिप्राय—सहयोग, सहानुभूति और सहायता हो, न कि आलोचना मात्र। अन्यथा पर्यवेक्षण में पूर्णता नहीं रहेगी।

(२) **पर्यवेक्षण व्यापक होना चाहिये**—किसी अंश को देख कर सम्पूर्ण चित्र की कल्पना तो की जा सकती है, किन्तु कल्पना के मिथ्या सिद्ध होने की सम्भावना भी रहती है। पर्यवेक्षण विद्यालय के सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग का होना चाहिये, चाहे वह पाठ्य-क्रम-सम्बन्धी क्रिया हो अथवा पाठ्य-क्रम-सहगामिनी क्रिया। शीघ्रता में किसी अधूरे अंश का निरीक्षण करके सम्पूर्ण कार्य के विषय में मत स्थिर कर लेना उचित नहीं है।

(३) **पर्यवेक्षक को स्वयं पर्यवेक्षणीय विषयों का पूरा ज्ञान होना चाहिये**—बिना व्यापक दृष्टि और उचित ज्ञान के उसका मूल्याङ्कन दोषपूर्ण हो सकता है। उदाहरणार्थ—यदि कोई निरीक्षक केवल कोरे आदर्श और सिद्धान्त की बातें करता है और परिस्थिति की वास्तविकता पर ध्यान नहीं देता है, तो उसके परामर्श और निर्देशन का कोई मूल्य नहीं हो सकता क्योंकि उसे अनुभव नहीं है कि परिस्थिति-विशेष में क्या सम्भव है।

(४) **पर्यवेक्षण रचनात्मक होना चाहिए, विध्वंसात्मक नहीं**—किसी भी कार्य में न तो केवल अच्छाई ही होती है, और न बुराई ही। अनुदार निरीक्षक केवल बुराई ही देखता है और अपना रोष एवं असन्तोष प्रकट करता रहता है। उससे किसी रचनात्मक परामर्श और निर्देशन की आशा नहीं की जा सकती है। उदार निरीक्षक अच्छाई को पहले देखता है और उसके लिये प्रशंसा करता है और उत्साह बढ़ाता है। फिर त्रुटियों को इस प्रकार व्यक्त करता है कि सम्बन्धित व्यक्ति त्रुटियों को समझ

जाय। उसके परामर्श और निर्देशन का आदर होता है और उससे वास्तविक और ठोस उन्नति होती है।

(५) **पर्यवेक्षण सदैव नियमित, निष्पक्ष और न्यायसंगत होना चाहिये**—कभी अत्यन्त ढिलाई बरतना, कभी अत्यन्त कड़ाई करना तथा कभी उदासीन हो जाना आदि पर्यवेक्षण और निरीक्षण के महत्व को कम कर देते हैं। सम्बन्धित व्यक्ति को भी *ज्ञात रहना चाहिये कि उसके कार्य का निरीक्षण किन आधारों पर किया जायगा* और उससे क्या आशा की जाती है। सभी के लिये समान नियम होने चाहिए और प्रत्येक कार्य की जाँच निष्पक्ष भावना से की जानी चाहिए। कार्यकर्त्ताओं को भी अपने कार्य के विषय में अपना दृष्टिकोण उपस्थित करने का अवसर प्रदान करना चाहिए जिससे उनके साथ अन्याय होने की सम्भावना न रहे।

(६) **पर्यवेक्षक को अपने कार्य के उत्तरदायित्व का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए**—यदि पर्यवेक्षक का निर्देशन गलत हो तो उसमें बड़ी हानि हो सकती है। उसे स्वयं बहुत सतर्क, मयमित, स्थिर-बुद्धि, शीलवान् और दृढ़ होने की आवश्यकता है। उसमें मौलिकता, सूझ-बूझ, अन्तर्दृष्टि तथा प्रयोग की प्रवृत्ति भी होनी चाहिये।

आवश्यक सलाहें

१. *प्रत्येक क्रिया पर्यवेक्षणीय*—हम पहले कह चुके हैं कि प्रत्येक प्रधानाचार्य का एक प्रमुख कर्त्तव्य है कि वह अपने विद्यालय की प्रत्येक क्रिया का पर्यवेक्षण करता रहे। उसे पाठ्यक्रम-सम्बन्धी तथा पाठ्यक्रम सहगामिनी—दोनों ही प्रकार की क्रियाओं का पर्यवेक्षण करते रहना चाहिए, वर्ना विद्यालय के कार्यक्रम में शिथिलता आ जाएगी और वह निर्धारित लक्ष्यों को पूरा न कर सकेगा।

२. **पर्यवेक्षण नियमित हो**—यदि प्रधानाध्यापक के निरीक्षण में नियम और क्रमबद्धता न हुई, तो वह विद्यालय की समस्त क्रियाओं का पर्यवेक्षण करने में सफल नहीं हो सकेगा। उसे एक सुव्यवस्थित कार्य-प्रणाली अपनानी पड़ेगी, तभी वह सफलता से पर्यवेक्षण और निरीक्षण कर सकेगा और विद्यालय की सभी क्रियाओं में उसकी उपस्थिति का भान हो सकेगा।

३. **उद्देश्य स्पष्ट और सद्भावना-पूर्ण हो**—प्रधानाध्यापक के सामने इन कार्यों के उद्देश्य स्पष्ट होने चाहिए। उसमें आत्मविश्वास होना चाहिए कि वह अपने अनुभव, अध्ययन और अन्तर्दृष्टि के आधार पर जो सुझाव दे रहा है, वह विद्यालय के लिए हितकर है और उनसे छात्र एवं अध्यापक—सभी लाभान्वित होंगे।

४. **जिद नहीं**—कुछ प्रधानाध्यापकों में एक विशेष प्रकार की जिद देखी जाती है। जो कुछ उनकी समझ में ठीक है, उसे वे सदैव ठीक ही मानते हैं और अपने मत के विरुद्ध किसी की सलाह सुनना पसन्द नहीं करते। यह प्रवृत्ति अनैतिक एवं अप्रशंसनीय है। इससे सङ्कुचित मनोवृत्ति एवं कूप-मण्डूकता का परिचय मिलता है। प्रधानाध्यापक को स्वयं अपनी निरीक्षण-प्रणाली और उससे प्राप्त परिणामों का सदैव

पर्यवेक्षण के सिद्धान्त

पर्यवेक्षण का कार्य सरल नहीं है। इसके लिए विशेष समीक्षात्मक बुद्धि ज्ञान की आवश्यकता होती है। यों तो प्रत्येक व्यक्ति किसी कार्य में अपनी स के अनुसार अनेक त्रुटियाँ निकाल सकता है, किन्तु विध्वंसात्मक समीक्षा से कोई नहीं होता। पर्यवेक्षण का उद्देश्य—रचनात्मक होता है, विध्वंसात्मक नहीं। कि कार्य की समीक्षा करते हुए उसके सुधार और संशोधन के लिए ठोस परामर्श सुझाव देना भी पर्यवेक्षण का अङ्ग है। इस प्रकार के कार्य के लिये विशेष योग और उन सिद्धान्तों की जानकारी अपेक्षित है, जिनके आधार पर पर्यवेक्षण उप और सार्थक हो सकता है। नीचे हम पर्यवेक्षण के प्रमुख सिद्धान्तों को उप करेंगे :—

(१) **किसी कार्य की पूर्ण समीक्षा की जानी चाहिए**—यह तभी सम्भव है कि अंग-प्रत्यंग, साधनों, कार्य-प्रणाली और उससे प्राप्त फल की पूर्णतः विवेचना जाय और उनमें पाई जाने वाली त्रुटियाँ और अच्छाइयाँ—दोनों को देखकर परा दिया जाय। समीक्षा का अभिप्राय—सहयोग, सहानुभूति और सहायता हो, न आलोचना मात्र। अन्यथा पर्यवेक्षण में पूर्णता नहीं रहेगी।

(२) **पर्यवेक्षण व्यापक होना चाहिये**—किसी अंश को देख कर सम्पू चित्र की कल्पना तो की जा सकती है, किन्तु कल्पना के मिथ्या सिद्ध होने व सम्भावना भी रहती है। पर्यवेक्षण विद्यालय के सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग का होना चाहिये चाहे वह पाठ्य-क्रम-सम्बन्धी क्रिया हो अथवा पाठ्य-क्रम-सहगामिनी क्रिया शीघ्रता में किसी अधूरे अंश का निरीक्षण करके सम्पूर्ण कार्य के विषय में मत स्थिर कर लेना उचित नहीं है।

(३) **पर्यवेक्षक को स्वयं पर्यवेक्षणीय विषयों का पूरा ज्ञान होना चाहिये**—बिना व्यापक दृष्टि और उचित ज्ञान के उसका मूल्याङ्कन दोषपूर्ण हो सकता है। उदाहरणार्थ—यदि कोई निरीक्षक केवल कोरे आदर्श और सिद्धान्त की बातें करता है और परिस्थिति की वास्तविकता पर ध्यान नहीं देता है, तो उसके परामर्श और निर्देशन का कोई मूल्य नहीं हो सकता क्योंकि उसे अनुभव नहीं है कि परिस्थिति-विशेष में क्या सम्भव है।

(४) **पर्यवेक्षण रचनात्मक होना चाहिए, विध्वंसात्मक** में न तो केवल अच्छाई ही होती है, और न बुराई ही। अ बुराई ही देखता है और अपना रोष एवं असन्तोष प्रकट करता रचनात्मक परामर्श और निर्देशन की आशा नहीं की जा सकती अच्छाई को पहले देखता है और उसके लिये प्रशंसा करता है फिर त्रुटियों को इस प्रकार व्यक्त करता है कि सम्बन्धित

शिक्षण के पर्यवेक्षण मे किन बातो पर विशेष ध्यान देना चाहिए ? यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है । क्योकि इसके उत्तर पर हो निर्भर होगा कि हम निरीक्षण और पर्यवेक्षण किन बातो का कर रहे हैं । कुछ प्रमुख बातें नीचे दी जा रही हैं —

(१) पाठ्यवस्तु की उपयुक्तता—अपने देश मे पाठ्यवस्तु-निर्धारण का अधिकार अध्यापक के हाथ मे नहीं है । उसे तो बना बनाया पाठ्यक्रम पढ़ाने को मिलता है, तथापि एक बात उसके हाथ मे है । वह *उस पाठ्यक्रम को अधिक मनोवैज्ञानिक* आधार पर पुन सगठित कर सकता है और उसको ऐसी इकाइयो में विभक्त कर सकता है, जिनसे छात्रो के सम्मुख उसका उपस्थापन सरल हो जाय । पर्यवेक्षक को चाहिए कि वह अध्यापक के कार्य का इस दृष्टि से पर्यवेक्षण अवश्य कर लिया करे । ऐसा कर लेने से हमारे पाठ्यक्रमों में विद्यमान बहुत से दोष दूर हो जायेंगे ।

(२) शिक्षण-प्रणाली--किसी भी विषय को पढाने के लिए एक सुसगठित और व्यवस्थित प्रणाली आवश्यक होती है । प्रशिक्षण-विद्यालयो मे छात्राध्यापको को शिक्षण-प्रणाली के सिद्धान्त बतलाइये जाते हैं और उनका अभ्यास कराया जाता है । प्रायः सुनने मे आता है कि प्रशिक्षण विद्यालयो की शिक्षण-प्रणालियाँ अव्यावहारिक होती हैं और उनके द्वारा विद्यालयो मे पढ़ाना सम्भव नही है क्योकि उन अध्यापन-विधियो द्वारा पढाकर पाठ्यक्रम पूरा नही किया जा सकता है ।

अभी तक यह हमारे देश का दुर्भाग्य है कि यहाँ पर शिक्षा से अधिक महत्व परीक्षा का है। पाठ्यक्रम निर्धारित किये जाते हैं परीक्षा की दृष्टि से, न कि शिक्षा की दृष्टि से । *यही कारण है कि पाठ्यक्रम का पूरा करना अधिक आवश्यक समझा जाता* है और इस बात पर ध्यान कम दिया जाता है कि पाठ्यक्रम का कितना अंश वास्तव मे छात्र के व्यक्तित्व का अंग बन पाता है । किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध किया जा सकता है कि प्रशिक्षण-विद्यालयो मे सीखी गई शिक्षण-प्रणाली अव्यावहारिक है । वर्तमान परिस्थिति मे भी उसका पूर्ण विस्तार से नहीं तो कम से कम उसकी प्रमुख बातो का प्रयोग तो किया हो जा सकता है । अतः पर्यवेक्षण और निरीक्षण करते समय यह अवश्य देखना चाहिए कि अध्यापक की शिक्षण-प्रणाली कहाँ तक मनोवैज्ञानिक और मान्य है ।

शिक्षण-प्रणाली के अन्तर्गत हरबार्ट की पंचपदीय विधि वर्तमान में भी मान्य है । शिक्षक को पाठ योजना का निर्माण अवश्य कर लेना चाहिए । अभ्यास हो जाने पर उसके विस्तार मे जाने की आवश्यकता नही रहती है और पाठ की केवल रूप-रेखा बना लेना हो पर्याप्त होता है । इससे पाठ मे क्रम और व्यवस्था बनी रहती है और पाठ्यवस्तु निश्चित हो जाती है । शिक्षक को अपने पाठ के उद्देश्य को निर्धारित कर लेना चाहिए और उसे पूरा करने का प्रयत्न करना चाहिये । उसके लिए पाठ्य-वस्तु में छात्रो की रुचि जाग्रत करना आवश्यक है, वर्ना अध्यापन प्रभावोत्पादक नहीं

अध्ययन करते रहना चाहिए। यदि वह दूसरों के तर्कयुक्त परामर्शों को मान लेगा, तो कोई हानि नहीं होगी और न इससे उसकी प्रतिष्ठा कम हो जायगी।

५. अध्यापकों के सहयोग से—यह भी सम्भव नहीं है कि प्रधानाध्यापक समस्त कार्यों का पर्यवेक्षण और निरीक्षण सदैव स्वयं ही करता रहे। उसे अपने सहकर्मियों का विश्वास करना चाहिये और उनका सहयोग प्राप्त करना चाहिए। अध्यापन-कार्य का पर्यवेक्षण और निरीक्षण तो उसे अवश्य ही करना पड़ता है किन्तु विद्यालय की अन्य पाठ्यक्रम सहगामिनी क्रियाओं का भार उसे अपने योग्य और अनुभवी सहकर्मियों पर छोड़ना चाहिए और स्वयं सबके ऊपर अपनी दृष्टि रखनी चाहिए। इससे उसका कार्यभार भी हलका होगा और उसके सहयोगी वर्ग का प्रशिक्षण भी होगा। जब तक अत्यन्त आवश्यक न हो, उसे प्रत्येक कार्य में दखल नहीं देना चाहिए।

६ आत्म-विकास चलता रहे—प्रधानाध्यापक की समीक्षात्मक बुद्धि जितनी विकसित होगी उतनी ही प्रभावोत्पादकता उसके पर्यवेक्षण और निरीक्षण में उत्पन्न होगी। समीक्षात्मक बुद्धि कुछ तो स्वाभाविक होती है किन्तु अधिकांश में वह अनुभव और अध्ययन से विकसित होती है। प्रधानाध्यापक को सदैव अपने शिक्षा-विषयक ज्ञान को बढ़ाते रहना चाहिए। इससे उसके भीतर वह शक्ति उत्पन्न हो जायगी कि वह दृष्टि-संचालन में ही किसी क्रिया की अच्छाई और बुराई समझ सकेगा। अनुभव द्वारा उसे यह समझने के लिए भी प्रयत्नशील रहना चाहिए कि किस भाँति वह अपने पर्यवेक्षण को और अधिक प्रभावशाली बना सकता है। इन कार्यों को केवल औपचारिक रूप में करना, अपना और दूसरों का समय नष्ट करना है। इनका स्पष्ट उद्देश्य विद्यालय की कार्य-प्रणाली को उन्नत, सूक्ष्म, प्रभावशाली एवं साभिप्राय बनाना है जिससे विद्यालय उन आदर्शों की पूर्ति में सफल हो सके, जिनके लिये उसकी स्थापना हुई है। यह केवल प्रधानाध्यापक का ही उत्तरदायित्व नहीं है। प्रजातन्त्रीय प्रणाली में सम्पूर्ण अध्यापक वर्ग इस उत्तरदायित्व को वहन करता है।

७ शिक्षण-कार्य पर विशेष ध्यान—यों तो विद्यालय की वे समस्त क्रियायें जो छात्रों के व्यक्तित्व निर्माण में सहायक हैं, महत्वपूर्ण होती हैं किन्तु शिक्षण-कार्य विद्यालय की सबसे महत्वपूर्ण क्रिया है। इसका पर्यवेक्षण विधिवत् और सतर्कता से होना चाहिए। यह कार्य प्रधानाध्यापक के दैनिक कर्त्तव्यों में प्रमुख होना चाहिए। उसे प्रत्येक अध्यापक के अध्यापन-कार्य का पर्यवेक्षण करना उचित है। मौखिक और लिखित दोनों ही कार्यों का पर्यवेक्षण होना चाहिए। प्रधानाध्यापक को कक्षा के भीतर जाकर देखना चाहिए कि अमुक अध्यापक किस प्रकार पढ़ा रहा है। उसे त्रुटियों को नोट कर लेना चाहिये और बाद में अध्यापक को एकान्त में बुलाकर उन पर विचार-विमर्श कर लेना चाहिये। कक्षा में न तो उसे कोई बात ही इस प्रकार की कहनी चाहिए और न कोई कार्य ही ऐसा करना चाहिए जिससे अध्यापक के सम्मान को ठेस लगे। बाद में विचार विनिमय करके उसे अध्यापक को अपना दृष्टिकोण समझाते हुए अपना परामर्श एवं आदेश देना चाहिए।

वेक्षण मे किन बातो पर विशेष ध्यान देना चाहिए ? यह प्रश्न
क्योंकि इसके उत्तर पर ही निर्भर होगा कि हम निरीक्षण और
ा कर रहे हैं। कुछ प्रमुख बातें नीचे दी जा रही हैं —

। की उपयुक्तता—अपने देश मे पाठ्यवस्तु-निर्धारण का अधिकार
है। उसे तो बना बनाया पाठ्यक्रम पढ़ाने को मिलता है,
के हाथ मे है। वह उस पाठ्यक्रम को अधिक मनोवैज्ञानिक
र कर सकता है और उसको ऐसी इकाइयो मे विभक्त कर सकता
म्मुख उसका उपस्थापन सरल हो जाय। पर्यवेक्षक को चाहिए
का इस दृष्टि से पर्यवेक्षण अवश्य कर लिया करे। ऐसा
ठ्यक्रमों में विद्यमान बहुत से दोष दूर हो जायेंगे।

।--किसी भी विषय को पढ़ाने के लिए एक सुसगठित और
होती है। प्रशिक्षण-विद्यालयो में छात्राध्यापको को
बतलाइये जाते हैं और उनका अभ्यास कराया जाता है।
है कि प्रशिक्षण विद्यालयो की शिक्षण-प्रणालियाँ अव्यावहारिक
विद्यालयो मे पढ़ाना सम्भव नही है क्योंकि उन अध्यापन-
पाठ्यक्रम पूरा नही किया जा सकता है।

हमारे देश का दुर्भाग्य है कि यहाँ पर शिक्षा से अधिक महत्व
निर्धारित किये जाते हैं परीक्षा की दृष्टि से, न कि शिक्षा की
है कि पाठ्यक्रम का पूरा करना अधिक आवश्यक समझा जाता
ध्यान कम दिया जाता है कि पाठ्यक्रम का कितना अंश वास्तव
का अग बन पाता है। किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध किया जा
मे सीखी गई शिक्षण-प्रणाली अव्यावहारिक है।
मे भी उसका पूर्ण विस्तार से नहीं तो कम से कम उसकी प्रमुख
किया ही जा सकता है। अतः पर्यवेक्षण और निरीक्षण करते
चाहिए कि अध्यापक की शिक्षण-प्रणाली कहाँ तक मनो-
है।

के अन्तर्गत हरबार्ट की पंचपदीय विधि वर्तमान मे भी मान्य
ठ योजना का निर्माण अवश्य कर लेना चाहिए। अभ्यास हो जाने
मे जाने की आवश्यकता नहीं रहती है और पाठ की केवल रूप-
पर्याप्त होता है। इससे पाठ मे क्रम और व्यवस्था बनी रहती है
हो जाती है। शिक्षक को अपने पाठ के उद्देश्य को निर्धारित
और उसे पूरा करने का प्रयत्न करना चाहिये। उसके लिए पाठ्य-
रुचि जाग्रत करना आवश्यक है, वर्ना अध्यापन प्रभावोत्पादक नहीं

हो सकता। रुचि जाग्रत करने के लिये समुचित सहायक सामग्री का होना आव है। शिक्षक को विभिन्न साधनों और विधियों से पाठ को रोचक बनाने का प्र करना चाहिए। पाठ का उपस्थापन अत्यन्त वैज्ञानिक ढङ्ग से होना चाहिए जि सरलता से पाठ्यवस्तु छात्रों के मस्तिष्क में प्रवेश करती जाए। पाठ्यवस्तु उपस्थान सदैव मनोवैज्ञानिक आधारों पर निश्चित होना चाहिए। छात्रों की क्षम और योग्यता का भी ध्यान रखना उचित है। अध्यापन-विधियों का अनुशीलन क समय अध्यापक को पूछे जाने वाले प्रश्नों पर भी विचार कर लेना चाहिए। प्रश्नों भाषा, उनका प्रकार और वितरण ठीक होना चाहिए। इन सभी बातों पर पर्यवेक्ष को ध्यान देना चाहिये।

(३) **अध्यापक-छात्र-सम्बन्ध**—अध्यापन एक प्रक्रिया है। इसका प्रभा अध्यापक तथा छात्र—दोनों ही पर पड़ता है। पर्यवेक्षण और निरीक्षण के समय इ दोनों के बीच स्थापित सम्बन्ध पर भी ध्यान देना चाहिये। अध्यापक का कक्षा के साथ व्यवहार कैसा है; वह कहाँ तक बालकों की कठिनाइयों को समझने का प्रयत्न कर रहा है; छात्रों के साथ उसकी सहानुभूति कितनी है; उनकी व्यक्तिगत कठिनाइयों को किस सीमा तक अध्यापक दूर कर रहा है; अध्यापक के आत्मविश्वास, संयम, ज्ञान, न्याय तथा सङ्कल्प आदि गुण कैसे हैं, इन बातों पर भी ध्यान देना निरीक्षक का कर्त्तव्य है। निरीक्षक को यह भी देखना चाहिये कि कक्षा की प्रतिक्रिया क्या है, बालक कहाँ तक अध्यापक के साथ सहयोग कर रहे हैं; उनके उत्तर कहाँ तक सतोष-जनक हैं; तथा वे पाठ्य-वस्तु को ग्रहण करने में कहाँ तक सफल हो रहे हैं; आदि बातों को देखना भी आवश्यक है क्योंकि इनकी सफलता पर ही अध्यापक की सफलता निर्भर रहती है।

(४) **गृह कार्य**—प्रधानाध्यापक को पर्यवेक्षण करते समय छात्रों का गृह-कार्य भी देखना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि वह प्रतिदिन प्रत्येक कक्षा का गृह-कार्य देख ले। वह विभिन्न दिन विभिन्न कक्षाओं तथा विषयों का कार्य देख सकता है। गृह-कार्य देखकर प्रधानाध्यापक को छात्र की प्रगति तथा अध्यापक की परिश्रमशीलता तथा सावधानी का परिचय मिलता रह सकता है। गृह-कार्य के विषय में विशेष ज्ञातव्य बातें इसी अध्याय में अगली पंक्तियों में दी जा रही हैं।

(५) **अन्य सामान्य बातें**—कक्षा-व्यवस्था, बैठने की व्यवस्था, उठने-बैठने का ढङ्ग, प्रश्नों के पूछने और उत्तर देने का ढङ्ग, कक्षानुशासन, श्यामपट-कार्य, वेश-भूषा, समय की पाबन्दी तथा पारस्परिक व्यवहार आदि भी निरीक्षण के विषय होने चाहिए।

गृह-कार्य

उपयोगिता—विद्यालय में छात्र केवल कुछ घण्टे ही व्यतीत करता है। शेष समय वह छात्रावास में अथवा अपने घर पर व्यतीत करता है। ऐसी परिस्थिति में

विद्यालय पाठ्यक्रम का कुछ भाग पूरा करा पाता है और प्रमुख वस्तुओं का ज्ञान दे देता है। छात्र के शेष समय का भी उचित सदुपयोग होना चाहिए। इस शेष समय में वह विद्यालय में प्राप्त अध्ययन को भली-भाँति ग्रहण करने का प्रयत्न करके आने वाले पाठ के लिये अपने को प्रस्तुत कर सकता है। इस कार्य के लिये सर्वोत्तम माध्यम गृह-कार्य होता है। गृह-कार्य से स्वाध्याय को प्रोत्साहन मिलता है और जिन बातों को छात्र विद्यालय के गतिमान प्रवाह के कारण ठीक प्रकार से नहीं समझ पाता है, उन्हें वह गृह के स्वतन्त्र वातावरण में अच्छी तरह समझने की चेष्टा करता है। इस प्रकार *गृह-कार्य विद्यालय के कार्य को ठोस और विकसित बनाता है।* यदि छात्र विद्यालय द्वारा प्राप्त ज्ञान को गृह-कार्य के रूप में करके उसको हृदयगम करले, उसे व्यवस्थित रूप से मन में बिठाले और उसे आत्मगत करले, तो वह ज्ञान उसके व्यक्तित्व का अङ्ग बन जाता है और उसके लिये अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। गृह-कार्य द्वारा स्वाध्याय के अतिरिक्त आत्माभिव्यजन की प्रवृत्तियों को भी प्रोत्साहन मिलता है। इससे स्वावलम्बन की भावना को भी अवलम्ब मिलता है। गृह-कार्य देखकर अध्यापक को भी ज्ञात हो जाता है कि छात्र ने पाठ को ग्रहण कर लिया है अथवा नहीं।

दिया जाय अथवा नहीं—गृह-कार्य के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ के विचार से गृह-कार्य देना चाहिये और कुछ के मत से नहीं। इसके पक्ष और विपक्ष में जो तर्क दिये जाते हैं, उनका सारांश नीचे दिया जाता है—

पक्ष में—ऊपर जो कुछ गृह-कार्य के महत्त्व के विषय में कहा गया है वह सब उसके पक्ष का समर्थन करता है। इस मत के अनुसार गृह-कार्य अनिवार्य रूप से दिया जाना चाहिए, क्योंकि उससे अनेक लाभ होते हैं। परीक्षा की दृष्टि से भी गृह-कार्य उपयोगी होता है।

विपक्ष में—विद्यालय का सम्पूर्ण कार्य विद्यालय-समय के अन्दर ही समाप्त हो जाना चाहिये। विद्यालय में जितना शिक्षण होता है, वह छात्रों के लिये पर्याप्त होता है। गृह-कार्य से छात्रों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है और अधिक मानसिक कार्य करने से उनका स्वास्थ्य खराब हो जाता है। कुछ छात्रों की घरेलू परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं कि उन्हें घर पर गृह-कार्य करने की सुविधा नहीं मिल पाती है। कार्य उचित ढङ्ग से न कर पाने पर व क्षुब्ध और चिन्तित हो उठते हैं। इससे उनमें मानसिक और शारीरिक दुर्बलताएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

समन्वय—हमारी राय में गृह-कार्य के विषय में मतभेद होने की गुंजाइश नहीं है। पक्ष और विपक्ष के तर्कों को ध्यान में रखकर यदि दोनों का समन्वय कर दिया जाय तो गृह-कार्य की उपयोगिता और अधिक बढ़ जायगी। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, गृह-कार्य देते समय कुछ प्रमुख उद्देश्यों को ध्यान में रखना उचित है। यदि उनके अनुसार कार्य दिया जाय तो गृह कार्य से लाभ अवश्य होगा। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली

कक्षा-प्रणाली पर आधारित है। एक ही कक्षा में बहुत से विद्यार्थी सामूहिक रूप से शिक्षा ग्रहण करते हैं। कक्षा में यह सम्भव नहीं हो पाता कि अध्यापक प्रत्येक छात्र को व्यक्तिगत सहायता दे सके और उस पर पूरा ध्यान दे सके अतः प्रत्येक छात्र कक्षा-ध्यापन से पूरा लाभ नहीं उठा पाता है। ऐसी दशा में यदि गृह-कार्य न हो, तो कुछ छात्र सदैव पिछड़े रह जाएँगे। मन्द बुद्धि छात्रों के लिए विद्यालय का शिक्षण ही पर्याप्त नहीं होता है। उन्हें गृह-कार्य द्वारा ही कक्षा-स्तर पर लाने का प्रयास किया जा सकता है।

गृह-कार्य कैसा हो? —गृह-कार्य देते समय अध्यापकों के सम्मुख गृह-कार्य के उद्देश्य स्पष्ट होने चाहिए। उन्हें निम्नांकित बातों पर ध्यान अवश्य देना चाहिए—

१. गृह-कार्य विद्यालय-कार्य का पूरक हो।
२. गृह कार्य छात्रों की योग्यता, सामर्थ्य और परिस्थितियों के अनुकूल हो।
३ गृह-कार्य से विद्यालय-कार्य की केवल पुनरावृत्ति मात्र न हो, वरन् तद्विषयक ज्ञान की वृद्धि भी हो।
४. गृह-कार्य लिखित और मौखिक—दोनों ही प्रकार का हो, जैसे—लेख, तथा निबन्ध लिखना, पद्य कंठाग्र करना आदि।
५. गृह-कार्य का उचित समय के भीतर मूल्यांकन करना भी आवश्यक है; नहीं तो वह व्यर्थ हो जाएगा।
६. गृह-कार्य छात्र के सामान्य ज्ञान की वृद्धि में सहायक हो और उसे अध्ययन के लिए प्रोत्साहित करे।

गृह-कार्य का परिमाण—गृह-कार्य के परिमाण के विषय में कोई निश्चित नियम तो नहीं बनाया जा सकता है, किन्तु उसका सिद्धान्त यह अवश्य होना चाहिए कि परिमाण की वृद्धि क्रमशः होती रहे। छोटी कक्षाओं (प्रारम्भिक स्तर) तक नियमित और दैनिक गृह-कार्य की आवश्यकता नहीं रहती है। हाँ, उन्हें घर पर स्वाध्याय के लिये प्रोत्साहित किया जा सकता है। जैसे-जैसे छात्र उच्चतर कक्षाओं में बढ़ता जाय, वैसे वैसे गृह कार्य की मात्रा बढ़ती जानी चाहिए। उच्चतर माध्यमिक स्तर पर छात्र प्रतिदिन ३ घण्टे गृह कार्य कर सकता है। ऊँची कक्षाओं में आकर छात्र की रुचि और झुकाव स्वतः गृह-कार्य की ओर हो जाते हैं और वह अपने स्वाध्याय का अभ्यास बढ़ा लेता है। किन्तु यह स्वाध्ययन अधिक उपयोगी तभी हो सकेगा, जबकि आरम्भ से ही छात्रों की रुचि उचित प्रकार से की गृह-कार्य ओर बढ़ती रहे।

गृह-कार्य के प्रकार—गृह-कार्य के प्रकार के विषय में भी अभी हम बहुत पिछड़े हुए हैं। अभी हमारी शिक्षा-प्रणाली में शिक्षा मनोविज्ञान को वह स्थान नहीं मिल रहा है, जो उसे मिलना चाहिए। हमारे विद्यालयों में गृह-कार्य एक प्राचीन परम्परा की लीक पर ही चलता जा रहा है। उसमें मौलिकता • विभिन्नता नहीं

पायी जाती है। एक ही प्रकार का कार्य करते-करते छात्र ऊब जाते हैं और उन्हे गृह-कार्य मे आनन्द नहीं आता है। अधिक मनोविज्ञान-सम्मत यह होगा कि छात्रों को विभिन्न प्रकार के गृह-कार्य दिये जायें। प्रत्येक विषय मे इस विभिन्नता के लिए पर्याप्त अवसर रहता है। यदि अध्यापक अपने विषय मे गृह कार्य की योजना आरम्भ मे ही बनाले और उसमे गृह-कार्य के सिद्धान्तों और विशेषताओं का ध्यान रखे, तो निश्चित रूप से गृह-कार्य सफल और उपयोगी हो जाएगा।

आवश्यक सावधानियाँ—गृह कार्य और स्वास्थ्य के सम्बन्ध पर विशेष ध्यान देना अवश्य आवश्यक है। सामर्थ्य से अधिक और अरोचक गृह-कार्य स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव अवश्य डालता है। किन्तु इसका निराकरण गृह-कार्य के परिमाण को, तथा उसके प्रकार को नियन्त्रित करके किया जा सकता है। छोटी अवस्था के छात्रों को गृह-कार्य न्यूनतम दिया जाना चाहिए और कार्य भी ऐसा होना चाहिए जिसमे छात्र स्वय रुचि ले। यदि व्यक्तिगत रुचियों और आवश्यकताओं के अनुसार गृह-कार्य दिया जाय, तो स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ने की सम्भावना कम होगी और गृह-कार्य का उद्देश्य भी अधिक सफल होगा। प्रत्येक विषय-अध्यापक अपने ही विषय को अधिक महत्त्वपूर्ण समझ कर उत्साह के कारण इतना गृह-कार्य दे देता है कि अन्य विषयों की उपेक्षा की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है और बालक के स्वास्थ्य पर भी कुप्रभाव पड जाता है। प्रधानाध्यापक का कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक कक्षा मे दिये जाने वाले गृह-कार्य का पर्यवेक्षण और निरीक्षण करके उसका परिमाण निश्चित कर दे। अध्यापकों का कर्त्तव्य है कि वे गृह-कार्य देने के विषय मे आपस मे विचार-विमर्श करके एक निश्चित सिद्धान्त के आधार पर प्रत्येक विषय मे गृह-कार्य की मात्रा और प्रकार को निश्चित कर लें।

गृह-कार्य देने मे छात्रों की घरेलू परिस्थितियों पर भी विशेष ध्यान देना आवश्यक है। अनेक छात्र पारिवारिक परिस्थितियों के कारण समुचित रीति से गृह-कार्य नहीं कर पाते हैं और अध्यापक के भय से किसी अन्य सहपाठी के गृह-कार्य की नकल कर लेते हैं और अध्यापक को सन्तुष्ट कर देते हैं। इस प्रकार का गृह-कार्य व्यर्थ तो होता ही है, साथ ही साथ वह छात्र के नैतिक पतन का कारण भी बन जाता है। इस विषय में अभिभावकों का सहयोग उत्तम परिणाम दे सकता है। प्रत्येक अभिभावक को ज्ञात होना चाहिए कि गृह-कार्य देने के विषय मे विद्यालय का नियम क्या है।

प्रधानाध्यापक इस विषय मे एक समय विभाग बनाकर अभिभावकों को भेज सकता है। यदि अभिभावक अपने बच्चों की शिक्षा मे रुचि रखते हैं, तो वे स्वय बालक को गृह-कार्य करने की सुविधाएँ प्रदान करने को उत्सुक होंगे। किन्तु अध्यापकों के लिए भी छात्रों की घरेलू परिस्थितियों पर ध्यान देना आवश्यक है और यदि कोई छात्र इन परिस्थितियों के कारण कार्य करने मे असमर्थ है, तो उसके साथ सहानुभूति का ही व्यवहार अपेक्षित है। यदि अध्यापक उसकी परिस्थितियों पर ध्यान न देकर

उसके साथ सख्ती करके उसे कार्य करने को बाध्य करता है, तो छात्र को अनैतिकता का मार्ग अपनाने को मजबूर होना पड़ता है और वह किसी अन्य छात्र के कार्य से नकल करके रख लेता है। गृह-कार्य की एक विशेषता यह भी होनी चाहिए कि छात्र बिना दूसरो की सहायता के उसे स्वय पूरा कर सके। यदि ऐसा नही है तो जिन छात्रों की स्थिति ऐसी नही होती कि उन्हे दूसरे की सहायता उपलब्ध हो, उनको गृह-कार्य पूरा करने मे अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं और उनके लिए गृह-कार्य अभिशाप बन जाता है।

उपर्युक्त समस्या का एक हल यह भी हो सकता है कि छात्रों से गृह-कार्य कराने के लिए विद्यालय मे ही सप्ताह मे एक दिन नियत कर दिया जाय। उस दिन गृह-कार्य के लिए कुछ या पूरा समय दिया जाय। सभी विषयो के अध्यापक भी वहाँ पर गृह-कार्य कराएँ, निरीक्षण करें और छात्रों को व्यक्तिगत सहायता दें। यदि इस प्रकार गृह-कार्य की योजना रखी जाय तो छात्रों की घरेलू परिस्थितियाँ उसमे बाधक नही हो सकतीं। अवकाश के दिनो के लिए योजनाबद्ध गृह-कार्य अवश्य दिया जाना चाहिए। अवकाश के दिनो मे, विशेषतः लम्बे अवकाश के दिनो मे छात्र अपना समय व्यर्थ ही नष्ट करते हैं और उन्होंने जो कुछ पढ़ा होता है, उसे भी भूल जाने की आशका रहती है। अतः अच्छा होगा कि वे अवकाश के दिनो मे गृह-कार्य के कारण कुछ अध्ययन करते रहे।

पर्यवेक्षण एवं निरीक्षण

पर्यवेक्षण जैसा ही एक कार्य निरीक्षण है। पर्यवेक्षण प्रधानाध्यापक का उत्तरदायित्व होता है और निरीक्षण करते हैं प्रबन्धक अथवा शिक्षा-विभाग के अधिकारी। पर्यवेक्षण कार्य के सुसचालन को लक्ष्य बनाकर किया जाता है। परन्तु निरीक्षण मे परीक्षा एव मूल्याकन की भावना की प्रधानता रहती है। इसके विषय मे अन्य ज्ञातव्य बातें वे ही होती हैं, जिनकी चर्चा पर्यवेक्षण के प्रसग मे की जा चुकी है। निरीक्षण का स्वरूप भी दोष-दर्शन मात्र नहीं होना चाहिए।

जब कभी अवसर आए, प्रधानाध्यापक को विधिवत् निरीक्षण करा देना चाहिए। यदि उसका पर्यवेक्षण ठीक-ठीक चलता रहा है, तो निरीक्षण किसी भी प्रकार भयजनक नहीं सिद्ध होगा। उलटे, उससे उसे प्रशसा ही मिलेगी। पर्यवेक्षण मे असावधान प्रधानाध्यापक निरीक्षण से घबराते हैं और पर्याप्त तैयारी के उपरान्त भी वे लज्जाजनक स्थिति ही प्राप्त कर पाते हैं। अच्छे प्रधानाध्यापक को निरीक्षण के लिए किसी तैयारी की आवश्यकता नही पड़ती।

उपसंहार

इस अध्याय मे पर्यवेक्षण, निरीक्षण तथा गृह-कार्य के विषय मे पर्याप्त चर्चा हो चुकी है। फिर भी पर्यवेक्षक एवं निरीक्षक को अपनी पैनी दृष्टि से विभिन्न

परिस्थितियो को ठीक-ठीक समझ कर यथोचित व्यवहार करना चाहिए। समस्त सम-विषम परिस्थितियो के लिए पूरी-पूरी जानकारी दे सकना तथा व्यवहार-सिद्धान्त बता सकना तो एकान्तत. असम्भव कार्य है। यदि लक्ष्य पर दृष्टि बनी रहे और बुद्धिमानी से पर्यवेक्षण एव परिस्थितियो का विवेचन चलता रहे, तो सभी समस्याओ के उपयुक्त हल स्वतः सामने आ जाते हैं और संस्था सुव्यवस्थित बनी रहती है।

उसके साथ सख्ती करके उसे कार्य करने को बाध्य करता है, तो छात्र को अनैतिकता का मार्ग अपनाने को मजबूर होना पडता है और वह किसी अन्य छात्र के कार्य से नकल करके रख लेता है। गृह-कार्य की एक विशेषता यह भी होनी चाहिए कि छात्र बिना दूसरो की सहायता के उसे स्वयं पूरा कर सके। यदि ऐसा नही है तो जिन छात्रों की स्थिति ऐसी नही होती कि उन्हे दूसरे की सहायता उपलब्ध हो, उनको गृह-कार्य पूरा करने मे अनेक कठिनाइयाँ उठानी पडती हैं और उनके लिए गृह-कार्य अभिशाप बन जाता है।

उपर्युक्त समस्या का एक हल यह भी हो सकता है कि छात्रो से गृह-कार्य कराने के लिए विद्यालय मे ही सप्ताह मे एक दिन नियत कर दिया जाय। उस दिन गृह-कार्य के लिए कुछ या पूरा समय दिया जाय। सभी विषयों के अध्यापक भी वहीं पर गृह-कार्य कराएँ, निरीक्षण करें और छात्रों को व्यक्तिगत सहायता दें। यदि इस प्रकार गृह-कार्य की योजना रखी जाय तो छात्रो की घरेलू परिस्थितियाँ उसमे बाधक नहीं हो सकती। अवकाश के दिनो के लिए योजनाबद्ध गृह-कार्य अवश्य दिया जाना चाहिए। अवकाश के दिनों मे, विशेषतः लम्बे अवकाश के दिनो मे छात्र अपना समय व्यर्थ ही नष्ट करते हैं और उन्होने जो कुछ पढ़ा होता है, उसे भी भूल जाने की आशंका रहती है। अत: अच्छा होगा कि वे अवकाश के दिनो मे गृह-कार्य के कारण कुछ अध्ययन करते रहें।

पर्यवेक्षण एवं निरीक्षण

पर्यवेक्षण जैसा ही एक कार्य निरीक्षण है। पर्यवेक्षण प्रधानाध्यापक का उत्तर-दायित्व होता है और निरीक्षण करते हैं प्रबन्धक अथवा शिक्षा-विभाग के अधिकारी। पर्यवेक्षण कार्य के सुसंचालन को लक्ष्य बनाकर किया जाता है। परन्तु निरीक्षण मे परीक्षा एवं मूल्यांकन की भावना की प्रधानता रहती है। इसके विषय मे अन्य ज्ञातव्य बातें वे ही होती हैं, जिनकी चर्चा पर्यवेक्षण के प्रसंग में की जा चुकी है। निरीक्षण का स्वरूप भी दोष-दर्शन मात्र नहीं होना चाहिए।

जब कभी अवसर आए, प्रधानाध्यापक को विधिवत् निरीक्षण करा देना चाहिए। यदि उसका पर्यवेक्षण ठीक-ठीक चलता रहा है, तो निरीक्षण किसी भी प्रकार भयजनक नहीं सिद्ध होगा। उलटे, उससे उसे प्रशंसा ही मिलेगी। पर्यवेक्षण में असावधान प्रधानाध्यापक निरीक्षण से घबराते हैं और पर्याप्त तैयारी के उपरान्त भी वे लज्जाजनक स्थिति ही प्राप्त कर पाते हैं। अच्छे प्रधानाध्यापक को निरीक्षण के लिए किसी तैयारी की आवश्यकता नहीं पड़ती।

उपसंहार

इस अध्याय में पर्यवेक्षण, निरीक्षण तथा गृह-कार्य के विषय मे पर्याप्त चर्चा हो चुकी है। फिर भी पर्यवेक्षक एवं निरीक्षक को अपनी पैनी दृष्टि से विभिन्न

परिस्थितियो को ठीक-ठीक समझ कर यथोचित व्यवहार करना चाहिए। समस्त सम-विषम परिस्थितियो के लिए पूरी-पूरी जानकारी दे सकना तथा व्यवहार-सिद्धान्त बता सकना तो एकान्ततः असम्भव कार्य है। यदि लक्ष्य पर दृष्टि बनी रहे और बुद्धिमानी से पर्यवेक्षण एव परिस्थितियो का विवेचन चलता रहे, तो सभी समस्याओ के उपयुक्त हल स्वतः सामने आ जाते हैं और संस्था सुव्यवस्थित बनी रहती है।

उसके साथ सख्ती करके उसे कार्य करने को बाध्य करता है, तो छात्र को अनैतिकता का मार्ग अपनाने को मजबूर होना पड़ता है और वह किसी अन्य छात्र के कार्य से नकल करके रख लेता है। गृह-कार्य की एक विशेषता यह भी होनी चाहिए कि छात्र बिना दूसरों की सहायता के उसे स्वयं पूरा कर सके। यदि ऐसा नहीं है तो जिन छात्रों की स्थिति ऐसी नहीं होती कि उन्हें दूसरे की सहायता उपलब्ध हो, उनको गृह-कार्य पूरा करने में अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं और उनके लिए गृह-कार्य अभिशाप बन जाता है।

उपर्युक्त समस्या का एक हल यह भी हो सकता है कि छात्रों से गृह-कार्य कराने के लिए विद्यालय में ही सप्ताह में एक दिन नियत कर दिया जाय। उस दिन गृह-कार्य के लिए कुछ या पूरा समय दिया जाय। सभी विषयों के अध्यापक भी वहीं पर गृह-काय कराएँ, निरीक्षण करें और छात्रों को व्यक्तिगत सहायता दें। यदि इस प्रकार गृह-कार्य की योजना रखी जाय तो छात्रों की घरेलू परिस्थितियाँ उसमें बाधक नहीं हो सकती। अवकाश के दिनों के लिए योजनाबद्ध गृह-कार्य अवश्य दिया जाना चाहिए। अवकाश के दिनों में, विशेषतः लम्बे अवकाश के दिनों में छात्र अपना समय व्यर्थ ही नष्ट करते हैं और उन्होंने जो कुछ पढ़ा होता है, उसे भी भूल जाने की आशंका रहती है। अतः अच्छा होगा कि वे अवकाश के दिनों में गृह-कार्य के कारण कुछ अध्ययन करते रहें।

पर्यवेक्षण एवं निरीक्षण

पर्यवेक्षण जैसा ही एक कार्य निरीक्षण है। पर्यवेक्षण प्रधानाध्यापक का उत्तरदायित्व होता है और निरीक्षण करते हैं प्रबन्धक अथवा शिक्षा-विभाग के अधिकारी। पर्यवेक्षण कार्य के सुसंचालन को लक्ष्य बनाकर किया जाता है। परन्तु निरीक्षण में परीक्षा एवं मूल्यांकन की भावना की प्रधानता रहती है। इसके विषय में अन्य ज्ञातव्य बातें वे ही होती हैं, जिनकी चर्चा पर्यवेक्षण के प्रसंग में की जा चुकी है। निरीक्षण का स्वरूप भी दोष-दर्शन मात्र नहीं होना चाहिए।

जब कभी अवसर आए, प्रधानाध्यापक को विधिवत् निरीक्षण करा देना चाहिए। यदि उसका पर्यवेक्षण ठीक-ठीक चलता रहा है, तो निरीक्षण किसी भी प्रकार भयजनक नहीं सिद्ध होगा। उलटे, उससे उसे प्रशंसा ही मिलेगी। पर्यवेक्षण में असावधान प्रधानाध्यापक निरीक्षण से घबराते हैं और पर्याप्त तैयारी के उपरान्त भी वे लज्जाजनक स्थिति ही प्राप्त कर पाते हैं। अच्छे प्रधानाध्यापक को निरीक्षण के लिए किसी तैयारी की आवश्यकता नहीं पड़ती।

उपसंहार

इस अध्याय में पर्यवेक्षण, निरीक्षण तथा गृह-कार्य के विषय में पर्याप्त चर्चा हो चुकी है। फिर भी पर्यवेक्षक एवं निरीक्षक को अपनी पैनी दृष्टि से विभिन्न

राष्ट्रि एवं समाज की संस्कृति को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करके साथ ही साथ उसे विकसित करने की शक्ति भी प्राप्त करता है। इस सामाजिक प्रक्रिया को सफल और उपयोगी बनाने के उद्देश्य से ही विद्यालय की स्थापना होती है। छात्र विद्यालय में इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु आते हैं। अतः विद्यालय के व्यवस्थापकों तथा अध्यापकों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे शिक्षा-उद्देश्यों की पूर्ति में छात्र को अधिक से अधिक सहायता पहुँचाएँ और इस बात का प्रयत्न करें कि छात्र विद्यालय से पूर्ण लाभ उठाएँ। इसके लिए अन्य बातों के साथ यह भी आवश्यक है कि छात्रों का प्रवेश और वर्गीकरण निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर सावधानी के साथ किया जाए।

विद्यालय-प्रवेश के आधार

छात्रों के विद्यालय-प्रवेश के आधार योग्यता, आयु (शारीरिक एवं मानसिक), रुचि और भावी जीवन में अभीष्ट कार्य होने चाहिए। इसके लिए अध्यापक और विशेषकर प्रधानाध्यापक को छात्र की शारीरिक स्थिति, उसके मानसिक एवं बौद्धिक विकास, उसकी स्वाभाविक रुचि तथा उसकी आकांक्षा आदि की जानकारी आवश्यक होती है। प्रधानाध्यापक को उचित है कि प्रवेश के लिए उपस्थित बालक की विभिन्न प्रकार से परीक्षा करके उसकी योग्यता और शक्तियों का मूल्याङ्कन करले और जिस प्रकार की कक्षा के लिये उसे योग्य समझे, उसमें उसका प्रवेश करले। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में इस प्रकार का प्रवेश आरम्भ में ही सम्भव है, जबकि छात्र अपने घर के वातावरण से विद्यालय में प्रवेश के लिये आता है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली कक्षा-प्रणाली पर आधारित है। यदि छात्र किसी एक विद्यालय से एक कक्षा उत्तीर्ण करके आए, तो उसका प्रवेश किसी अन्य विद्यालय की अगली कक्षा में स्वतः ही हो जाता है। प्रवेश के लिए प्रत्येक विद्यालय में एक प्रवेश पत्र होता है। इसमें छात्र का नाम, आयु, योग्यता, अभिभावक का नाम और पता आदि का लेखा दिया जाता है। इससे भी छात्र विषयक अनेक बातों की जानकारी हो जाती है। हमारे विचार से प्रत्येक प्रधानाध्यापक को अपने विद्यालय में प्रवेश के लिए आये हुए छात्र की नये सिरे से जाँच कर लेनी चाहिए। बहुत से विद्यालय विभिन्न कारणों से अयोग्य छात्रों को भी कक्षोत्तीर्णता का प्रमाण-पत्र दे देते हैं। ऐसे छात्र कक्षा में न केवल चल नहीं पाते अपितु अन्य छात्रों की प्रगति में बाधक बनते हैं और बाद में अनेक प्रकार से परेशानी के कारण बन जाते हैं।

वर्गीकरण : अर्थ और महत्व

विद्यालय के समस्त छात्र विभिन्न कक्षाओं और उप-कक्षाओं में विभाजित किये जाते हैं। इस विभाजन को हम 'वर्गीकरण' कहते हैं। आदर्श शिक्षा-व्यवस्था में यदि प्रत्येक बालक के लिए एक शिक्षक हो, तो अति उत्तम हो। किन्तु आज जनतन्त्रीय व्यवस्था एवं सामाजिक कल्याण का युग है। आज की शिक्षा समानता, स्वतन्त्रता

१३

विद्यालय के उपादान—छात्र

अध्याय-सक्षेप :—

प्रस्तावना, विद्यालय-प्रवेश के आधार, वर्गीकरण, अर्थ और महत्त्व; वर्गीकरण के सामान्य सिद्धान्त—प्रथम सिद्धान्त—समान आयु, समान योग्यता, समान रुचि, समन्वय, द्वितीय सिद्धान्त, तृतीय सिद्धान्त; चतुर्थ सिद्धान्त, वर्गीकरण की आलोचना—लाभ, हानियाँ, विद्यालय का कर्तव्य; वर्गीकरण और सहशिक्षा—पक्ष मे, विपक्ष मे, निष्कर्ष; उपसंहार।

प्रस्तावना

पूर्व अध्यायो मे हमने विद्यालय, विद्यालय के साधक एव साधनो का वर्णन किया है। किन्तु अभी तक हमने विद्यालय के उपादन—'छात्र' का वर्णन नहीं किया है। विद्यालय की स्थापना हो जाने और उसमें साधनो के जुट जाने पर अनिवार्य होता है कि उसमे अध्ययन करने वाले छात्र प्रवेश पाएँ। छात्रो का प्रवेश किस आधार पर किया जाय, उनको कक्षा और वर्गों मे किन आधारों पर विभक्त किया जाए, विभक्त करने की आवश्यकता क्यो है, वर्गीकरण से क्या लाभ और हानियाँ हैं, और उनका निराकरण कैसे सम्भव है ? आदि अनेक प्रश्न प्रधानाध्यापक के सम्मुख आते हैं। प्रस्तुत अध्याय मे हम इन प्रश्नों के समाधान का प्रयास करेंगे।

छात्र विद्यालय मे शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते हैं। हम यह कह चुके हैं कि शिक्षा एक [illegible] है, जिस[illegible] छात्र [illegible] से, उपलब्ध ज्ञान-

राष्ट्र एवं समाज की संस्कृति को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करके साथ ही साथ उसे विकसित करने की शक्ति भी प्राप्त करता है। इस सामाजिक प्रक्रिया को सफल और उपयोगी बनाने के उद्देश्य से ही विद्यालय की स्थापना होती है। छात्र विद्यालय में इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु आते हैं। अतः विद्यालय के व्यवस्थापकों तथा अध्यापकों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे शिक्षा-उद्देश्यों की पूर्ति में छात्र को अधिक से अधिक सहायता पहुँचाएँ और इस बात का प्रयत्न करें कि छात्र विद्यालय से पूर्ण लाभ उठाएँ। इसके लिए अन्य बातों के साथ यह भी आवश्यक है कि छात्रों का प्रवेश और वर्गीकरण निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर सावधानी के साथ किया जाए।

विद्यालय-प्रवेश के आधार

छात्रों के विद्यालय प्रवेश के आधार योग्यता, आयु (शारीरिक एवं मानसिक), रुचि और भावी जीवन में अभीष्ट कार्य होने चाहिए। इसके लिए अध्यापक और विशेषकर प्रधानाध्यापक को छात्र की शारीरिक स्थिति, उसके मानसिक एवं बौद्धिक विकास, उसकी स्वाभाविक रुचि तथा उसकी आकांक्षा आदि की जानकारी आवश्यक होती है। प्रधानाध्यापक को उचित है कि प्रवेश के लिए उपस्थित बालक की विभिन्न प्रकार से परीक्षा करके उसकी योग्यता और शक्तियों का मूल्याङ्कन करले और जिस प्रकार की कक्षा के लिये उसे योग्य समझे, उसमें उसका प्रवेश करले। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में इस प्रकार का प्रवेश आरम्भ में ही सम्भव है, जबकि छात्र अपने घर के वातावरण से विद्यालय में प्रवेश के लिये आता है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली कक्षा-प्रणाली पर आधारित है। यदि छात्र किसी एक विद्यालय से एक कक्षा उत्तीर्ण करके आए, तो उसका प्रवेश किसी अन्य विद्यालय की अगली कक्षा में स्वतः ही हो जाता है। प्रवेश के लिए प्रत्येक विद्यालय में एक प्रवेश पत्र होता है। इसमें छात्र का नाम, आयु, योग्यता, अभिभावक का नाम और पता आदि का लेखा दिया जाता है। इससे भी छात्र विषयक अनेक बातों की जानकारी हो जाती है। हमारे विचार से प्रत्येक प्रधानाध्यापक को अपने विद्यालय में प्रवेश के लिए आये हुए छात्र की नये सिरे से जाँच कर लेनी चाहिए। बहुत से विद्यालय विभिन्न कारणों से अयोग्य छात्रों को भी कक्षोत्तीर्णता का प्रमाण पत्र दे देते हैं। ऐसे छात्र कक्षा में न केवल चल नहीं पाते अपितु अन्य छात्रों की प्रगति में बाधक बनते हैं और बाद में अनेक प्रकार से परेशानी के कारण बन जाते हैं।

वर्गीकरण : अर्थ और महत्व

विद्यालय के समस्त छात्र विभिन्न कक्षाओं और उप-कक्षाओं में विभाजित किये जाते हैं। इस विभाजन को हम 'वर्गीकरण' कहते हैं। आदर्श शिक्षा-व्यवस्था में यदि प्रत्येक बालक के लिए एक शिक्षक हो, तो अति उत्तम हो। किन्तु आज जनतन्त्रीय व्यवस्था एवं सामाजिक कल्याण का युग है। आज की शिक्षा समानता, स्वतन्त्रता

और सामाजिक उत्थान की भावनाओं से अनुप्राणित है। सिद्धान्ततः हम समाज के किसी भी बच्चे को शिक्षा-प्राप्ति से वंचित नहीं कर सकते। प्रत्येक बच्चे को शिक्षा-प्राप्ति का समान अधिकार और समान सुविधाएँ प्रदान करना समाज का कर्त्तव्य है। इस कारण यह सम्भव नहीं हो सकता है कि एक अध्यापक एक ही छात्र का अध्यापन करे। आधुनिक परिस्थितियाँ, अध्यापन-सुविधाओं, शिक्षण-व्यय तथा सामाजिक आवश्यकताओं आदि की दृष्टि से भी कक्षा-प्रणाली ही उपयुक्त सिद्ध होती है। वर्गीकरण के बिना कक्षा-प्रणाली तथा इसके बिना वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था चल ही नहीं सकती।

वर्गीकरण के सामान्य सिद्धान्त

ऐसी परिस्थिति में वर्गीकरण के आधार और सिद्धान्त भी निश्चित होने चाहिए। उनका संक्षिप्त निरूपण निम्नलिखित है—

(प्रथम सिद्धान्त)

आधुनिक शिक्षा-मनोविज्ञान के अनुसार छात्रों के वर्गीकरण के आधार—आयु, योग्यता और रुचि होने चाहिए। समान आयु, योग्यता और रुचि रखने वाले छात्रों को एक कक्षा में रखना चाहिए। यदि ऐसा करना सम्भव हो सके, तो अध्यापन-कार्य अत्यन्त सुविधाजनक हो जायगा। एक ही आयु, योग्यता और रुचि के छात्रों को अध्यापक समान गति से पढ़ा सकेगा और सब पर समान ध्यान दे सकेगा। छात्रों के दृष्टिकोण से भी वह वर्गीकरण आदर्श होगा, क्योंकि कक्षा के सभी छात्र समान रूप से प्रगति कर सकेंगे। सभी छात्र एक समान स्तर पर होंगे, अतः उनमें हीनता, भय, निराशा आदि की मानसिक ग्रन्थियाँ नहीं उत्पन्न होंगी और वे शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति सरलता से कर सकेंगे। सिद्धान्त रूप से वर्गीकरण के ये आधार मनोवैज्ञानिक एवं सर्वमान्य हैं। किन्तु इनके पालन में अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ पड़ती हैं। यथा—

[सीमा]यें और कठिनाइयाँ

(अ) समान आयु—हमारे शिक्षा-विभागों ने कुछ आयु-वर्गों को निश्चित करके [आदेश] दे दिए हैं कि समान आयु के बालकों को एक कक्षा में रखकर शिक्षा दी जाय। [उदाह]रण के लिए, प्राइमरी विद्यालय में प्रवेश की न्यूनतम आयु ५ वर्ष की रखी गई है। [कि]सी कक्षा में शिक्षा पाने वाले छात्र की अधिकतम आयु भी निर्धारित कर दी [गई है]। यदि छात्र की आयु अधिकतम आयु से अधिक हो जाय, तो सिद्धान्त रूप में [उसका] प्रवेश उस कक्षा में नहीं होना चाहिए। व्यावहारिक रूप में हम शिक्षार्थी का [वर्गीक]रण इस आधार पर करते हैं। किन्तु सिद्धान्त के विचार से यह वर्गीकरण [उचित] नहीं कहा जा सकता। यह आवश्यक नहीं है कि समान आयु के छात्रों में [समान] योग्यता, समान रुचि और समान शारीरिक और मानसिक विकास पाये जाएँ। [व्यक्तिगत भिन्न]ता भी ऐसी ही पाई जाती है कि कोई भी दो व्यक्ति पूर्णतः समान नहीं

होते। सभी में व्यक्तिगत भेद पाये जाते हैं। समान आयु के छात्रों में भी कुछ कुशाग्र-बुद्धि, कुछ मध्यम-बुद्धि और कुछ मन्द-बुद्धि के होते हैं। इन सबको साथ रखकर पढ़ाने में बड़ी कठिनाई पड़ती है।

(आ) समान योग्यता --बालक की योग्यता के अनुसार भी उसका वर्गीकरण किया जा सकता है। इस प्रकार के वर्गीकरण से प्रत्येक बालक को पूर्ण रूप से विकसित होने का अवसर प्राप्त हो सकता है। इसमे अध्यापक और छात्र—दोनों ही को लाभ होता है। यदि योग्यता के आधार पर कक्षाएँ बनाई जाएँ, तो विभिन्न छात्रों में योग्यता का अन्तर न्यूनतम किया जा सकता है और अध्यापन की दृष्टि से यह वर्गीकरण अत्यन्त लाभदायक हो सकता है। किन्तु यहाँ भी वही कठिनाई उपस्थित होती है कि विभिन्न व्यक्तियों मे पूर्णतः समान योग्यता का होना असम्भव है। सभी की योग्यताओं मे किसी न किसी प्रकार की असमानता अवश्य पाई जाती है। कोई किसी विषय मे कुशाग्र-बुद्धि होता है तो कोई किसी मे। समान योग्यता वालो मे भी समान रुचि का होना अनिवार्य नहीं है, और समान योग्यता का पता लगाना भी एक टेढ़ी खीर है। इसके लिये प्रत्येक बालक का विस्तृत मनोवैज्ञानिक अध्ययन आवश्यक है और उसके लिये साधनों की उपलब्धि का प्रश्न सम्मुख आता है। हमारे देश में अभी बुद्धि-परीक्षा, निदानात्मक-परीक्षा तथा अन्य नवीन प्रकार की परीक्षाओं का अभाव है, अत. योग्यता का माप भी सरलता से नहीं किया जा सकता। समान योग्यता के छात्र यदि विभिन्न आयु-स्तरो के हुए, तब एक कठिनाई यह आ पड़ती है कि एक ही कक्षा के बड़े आयु के एव शारीरिक दृष्टि से अधिक विकसित छात्र अपने से छोटों के साथ दुर्व्यवहार करने लग सकते हैं।

(इ) समान रुचि—समान रुचि के आधार पर भी छात्रों का वर्गीकरण किया जा सकता है। एक प्रकार की रुचि वाले छात्रों का एक समूह बनाकर उन्हें अपनी रुचि के अनुसार विषयों के चयन और अध्ययन के लिये प्रोत्साहित किया जा सकता है। इस प्रकार का शिक्षण अत्यन्त प्रभावशाली और छात्र के भविष्य जीवन के लिये अधिक उपयोगी हो सकता है। किन्तु कठिनाई इसमे भी कम नहीं है। कहावत भी है कि "भिन्नरुचिर्हि लोक ।" लोगों का रुचि वैचित्र्य प्रसिद्ध ही है। फिर विद्यालय कहाँ तक प्रत्येक की रुचि के अनुसार कार्य करने मे समर्थ होगा जब कि छात्रों मे व्यक्तिगत भेदों का होना स्वाभाविक ही है। इस आधार पर तो वर्गों का बनाना ही कठिन हो जायगा।

व्यावहारिक मार्ग

इन परिस्थितियों मे किया क्या जाय ? यदि आयु, योग्यता और रुचि के आधार दोषपूर्ण हैं तो वर्गीकरण और किस आधार पर हो सकता है ? वास्तव मे आदर्श वर्गीकरण असम्भव नहीं, तो दु.साध्य अवश्य है। वर्तमान परिस्थितियों मे यही पर्याप्त होगा कि हम आदर्श के अधिक से अधिक निकट पहुँचने का प्रयत्न करते रहें

नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि हम व्यक्तिगत भेदों को पूर्णतः मिटा नहीं सकते। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, चारित्रिक तथा पारिवारिक आदि भेद-भाव स्वाभाविक है। संसार के कोई भी दो व्यक्ति पूर्णतः समान नहीं हो सकते अतः वर्गीकरण में भी समानता का सिद्धान्त केवल सिद्धान्त ही रहेगा, वह व्यावहारिक क्षेत्र में सफल नहीं हो सकेगा।

(२) जब समानता का सिद्धान्त वर्गीकरण में सम्पूर्णतः लागू करना असम्भव है, तो यह भी निर्विवाद है कि किसी भी वर्गीकरण से सभी छात्रों के साथ पूर्णरूप से न्याय नहीं किया जा सकता है और न सब छात्र वर्गीकरण से समान लाभ उठा सकते हैं।

विद्यालय का कर्त्तव्य

ऐसी परिस्थिति में विद्यालय का क्या कर्त्तव्य है ? ऐसी परिस्थितियों के लिए समाज ने एक अत्यन्त उपयोगी सिद्धान्त "The greatest good of the greatest number"—(बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय) स्थिर कर लिया है। हमारा वर्गीकरण ऐसा होना चाहिए कि उससे अधिक से अधिक व्यक्तियों का अधिक से अधिक लाभ हो सके। मानवीय उपादान तथा अन्य उपादानों में यही अन्तर है कि मनुष्य प्रकृति-प्रदत्त अनेक शक्तियों से विभूषित है और उसका उपयोग मनचाहे ढङ्ग से नहीं किया जा सकता। उसकी नैसर्गिक शक्तियों और स्वभाविक प्रवृत्तियों के विकास के लिये समान अवसर प्रदान करने का कार्य अत्यन्त कठिन तथा जटिल है। हम केवल प्रयत्न कर सकते हैं कि शिक्षा के क्षेत्र में वर्गीकरण द्वारा हम अधिक से अधिक लोगों को समुचित विकास का अवसर प्रदान कर सकें।

उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमें वर्तमान वर्गीकरण-प्रणाली को अधिकाधिक वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक बनाने की आवश्यकता है। प्रणाली को उन्नत, प्रगतिशील और लचीला बनाने के लिए हमें आधुनिक शिक्षा मनोविज्ञान से अधिकाधिक सहायता लेनी चाहिए। इस सहायता के आधार पर ही हम व्यक्तिगत अन्तरों को न्यूनतम बना सकेंगे। मनोविज्ञान ने छात्रों की सहज-बुद्धि, विशेष-बुद्धि, रुचि, ध्यान तथा स्वाभाविक प्रवृत्ति आदि पर विशेष प्रयोगों तथा अध्ययनों द्वारा पर्याप्त प्रकाश डाला है। इनका उपयोग वर्गीकरण को उन्नत एवं वैज्ञानिक बनाने में किया जा सकता है।

माध्यमिक-शिक्षा-कमीशन ने बहुद्देशीय विद्यालयों की स्थापना पर विशेष बल दिया है। इनमें छात्रों को विभिन्न पाठ्यक्रमों की सुविधा प्रदान की जा सकती है और विविध पाठ्यक्रमों द्वारा विभिन्न रुचियों और क्षमता के विद्यार्थियों को उनकी रुचि और योग्यता के अनुसार पाठ्यक्रम दिया जा सकता है। पाठ्यक्रम जितना ही विविध होगा, उतना ही हम वर्गीकरण से होने वाली हानियों का निराकरण कर [illegible]
सकेंगे। इस प्रक

बालक को अपनी सामर्थ्य, योग्यता और रुचि के अनुसार पाठ्यक्रम के चुनने का अवसर प्राप्त होगा और इस प्रकार हम 'सबके लिए समान अवसर' के सिद्धान्त को बहुत कुछ पूरा कर सकेंगे। कुछ विद्वानों के मत से यह भी आदर्श व्यवस्था नहीं है। उनका कहना है कि किसी व्यक्ति की योग्यता, रुचि और भावी शक्तियों का सही पता पूर्णतः नहीं लगाया जा सकता है अतः उसे पूर्व-निश्चित पाठ्यक्रम और विषयों के दायरे में बाँधना उचित नहीं है। इस दृष्टिकोण से वर्गीकरण होना ही नहीं चाहिए और प्रत्येक के लिए व्यक्तिगत विकास की सुविधाओं का प्रबन्ध किया जाना चाहिए, किन्तु हम दिखला चुके हैं कि यह उग्रवादी और केवल सिद्धान्त की बात है। यह व्यावहारिक नहीं है। वर्तमान परिस्थितियों में जो व्यावहारिक है, उसी पर ध्यान देना और उसे सफल बनाना हमारा कर्त्तव्य है।

यदि विद्यालय में छात्रों की संख्या पर्याप्त हो और प्रत्येक कक्षा में कई विभागों की आवश्यकता हो, तो प्रधानाचार्य वर्गीकरण के सिद्धान्तों का अधिकाधिक प्रयोग कर सकता है। यदि अध्यापकों और प्रधानाध्यापक ने छात्रों का विधिवत् अध्ययन किया है, तभी वे एक विभाग में समान आयु, योग्यता, और स्वभाव के छात्रों को रख सकेंगे, अन्यथा वे अच्छा विभाग बनाने में असफल होंगे।

वर्गीकरण एवं सह-शिक्षा

विद्यालय के उपादान का विवेचन करते हुए हमने प्रायः 'छात्र' और 'बालक' शब्दों का प्रयोग किया है। किन्तु यह केवल सुविधा की दृष्टि से और अभ्यासवश हुआ है। वास्तव में हमारा अभिप्राय बालक और बालिका —दोनों से है। यही बात हम सम्पूर्ण पुस्तक के विषय में भी कह सकते हैं। दोनों ही विद्यार्थी हैं और शिक्षा-सिद्धान्त समान रूप से दोनों पर लागू होते हैं। उनकी परिस्थितियाँ और समस्याएँ विभिन्न हो सकती हैं। वर्गीकरण के सम्बन्ध में सहशिक्षा की समस्या भी सम्मुख आती है। क्या बालक और बालिकाओं को एक साथ शिक्षा दी जाय अथवा उनके लिए एक ही विद्यालय में भिन्न भिन्न वर्ग बनाए जाएँ, या विभिन्न शिक्षा संस्थाओं की व्यवस्था की जाय? इन प्रश्नों के उत्तर में विश्व के शिक्षा-शास्त्रियों में मतैक्य नहीं है। इसके परिणामस्वरूप विभिन्न विचारधाराओं के अनुसार सह-शिक्षा के भी विभिन्न स्वरूप विश्व में पाये जाते हैं। कहीं पर आरम्भ से अन्त तक प्रत्येक स्तर पर सह-शिक्षा का प्रचलन मिलता है। कहीं पर प्राथमिक और उच्च-शिक्षा में सह-शिक्षा है, किन्तु माध्यमिक स्तर पर नहीं है। कहीं पर सह-शिक्षा का प्रबल विरोध है और किसी स्तर पर सह-शिक्षा नहीं है। कहीं पर लड़के और लड़कियों को एक ही कक्षा में साथ बिठाकर पढ़ाया जाता है। कहीं पर दोनों को एक ही कक्षा में अलग-अलग बैठाकर शिक्षा दी जाती है। कुछ विद्यालयों में दोनों की अलग-अलग कक्षाएँ होती हैं, कुछ में सम्मिलित।

सह-शिक्षा के विभिन्न स्वरूपो का कारण सह-शिक्षा-विषयक मतभेद है। सह-शिक्षा के पक्ष और विपक्ष मे अनेक तर्क-वितर्क उपस्थित किये जाते हैं, किन्तु अभी तक किसी निश्चित निष्कर्ष पर विश्व के शिक्षा-शास्त्री नहीं पहुँच सके हैं। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली और पाश्चात्य विचार-धारा प्राय: सह शिक्षा का समर्थन करती हैं किन्तु प्राच्य विचारधारा इसके विपक्ष मे है। अच्छा यह होगा कि हम सह-शिक्षा के पक्ष एवं विपक्ष मे प्रस्तुत विचारो की समुचित विवेचना करके किसी निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न करें।

पक्ष में—(१) सह-शिक्षा का आरम्भ सम्भवतः आर्थिक कारणो से हुआ। बालक और बालिकाओं के लिए अलग-अलग विद्यालयो की स्थापना करना अधिक व्यय-साध्य कार्य है। जब से राज्य ने शिक्षा देने का उत्तरदायित्व ग्रहण किया है, तब से शिक्षा-व्यय भी राजकोष का अङ्ग हो गया है। मितव्ययिता के दृष्टिकोण से सह-शिक्षा आर्थिक समस्या को सुलझा सकती है। समाज ने भी विकास-क्रम मे अनुभव किया कि शिक्षा की उपयोगिता दोनो लिंगो के लिए समान है और बालक और बालिकाओ–दोनो ही के लिए शिक्षा आवश्यक है। अत: समाज ने सरल मार्ग अपनाया और सह-शिक्षा को प्रोत्साहन देकर आर्थिक भार से बचने का मार्ग निकाल लिया।

(२) सामाजिक दृष्टिकोण से भी सह-शिक्षा लाभप्रद है। विद्यालय समाज का लघुरूप है। समाज दोनों लिंगो से मिलकर बना है। समाज मे स्त्री और पुरुष साथ-साथ रहते हैं। विद्यालय मे भी यदि दोनों साथ ही शिक्षा ग्रहण करें, तो उनमे अनेक सामाजिक गुणो का स्वत: समावेश हो जायगा। साथ अध्ययन करने से एक दूसरे के गुण-अवगुण समझने की शक्ति का विकास होगा, सहयोग-भावना बढ़ेगी, सामाजिक व्यवहार-कुशलता उत्पन्न होगी, और पारस्परिक विश्वास और सहानुभूति का विकास होगा। वास्तव मे एक आदर्श समाज मे स्त्री और पुरुष-एक दूसरे के पूरक हैं। एक की प्रकृति, स्वभाव, आचरण, गुण एवं कार्य—दूसरे से भिन्न हैं। यदि दोनो को साथ रख दिया जाय, तो स्वाभाविक है कि वे एक-दूसरे से प्रभावित होंगे और इस प्रक्रिया द्वारा दोनो के अवगुणो का ह्रास होगा और उनके गुणो का विकास होगा, पारस्परिक आदर-भावना की अभिवृद्धि होगी और अप्राकृतिक आचरणों की जड नष्ट हो जायगी, पारस्परिक सम्बन्धों का विकास अधिक स्वाभाविक ढग से हो सकेगा और दोनों का चारित्रिक विकास समुचित एवं वांछनीय ढग से होगा।

(३) शिक्षा की व्यवस्था एवं प्रशासन के दृष्टिकोण से भी सहशिक्षा अधिक उपयुक्त है। सह-शिक्षा के अभाव मे दोनों के लिये दो व्यवस्थाएँ एवं दो प्रशासन-प्रणालियाँ आवश्यक हो जाती हैं। इससे अनेक कठिनाइयाँ और सम[illegible] खड़ी होती हैं और अनुशासन की समस्याएँ भी अधिक हो जाती हैं। शिक्षा[illegible] है कि सह-शिक्षा से बालक अधिक विनयशील हो जाते हैं [illegible]

होती है। दोनो को अलग-अलग विद्यालयो मे रखने से दोनो ही मे एक दूसरे के प्रति एक स्वाभाविक कौतूहल बना रहता है और अवांछनीय आकर्षण उत्पन्न हो जाता है जिसके फलस्वरूप अनुशासन और प्रशासन की समस्या के अधिक उग्र होने की सम्भावना होती है।

(४) शैक्षणिक दृष्टि से भी सह-शिक्षा अधिक उपयुक्त है। बालिकाएँ स्वभाव से अधिक प्रयत्नशील, परिश्रमी और कुछ विषयो मे अधिक रुचि रखने के कारण उनमें विशेष प्रगतिशील होती हैं। बालक उनके सम्पर्क एव प्रतिस्पर्धा के कारण उन्नत होने के लिये बाध्य हो जाते हैं। उसी प्रकार बालिकाएँ भी बालको के विशेष क्षेत्रो में प्रगतिशील बनने का प्रयत्न करती हैं। हमारा स्वय का अनुभव है कि सह शिक्षा के कारण एक स्वस्थ प्रतिस्पर्धा का सृजन होता है और उससे शिक्षा का स्तर ऊँचा उठता है।

(५) सह शिक्षा-व्यवस्था मे अध्यापक वर्ग भी प्राय मयुक्त वर्ग होता है जिसमे अध्यापक एव अध्यापिकाएँ—दोनों ही होते हैं। इसके कारण विद्यालय वस्तुत समाज का लघुरूप हो जाता है। विद्यालय सच्चे अर्थ मे एक परिवार बन जाता है और बालक एव बालिकाओं के व्यक्तित्व के विकास मे किसी प्रकार की बाधा नही पड़ती। बालक और बालिकाओं को पुरुष एवं स्त्री—दोनों ही के साहचर्य एव सम्पर्क का लाभ होता है और वे दोनों ही की विशेषताओं से लाभान्वित होते हैं।

विपक्ष में—अनेक शिक्षाविदो ने सह-शिक्षा के विपक्ष मे भाँति-भाँति के तर्क उपस्थित किये हैं। उनका सारांश नीचे दिया जाता है :—

(१) नैतिक दृष्टिकोण—प्रकृति ने स्त्री और पुरुष को शारीरिक गठन, मानसिक विकास एव कार्यक्षेत्र मे अन्तर रखा है। दोनो का जीवन-उद्देश्य एक होते हुए भी भिन्न है। दोनो का पारस्परिक आकर्षण ही मानव-सृष्टि का मूल है। इस आकर्षण का आधार सौन्दर्योपभोग की लालसा एव काम-वासना है। ये स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं। इनका पूर्णत दमन असम्भव है। समाज ने इन्हें नियन्त्रित करने के लिये अनेक सामाजिक, धार्मिक, आत्मिक एव नैतिक नियम बनाये हैं। फिर भी अवसर आने पर स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ इन बन्धनो को छिन्न-भिन्न करके अपनी तृप्ति का मार्ग ढूँढ़ लेती हैं। इससे अनैतिकता को प्रोत्साहन मिलता है। किशोरावस्था से पूर्व लिंग-भावना कम प्रबल होती है। अत. उस समय सह-शिक्षा से अधिक हानि होने की सम्भावना नहीं रहती है किन्तु किशोरावस्था मे लिंग-भावना प्रबल होने लगती है और सह-शिक्षा से चारित्रिक पतन की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं। चारित्रिक पतन से होने वाले भयकर परिणामो को ध्यान मे रखते हुए सह-शिक्षा उचित नहीं मानी जा सकती।

(२) सामाजिक जीवन का दृष्टिकोण—समाज मे स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सहयोग से जीवन सुखी होता है। पारवारिक जीवन मे स्त्री घर की स्वामिनी होकर घर-गृहस्थी के चलाने मे पुरुष की सहायता करती है। दोनों के कार्यक्षेत्र मे कुछ

सह शिक्षा के विभिन्न स्वरूपो का कारण सह-शिक्षा-विषयक मतभेद है। सह-शिक्षा के पक्ष और विपक्ष मे अनेक तर्क-वितर्क उपस्थित किये जाते हैं, किन्तु अभी तक किसी निश्चित निष्कर्ष पर विश्व के शिक्षा-शास्त्री नहीं पहुँच सके हैं। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली और पाश्चात्य विचार-धारा प्रायः सह शिक्षा का समर्थन करती है किन्तु प्राच्य विचारधारा इसके विपक्ष मे है। अच्छा यह होगा कि हम सह-शिक्षा के पक्ष एवं विपक्ष मे प्रस्तुत विचारो की समुचित विवेचना करके किसी निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न करें।

पक्ष मे—(१) सह-शिक्षा का आरम्भ सम्भवतः आर्थिक कारणो से हुआ। बालक और बालिकाओ के लिए अलग अलग विद्यालयो की स्थापना करना अधिक व्यय-साध्य कार्य है। जब से राज्य ने शिक्षा देने का उत्तरदायित्व ग्रहण किया है, तब से शिक्षा-व्यय भी राजकोष का अङ्ग हो गया है। मितव्ययिता के दृष्टिकोण से सह-शिक्षा आर्थिक समस्या को सुलझा सकती है। समाज ने भी विकास-क्रम में अनुभव किया कि शिक्षा की उपयोगिता दोनो लिंगो के लिए समान है और बालक और बालिकाओ–दोनो ही के लिए शिक्षा आवश्यक है। अतः समाज ने सरल मार्ग अपनाया और सह-शिक्षा को प्रोत्साहन देकर आर्थिक भार से बचने का मार्ग निकाल लिया।

(२) सामाजिक दृष्टिकोण से भी सह-शिक्षा लाभप्रद है। विद्यालय समाज का लघुरूप है। समाज दोनो लिगो से मिलकर बना है। समाज मे स्त्री और पुरुष साथ-साथ रहते हैं। विद्यालय मे भी यदि दोनों साथ ही शिक्षा ग्रहण करें, तो उनमें अनेक सामाजिक गुणो का स्वतः समावेश हो जायगा। साथ अध्ययन करने से एक दूसरे के गुण-अवगुण समझने की शक्ति का विकास होगा, सहयोग-भावना बढ़ेगी, सामाजिक व्यवहार-कुशलता उत्पन्न होगी, और पारस्परिक विश्वास और सहानुभूति का विकास होगा। वास्तव मे एक आदर्श समाज मे स्त्री और पुरुष-एक दूसरे के पूरक हैं। एक की प्रकृति, स्वभाव, आचरण, गुण एवं कार्य—दूसरे से भिन्न हैं। यदि दोनो को साथ रख दिया जाय, तो स्वाभाविक है कि वे एक-दूसरे से प्रभावित होंगे और इस प्रक्रिया द्वारा दोनो के अवगुणो का ह्रास होगा और उनके गुणो का विकास होगा, पारस्परिक आदर-भावना की अभिवृद्धि होगी और अप्राकृतिक आचरणों की जड़ नष्ट हो जायगी, पारस्परिक सम्बन्धों का विकास अधिक स्वाभाविक ढंग से हो सकेगा और दोनो का चारित्रिक विकास समुचित एवं वांछनीय ढंग से होगा।

(३) शिक्षा की व्यवस्था एवं प्रशासन के दृष्टिकोण से भी सहशिक्षा अधिक उपयुक्त है। सह-शिक्षा के अभाव मे दोनो के लिये दो व्यवस्थाएँ एवं दो प्रशासन-प्रणालियाँ आवश्यक हो जाती हैं। इससे अनेक कठिनाइयाँ और समस्याएँ खड़ी होती हैं और अनुशासन की समस्याएँ भी अधिक हो जाती हैं। शिक्षा
है कि सह-शिक्षा से बालक अधिक विनयशील हो जाते हैं
शिष्टता मे कमी आ जाती है। ऐसे वातावरण में

ष्कर्ष

सह-शिक्षा के पक्ष और विपक्ष में जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे यह
ष्ट है कि इससे लाभ और हानियाँ—दोनों ही हैं। ऐसी परिस्थिति में मध्यम
र्ग अपनाना उत्तम होगा। बाल्यावस्था में ११ अथवा १२ वर्ष की आयु तक सह-
क्षा अधिक उपयोगी और लाभप्रद सिद्ध होगी। इस अवधि में बालक और
लिकाओं को साथ-साथ शिक्षा दी जा सकती है। इससे दोनों को पर्याप्त लाभ हो
कता है और शिक्षा-व्यय भी कम रहेगा। किन्तु १२ वर्ष की आयु के पश्चात् बालक
र बालिकाओं की शिक्षा-व्यवस्था अलग-अलग होनी चाहिये ताकि उनको सहशिक्षा
होने वाली हानियों से बचाया जा सके। आगे चलकर उच्च शिक्षा में दोनों फिर साथ
शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं क्योंकि तब तक उनके व्यक्तित्व में प्रौढ़ता आ जाती है
और वे अपनी प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करना सीख जाते हैं।

ऊपर जो सुझाव रखा गया है, वह आधुनिक विचारधारा के अनुसार है।
न्तु सहशिक्षा के विषय में निर्णय करते समय देश, काल, समाज एवं परिस्थितियों
र भी विचार करना उचित है। प्रत्येक समाज की अपनी विशेष संस्कृति होती है।
सके अनुसार समाज की मान्यताएँ, आकांक्षाएँ एवं परम्पराएँ होती हैं। शिक्षा को
वन से भिन्न नहीं किया जा सकता है। शिक्षा-व्यवस्था समाज की जीवनधारा के
नुरूप ही होनी उचित है, वर्ना समाज के आदर्शों, समाज की परम्पराओं और समाज
संगठनों के छिन्न-भिन्न हो जाने की आशंका उपस्थित हो जायगी। सामाजिक
तावरण का विचार यदि न किया जाएगा, तो शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति सम्भव
हो सकेगी। समाज का चेतना-सम्पन्न वर्ग स्वयं अपने सामाजिक वातावरण में
पेक्षित सुधारों की ओर उन्मुख होता है और आवश्यकता होने पर सामाजिक
तावरण को परिवर्तित करने का प्रयत्न करता है। यदि समाज सहशिक्षा की माँग
रता है तो उस माँग को पूरा करना व्यवस्थापकों का कर्तव्य है। परन्तु एक
ात स्पष्टतया समझ लेनी चाहिए कि यदि समाज विद्यार्थी-काल में बालकों और
ालिकाओं से ब्रह्मचर्य-पालन की आशा करता है, तो उसे सहशिक्षा के प्रचलन द्वारा
ह्मचर्य-विरोधी वातावरण उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए। काम-भावना इतनी
होती है कि शुष्क तर्कों द्वारा उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

अभी हमारे भारतीय समाज में सहशिक्षा पर मतैक्य नहीं है। हमारी प्राचीन
, एवं परम्पराएँ सह शिक्षा के विरुद्ध हैं। सामाजिक परिस्थितियाँ भी इसके
बाधा उपस्थित करती हैं। इस समय भारत संक्रान्ति काल में चल रहा है।
, सभ्यता एवं शिक्षा के प्रभाव से प्रभावित वर्ग प्राय. सह-शिक्षा
है। किन्तु प्राचीन संस्कृति एवं परम्पराओं के समर्थक सह-शिक्षा के
। अतः किसी एक निश्चय पर पहुँचना कठिन है। आर्थिक परिस्थितियाँ
हमको ऊपर दिया हुआ निष्कर्ष ही उचित जान पड़ता है; अर्थात्

अन्तर होना स्वाभाविक है। घरेलू कार्य, गृह-प्रबन्ध, भोजन-व्यवस्था, वस्त्र प्रबन्ध तथा सन्तान का पालन आदि सदैव से स्त्रों के विशेषाधिकार रहे हैं। शिक्षा में भी दोनों की शिक्षा में कुछ अन्तर रखना सामाजिक व्यवस्था के लिये अधिक उपयोगी होगा। विद्यालय में पढ़ाये जाने वाले सभी विषय यदि बालक-बालिकाओं लिये समान ही हों तो सम्भव है, दोनों को उनसे वांछित लाभ न हो। बालकों को उन विषयों को पढ़ाना अधिक उपयोगी होगा, जो उनके लिये अधिक उपयोगी और आवश्यक हों; और बालिकाओं के लिये उन विषयों के शिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिये, जो उनके भविष्य जीवन के लिये आवश्यक और उपयोगी हों। सह शिक्षा में इस प्रकार की सुविधा नहीं हो सकती है, अतः दोनों की शिक्षा अलग-अलग होनी चाहिए ताकि दोनों अपने-अपने सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक एवं उपयोगी विषयों की शिक्षा प्राप्त कर सकें।

(३) **स्वाभाविक, सहज गुणों का दृष्टिकोण**—समानता की जितनी भी प्रशंसा की जाय और उसके पक्ष में कितने ही नारे लगाए जाएँ, किन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रकृति में असमानता और व्यक्तिगत भेदों की प्रचुरता है। स्त्री और पुरुष के स्वाभाविक, सहज विभेदों को दूर करना—प्रकृति से विद्रोह करना है। बालिकाएँ स्वभाव से ही मृदुल एवं लज्जाशील होती हैं। यदि सहशिक्षा में बालकों की संख्या कुछ अधिक हो और बालिकाओं की कम, तो बालिकाओं के स्वाभाविक विकास में अवश्य बाधा पड़ जायगी। वे बालकों से दबी रहेंगी। इसका उलटा होने पर परिणाम भी उलटा हो जायगा और बालकों में स्त्रियोचित गुणों के उत्पन्न होने की आशंका बढ़ जायगी।

(४) **मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण**—शिक्षा बालकेन्द्रित होनी चाहिए अर्थात् बालक की आवश्यकताओं के अनुसार उसकी शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये। वंशगत संस्कारों एवं प्रकृति-प्रदत्त प्रवृत्तियों के कारण बालक और बालिकाओं की आवश्यकताएँ सम्पूर्णतः समान नहीं हो सकतीं। अतः उनकी शिक्षा भी सम्पूर्णतः समान नहीं होनी चाहिये। किशोरावस्था में उत्पन्न होने वाली लिंगीय भावनाओं का पूर्णतः निवारण नहीं हो सकता। विभिन्न वातावरणों में दोनों को पृथक्-पृथक् रखने से उन्हें नियन्त्रित करने में सुविधा होगी और उनके भीतर मानसिक ग्रन्थियों की उत्पत्ति में कमी हो जा सकेगी।

(५) **प्रशासनिक दृष्टिकोण**—छात्राओं की उपस्थिति में बालक अधिक विनयशील हो जाते हैं, यह सही नहीं है। अपने देश में छात्रों की अनुशासन हीनता का एक कारण सहशिक्षा भी प्रतीत होता है। छात्राओं के पीछे चक्कर लगाने तथा उनको देखकर आवाज कसने की शिकायतें बहुधा सुनने को मिलती हैं।

(६) सहशिक्षा से छात्रों और छात्राओं में फैशन परस्ती बढ़ती है फलतः समय का दुरुपयोग होता है और परिवारों पर वित्तीय भार बढ़ जाता है।

१४

अनुशासन-व्यवस्था

ध्याय-संक्षेप :—

प्रस्तावना; अनुशासन का अर्थ; अनुशासन एवं व्यवस्था; अनुशासन का रूप; अनुशासन के घटक तत्त्व, अनुशासन-शिक्षा के अभिकरण; अनुशासन-शिक्षा के पाय—शिक्षण, प्रशिक्षण; वातावरण-निर्माण; दण्ड व्यवस्था—दण्ड का अर्थ, दण्ड रूप, दण्ड की व्यर्थता क्यों ?, दण्ड की उपयुक्त परिस्थिति, परिस्थिति उत्पन्न कैसे ?, दण्ड-रूपों पर विचार—निन्दा (एकान्त में), सार्वजनिक निन्दा, छुट्टी के पश्चात् क, अधिकारों से वंचित कर देना, अर्थ-दण्ड, निष्कासन, शारीरिक दण्ड, सामान्य-देश; पुरस्कार-व्यवस्था—पुरस्कार के प्रयोजन, पुरस्कार के रूप, पुरस्कार की यर्थता के कारण, विद्यालय क्या करे ?, पुरस्कार · उचित या अनुचित; कक्षा में नुशासन, उपसंहार।

प्रस्तावना

किसी संगठन में चलने वाला सम्पूर्ण व्यापार अथवा क्रिया-कलाप तभी साधना को लक्ष्य की ओर अग्रसर कर सकता है, जब कि उस संगठन के सभी साधक एवं चेतन साधन अपने व्यवहारों में अनुशासित हों। उनके व्यवहार में अनुशासन-हीनता उत्पन्न होते ही सम्पूर्ण संगठन में अव्यवस्था का राज्य हो जाएगा और वह प्रगति करने के स्थान पर अधोगति के गर्त में गिरने लगेगा। आज सम्पूर्ण देश में, और विशेषतया शिक्षा-जगत् में अनुशासन-हीनता का बोल-बाला हो रहा है। इस

प्राथमिक एवं उच्चशिक्षा स्तरों पर सह-शिक्षा-व्यवस्था हो किन्तु माध्यमिक स्तर बालक और बालिकाओं की शिक्षा भिन्न-भिन्न संस्थाओं मे दी जाय।

अपने अनुभव के आधार पर एक बात हम अवश्य कहना चाहते हैं। सहशि संस्थाओं मे मौन वातावरण की गन्दगी उतनी छात्रों-छात्राओं के कारण नहीं उ होती, जितनी दुश्चरित्र अध्यापकों और अध्यापिकाओं के कारण उत्पन्न होती है। प्रधानाचार्य थोड़ा भी ढीला, असावधान अथवा अस्वस्थ जीवन-दर्शन वाला हुआ साथ में एक भी अध्यापक दुश्चरित्र हुआ, तो संस्था का मौन वातावरण दूषित बिना नहीं बचेगा। सावधान तथा दृढ़ प्रधानाचार्य तथा सदाचारी अध्यापकों उपस्थिति मे सह-शिक्षा के दोष बहुत कुछ कम हो सकते हैं।

उपसंहार

इस अध्याय मे वर्गीकरण से सम्बन्धित सामान्य सलाहें दे दी गई हैं। सी समस्याएँ तब उठती हैं, जब कार्य हाथ मे लिया जाता है। वर्गीकरण का हाथ में लेने पर जो समस्याएँ उत्पन्न होंगी, उनका समाधान प्रधानाध्यापक व अध्यापक—दोनों को सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर अपनी सूझ बूझ से ही पड़ेगा। वर्गीकरण जितना अधिक छात्रों की वैयक्तिक क्षमता के अनुकूल होगा, ही अधिक लाभान्वित होंगे।

व्यवस्थापक के रौब, दण्ड के भय अथवा पुरस्कार के लोभ के कारण होता है। ऊपर दिखाई पड़ने वाली व्यवस्था के नीचे शान्ति से बैठे व्यक्तियों के मनों में विचारों तथा भावों के तूफान और विद्रोह के बवण्डर उठ रहे हो सकते हैं। यह भी सम्भव है कि रौब, भय तथा लोभ के हटते ही व्यवस्था घोर अव्यवस्था के विस्फोट में उड़ जाए। अनुशासन की स्थापना हो जाने पर यह सब कुछ नहीं हो सकता। वहाँ तो जो स्थिति बाहर दिखाई पड़ती है, वही वस्तुतः भीतर भी होती है।

अनुशासन का स्वरूप

ऊपर के अनुच्छेद में हमने "शिक्षा अथवा आत्मालोचन के परिणामस्वरूप व्यवहार में स्वयं उत्पन्न हो जाने वाली नियमानुवर्तिता" को अनुशासन कहा है। इस अर्थ से ही स्पष्ट है कि अनुशासन का स्वरूप समाज-सापेक्ष होता है क्योंकि समाज ही व्यक्ति के लिए व्यवहार-नियमों का निर्माण करता है। यदि व्यक्ति भी अपने लिए नियम बनाता है, तो वह समाज को दृष्टि में रखकर ही बनाता है।

इसी बात से यह परिणाम भी निकलता है कि प्रत्येक प्रकार के समाज के लिए अनुशासन का स्वरूप समान नहीं हो सकता। प्रत्येक समाज में कतिपय व्यवहार-नियम होते हैं और वह अपने प्रत्येक घटक से आशा करता है कि वह उनका अपने व्यवहार में पालन करे। जो व्यक्ति उन नियमों का पालन नहीं करता, वह उस समाज में अनुशासन-हीन कहलाता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि उस विशेष प्रकार का व्यवहार करता हुआ वह अन्य समाजों में भी अनुशासन-हीन कहलाए। वर्तमान भारतीय समाज में यदि कोई व्यक्ति अपनी पत्नी या बहन को सार्वजनिक रूप में चूम ले, तो उसे असभ्य और अनुशासन-हीन माना जाएगा परन्तु पश्चिमी देशों में उसे साधारण व्यवहार का अङ्ग मानकर इस व्यवहार पर कोई आपत्ति न उठाएगा।

अनुशासन के स्वरूप का समाज की शासन-व्यवस्था के साथ गहरा सम्बन्ध होता है। यदि समाज में एकतन्त्रीय अथवा वर्गतन्त्रीय व्यवस्था प्रचलित हो, तो उसमें अनुशासन का स्वरूप उस समाज से नितान्त भिन्न होगा, जिसमें प्रशासन-व्यवस्था जनतन्त्रीय होती है। एकतन्त्रीय व्यवस्था वाले समाज में कतिपय मूर्धन्य व्यक्तियों को छोड़कर शेष सभी व्यक्तियों को आज्ञा-परायण बनकर रहना पड़ता है। जिन आज्ञाओं का उन्हें पालन करना पड़ता है, उनके निर्धारण में उनका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष किसी भी प्रकार का हाथ नहीं होता। ऐसे समाज में प्रश्न करना, आपत्ति उठाना, वाद-विवाद करना तथा संदेह व्यक्त करना अनुशासन-हीनता के चिन्ह माने जाते हैं और इनके लिए व्यक्ति को दण्ड का भागी बनना पड़ता है। जनतन्त्रीय समाज में स्थिति इसके बिलकुल विपरीत होती है। उसमें प्रत्येक व्यक्ति को उसको प्रभावित करने वाले सब निर्णयों तथा उनको क्रियान्वित करने वाली प्रक्रियाओं में स्वयं अथवा अपने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रतिनिधियों द्वारा भाग लेने का पूरा-पूरा अधिकार होता है। उस व्यवस्था में प्रश्न करना, आपत्ति उठाना, वाद-विवाद करना तथा संदेह व्यक्त

पुस्तक की उपयोगिता बढ़ाने के साथ-साथ व्यापक रूप से देश मे फैली हुई अनुश
हीनता की समस्या के विषय मे छात्राध्यापको को आवश्यक जानकारी देने के
इस अध्याय का आरम्भ किया जा रहा है।

'अनुशासन' का अर्थ

'अनुशासन' शब्द आजकल एक नवीन अर्थ मे प्रयुक्त हो रहा है। मूलत'
शब्द संस्कृत भाषा का है। वहाँ इसका अर्थ 'उपदेश'[1] है। परन्तु अब इसका प्र
अंग्रेजी भाषा के 'डिसिप्लिन' शब्द के पर्यायवाची के रूप मे किया जाता है। सं
भाषा मे इस अर्थ मे 'विनय'[2] शब्द का प्रयोग होता था। उस अर्थ मे 'विनय' श
अब प्रचलित नही रहा है अतः हम अनुशासन शब्द का ही प्रयोग करते ह
आगे बढ़ेंगे।

अंग्रेजी भाषा का 'डिसिप्लिन' शब्द 'डिसाइपल' से बना है, जिसका अ
होता है 'शिष्य'। शिष्य गुरु के चरणो मे श्रद्धा-पूर्वक रहता है (था) और उसक
उपदेशो को नम्रता पूर्वक मानकर उनके अनुसार जीवन बिताता हुआ अपने जीवन
मे कतिपय गुणो का आधान करता है। डिसाइपल अर्थात् शिष्य की इस वृत्ति को
दृष्टि मे रखते हुए यदि सोचा जाए, तो 'डिसिप्लिन' शब्द का अर्थ 'शिष्यवृत्तिता'
होगा। इसी अर्थ-साम्य के आधार पर इस शब्द का अर्थ—'शिक्षा एवं आत्मालोचन के
परिणाम स्वरूप व्यवहार मे स्वयं उत्पन्न हो जाने वाली नियमानुवर्तिता' माना जाता
है। यही अर्थ 'अनुशासन' का समझना चाहिए। 'विनय' शब्द का भी वस्तुतः यही
अर्थ है।

अनुशासन एवं व्यवस्था[3]

साधारणतया अनुशासन का अर्थ 'व्यवस्था' समझा जाता है। जब अध्यापक
कक्षा मे अनुशासन स्थापित करता है, तो प्रकटतः वह व्यवस्था ही स्थापित करता है;
परन्तु वस्तुतः अनुशासन एवं व्यवस्था दो भिन्न वस्तुएँ हैं। जहाँ अनुशासन होता है,
वहाँ व्यवस्था अवश्य रहती है। परन्तु जहाँ व्यवस्था हो वहाँ अनुशासन भी रहे, यह
आवश्यक नहीं है। अनुशासित व्यक्ति आत्म-नियन्त्रित होता है। उचितानुचित-विवेक
के कारण वह अपने व्यवहारो को जान-बूझकर या स्वभाववश नियन्त्रण मे रखता
है। इसी कारण अनुशासन और व्यवस्था साथ साथ रहते हैं परन्तु व्यवस्था का अन

---

१. वेदमनूच्य प्राचार्योन्तेवासिनमनुशास्ति—तैत्तिरीय उपनिषद्।
अथ शब्दानुशासनम्—महाभाष्य।
अथ योगानुशासनम्—योगदर्शन।
२. विद्या-विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि—गीता।
विद्या ददाति विनयम्—पञ्चतन्त्र।
3. Order.

नामान्वित करने के लिए यह आवश्यक है कि पहले समाज के मन को उन गुणों और विशेषताओं को देखने, सुनने, समझने तथा मान्यता देने के लिए तैयार कर लिया जाए। अनुशासित व्यक्ति ही अपने व्यवहार के समाज के मन को अपनी ओर उन्मुख कर सकता है। कोई समाज किसी व्यक्ति के गुणों आदि का पूरा पूरा लाभ तभी उठा सकता है, जब उसमें अनुशासन हो। अनुशासन-रहित समाज में सबसे पहले लाभ उठाने के लिए धमाचौकड़ी मचेगी, उसमें लाभ उठाने का तो प्रश्न ही दूर है, लाभ देने वाला व्यक्ति ही सुरक्षित न रह पायगा। अनुशासित व्यक्ति समाज को अनुशासित रहने की प्रेरणा देता हुआ उसमें अनुशासन के अनुकूल वातावरण बनाता है।

समाज की दृष्टि से सोचने पर भी अनुशासन का ऐसा ही महत्त्व दृष्टिगोचर होता है। अनुशासन समाज का सत्ताधायक होना गुण है। अनुशासन के बिना व्यक्ति की सत्ता अवश्य रहेगी, यह दूसरी बात है कि वह समाज से लाभान्वित न हो सके अथवा अपने गुणों से समाज को लाभान्वित न कर सके। परन्तु अनुशासन के बिना समाज समाज न रहकर भीड़ बन जाएगा। प्रत्येक समाज वस्तुतः उसी सीमा तक समाज है, जिस सीमा तक वह किन्हीं नियमों, सिद्धान्तों अथवा मान्यताओं के अनुशासन में बँधा हुआ है। अनुशासन-बद्ध समाज ही अपने घटक—व्यक्तियों का अपने व्यक्तित्व को पूरी तरह विकसित करने, अपने अधिकारों का उपभोग करने, अपने कर्त्तव्यों का पालन करने तथा अपने गुणों और योग्यताओं से अन्यों को लाभान्वित करने का अवसर दे पाता है। अनुशासित समाज ही अनुशासन मय वातावरण बनाकर अपने घटकों के लिए अनुशासनबद्ध रहने की प्रेरणा तथा अवसर प्रस्तुत कर पाता है। अनुशासन में बँधकर ही समाज अपने घटकों के गुणों और योग्यताओं से लाभान्वित होते हुए अनुशासन हीन व्यक्तियों का दमन कर पाता है। जब अन्य समाजों के साथ संघर्ष का अवसर उपस्थित हो पड़ता है, तब अनुशासित समाज ही संघर्ष में विजयी होकर अपनी सत्ता और स्वाभिमान की रक्षा कर पाते हैं।

व्यक्ति और समाज–दोनों की दृष्टि से जो कुछ ऊपर कहा गया है, उसे संस्कृत के एक कवि ने बहुत ही संक्षेप में "विनय (अनुशासन) से व्यक्ति (और समाज दोनों) को पात्रता प्राप्त होती है,"[1] इस प्रकार कह दिया है। किसी भी लाभ का पात्र बन जाने पर वह मिलता ही है, इसको सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। इसी कारण प्राचीन लोग विनय को विद्या का फल मानते थे। उनकी सम्मति में वह विद्या, जो व्यक्ति में विनय नहीं उत्पन्न करती, वह व्यर्थ ही नहीं भार होती है। विनय का उनकी दृष्टि में इतना महत्व था कि उन्होंने अविनीत शिष्य को विद्यादान करने का स्पष्ट निषेध[2] किया हुआ था।

---

१. विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् ॥—पञ्चतन्त्र ॥

करना न केवल सहन किया जाता है अपितु उसके लिए नागरिकों को प्रशंसा की जाती है। फलतः किसी भी नागरिक के प्रश्न करने आदि को अनुशासन-हीनता बिलकुल नहीं माना जाता।

अनुशासन के स्वरूप की सामाजिकता के आधार पर ही विभिन्न देशों तथा कालों के विद्यालयों में माने जाने वाले अनुशासन के स्वरूप को समझा जा सकता है। प्राचीन यूनान के इतिहास में स्पार्टा तथा एथेन्स राज्यों तथा उनके विद्यालयों का वर्णन मिलता है। स्पार्टा राज्य पूर्णतया समाजवादी राज्य था। उसमें व्यक्ति को उतनी ही स्वतन्त्रता प्राप्त थी, जितनी कि समाज के हित में आवश्यक मानी जाती थी। उसमें प्रत्येक व्यक्ति से आशा की जाती थी कि वह बिना ननु-नच के निष्ठावान् सैनिक की भाँति राज्य की आज्ञाओं का पालन करे। एथेन्स राज्य इसके बिलकुल विपरीत एक जनतान्त्रिक राज्य था। उसके नागरिक समुचित विचार-विनिमय के उपरान्त प्रत्येक बात का निर्णय करते थे। अपने-अपने समाजों की इस स्थिति के के कारण ही उनके विद्यालयों में अनुशासन के विभिन्न रूप प्रचलित थे। स्पार्टा विद्यालयों में आज्ञापालन तथा कठोर दण्ड का बोलबाला था, जबकि एथेन्स विद्यालय व्यक्ति को अधिकाधिक स्वतन्त्रता देकर सत्य के शोध और व्यक्तित्व के सर्वतोमुखी विकास के लक्ष्य को लेकर चलते थे।

अपने देश में ही बौद्धकाल के विद्यालयों तथा मुसलमानी शासन के मकतबों और मदरसों के जो वर्णन मिलते हैं, उनको उनके समकालीन समाजों के वर्णनों के साथ मिलाकर पढ़ने में भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि अनुशासन का स्वरूप देश और काल की भिन्नता के साथ बदलता रहता है। यही कारण है कि अंग्रेजी शासन-काल में अनुशासन का जो स्वरूप माना जाता था, वह अब जनतन्त्रीय भारत में नहीं माना जाता। अंग्रेजों के शासन-काल में समाज-रचना का आदर्श जनतन्त्रीय नहीं था और अब वह निश्चित रूप से जनतन्त्रीय है।

अनुशासन का महत्त्व

अनुशासन का स्वरूप चाहे जो हो, परन्तु वह व्यक्ति और समाज—दोनों के लिए है आवश्यक। यह बात आज भी सच है, अतीत में भी सच थी, और भविष्य में भी सच ही रहेगी। यदि हम व्यक्ति की दृष्टि से विचार करें, तो कह सकते हैं कि अनुशासित व्यक्ति ही अपने समाज द्वारा प्रदत्त सुविधाओं का पूरा-पूरा लाभ उठाने तथा उसे अपने गुणों और विशेषताओं से लाभान्वित करने में समर्थ हो पाता है। अनुशासित व्यक्ति को ही गुरुजन अथवा अन्य अनुभवी व्यक्ति अपना ज्ञान अथवा अनुभव देना चाहते हैं। अनुशासित व्यक्ति ही उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान और अनुभव को उचित वृत्ति के साथ श्रवण तथा ग्रहण कर सकता है। अनुशासित व्यक्ति ही कम ...ा श्रम और समय को व्यय करते हुए उन अनुभवों को अपने व्यवहार तथा

परन्तु इस अनुशासन के पीछे साधारणतया अनुभूति का अभाव रह
साधारणतया उसके पीछे प्रेरणा दण्ड भय की रहती है, कर्तव्यानुभूति की नह
कारण यह अनुशासन वास्तविक अनुशासन की अपेक्षा व्यवस्था के अधिक पास
है। किसी के व्यवहार मे वास्तविक अनुशासन उत्पन्न करने के लिए यह आव
कि ज्ञान को अनुभूति मे बदल दिया जाय जिससे तदनुसार व्यवहार की प्रेरणा
से उठने लगे और जीवन सच्चे अर्थो मे अनुशासित हो जाए।

अनुशासन के द्वितीय घटक तत्त्व के रूप मे हमने "अनुभूति" को
है। किसी विशेष अवसर पर विशेष प्रकार का व्यवहार किसी व्यक्ति को
और सामाजिक—इन दो रूपो म उचित प्रतीत हो सकता है। किसी विशेष अव
किसी विशेष प्रकार का व्यवहार यदि व्यक्तिगत रूप से लाभदायक अथवा सुवि
प्रतीत होता है, तो प्रत्येक व्यक्ति उसे अपने अभ्यास का विषय बनाना चाहेगा
प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार व्यक्तिगत लाभ अथवा सुविधा को ही साध्य मान
दे, तो समाज मे घोर अनुशासन-हीनता फैल जायगा। समाज द्वारा
मर्यादाएँ बहुधा व्यक्ति को तात्कालिक सुख-सुविधा के विरुद्ध बैठती है। यदि
व्यक्ति उनका जब उचित समझे, तब उल्लंघन करने लगे, तो समाज मे अनुशा
ही कहाँ जायगा ? अनुशासन के द्वितीय घटक तत्त्व के रूप म जिस अनुभूति
चर्चा की है, उसका अभिप्राय "समाज के साथ पूर्ण एकात्मकता का अनुभव
के कारण व्यक्तिगत व्यवहारो एव आचरणो के विषय मे उत्पन्न सामाजिक
की अनुभूति" से है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति के सुख दुख और सुविधा-असु
अपना सुख-दुख और सुविधा-असुविधा मानकर उचित और अनुचित का निर
अनुभूति के पश्चात् हो पाता है। इस अनुभूति के जग जाने के पश्चात् व्यक्ति
मे भी अनुचित कार्य नहीं करता। ऐसी स्थिति को अनुशासन की सच्ची स्थि
जाता है।

अनुशासन-शिक्षा के अभिकरण[1]

अनुशासन-शिक्षा को भी औपचारिक[2] तथा अनौपचारिक[3] भेद से दो
का कहा जा सकता है। *अनुशासन की औपचारिक शिक्षा विद्यालय मे दी*
और अनौपचारिक शिक्षा परिवार आदि सामाजिक सस्थाओ मे। इन सब मे
सबसे मुख्य अभिकरण है क्योकि इसकी स्थापना एव सचालन सामाजिक स
अगली पीढ़ी मे पहुँचाने तथा उसमे सामाजिक कुशलता को उत्पन्न करने के
किया जाता है। अनुशासन के बिना सामाजिक कुशलता कल्पना भी
जा सकती, यह तो स्पष्ट ही है।

अनुशासन शिक्षा के अभिकरणो मे विद्यालय को सम्भवत: ...

अनुशासन के घटक तत्त्व

छात्रों के व्यवहार को अनुशासन-बद्ध बनाना विद्यालय का एक महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। उनमें यह विशेषता किस प्रकार उत्पन्न हो सकती है, यह जाने बिना अध्यापक तथा प्रधानाध्यापक अपने उत्तरदायित्व को पूरा नहीं कर सकते। इस विषय में सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि अनुशासन के घटक तत्त्व कौन-कौन से होते हैं।

अनुशासन का प्रथम घटक तत्त्व "ज्ञान" है। जिस व्यक्ति के जीवन व्यवहारों में अनुशासन का आधान करना अभीष्ट हो, उसे सबसे पहले यह ज्ञात हो जाना चाहिए कि किस देश और किस काल में किस प्रकार का व्यवहार किया जाना चाहिए और उस देश और उस काल में उस प्रकार का व्यवहार करना किन-किन कारणों से उचित माना जाता है। यह ज्ञान अनुशासन की बौद्धिक पृष्ठभूमि तैयार करता है। अनुशासन का दूसरा घटक तत्त्व है "अनुभूति"। केवल ज्ञान व्यवहार में परिवर्तन नहीं कर पाता। ज्ञान तभी व्यवहार में परिवर्तन कर पाता है, जब वह विश्वास का विषय बन जाय। विश्वास का विषय बनाने के लिए उसे अनुभूति का विषय बनाना पड़ता है। अनुभूति का विषय बनते ही व्यक्ति सोचने लगता है कि विशिष्ट देश-काल में विशिष्ट प्रकार का व्यवहार करना वस्तुतः दूसरों के साथ साथ मेरे लिए भी उचित है। अनुभूति से शून्य केवल ज्ञान इस मनःस्थिति को उत्पन्न करने में एकदम असमर्थ होता है। अनुशासन का तीसरा घटक तत्त्व है "अभ्यास"। बहुत से व्यवहारों के विषय में हम जानते हैं कि उनका आचरण करना उचित है परन्तु उन्हें कर नहीं पाते। यदि उस-उस परिस्थिति में उचित प्रकार के आचरण का अभ्यास कर लिया या करा दिया जाए, तो वह आदत का अंश बन जाता है। फलतः उचित परिस्थिति उत्पन्न होने पर वह स्वयं होने लगता है और ज्ञान तथा अनुभूति अप्रत्यक्षतः उस होने में सहायता करते रहते हैं। किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व में जिस किसी व्यवहार के विषय में ये तीनों तत्त्व उत्पन्न हो जायेंगे, उसके विषय में उसका व्यवहार निश्चित रूप से अनुशासित हो जायगा।

संसार में सैनिकों का अनुशासन प्रसिद्ध है। एक निश्चित ढंग से उठना, बैठना, चलना, काम करना तथा व्यवहार करना सैनिक—अनुशासन की विशेषताएँ होती हैं। अपने अधिकारी का आदेश प्राप्त होते ही अनुशासन के नाम पर सैनिक अपने जीवन को भी संकट में डाल देते हैं। इस सैनिक अनुशासन के पीछे ज्ञान तथा अभ्यास तत्त्वों की प्रधानता रहती है। ऊपर की पंक्तियों में हमने विशेष अवसरों पर विशेष प्रकार के व्यवहार के तथा उसके कारण के ज्ञान को अनुशासन का प्रथम घटक तत्त्व कहा है। सेना में इस द्विविध ज्ञान को देकर उसका खूब अभ्यास कराया जाता है। वहाँ किसी व्यवहार का इतना अभ्यास कराया जाता है कि वह अभ्यास

साथ कर्माभ्यास (Practice) मिला देने से प्रशिक्षण का स्वरूप बनता है। प्रशिक्षण के बिना शिक्षण आचरण में परिणत नहीं हो पाता।

प्रशिक्षण को सुचारु रूप से चलाने के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक होती हैं —

(१) वातावरण-निर्माण, (२) दण्ड व्यवस्था, (३) पुरस्कार-व्यवस्था।

हम इनकी एक-एक करके विस्तृत चर्चा करेंगे। यथा—

१. वातावरण-निर्माण

वातावरण-निर्माण से तात्पर्य ऐसी परिस्थितियों का उत्पादन है, जिनमें छात्र के सम्मुख उचित प्रकार के व्यवहार के आदर्श ही बारम्बार प्रस्तुत हों, अनुचित प्रकार के आदर्श या तो प्रस्तुत ही न हों, या कम से कम प्रस्तुत हों। उचित प्रकार से व्यवहार करता हुआ ही वह अपने अधिकारों का उपभोग कर सके, और अनुचित व्यवहार उसे पग-पग पर निन्दा और असहयोग का पात्र बना दे।

इस प्रकार की परिस्थितियों के निर्माण की पहली आवश्यकता यह है कि विद्यालय के प्रधानाध्यापक, अध्यापक तथा सभी कर्मचारियों के व्यक्तिगत आचरण एवं संस्थागत तथा सामाजिक व्यवहार बिलकुल वैसे ही हों, जैसे कि वे अपने छात्रों के बनाना चाहते हों। दुर्भाग्यवश इस महामत्य की ओर आज के अनेक अध्यापकों तथा प्राध्यापकों का ध्यान नहीं है। प्राथमिक पाठशालाओं से लेकर विश्वविद्यालय तक के अध्यापकों के आचरणों तथा व्यवहारों का यदि सर्वेक्षण किया जाए, तो स्पष्टतया दिखाई पड़ेगा कि आज के छात्रों के हृदय में अपने गुरुजनों के प्रति जो अश्रद्धा का भाव है, उसका बहुत कुछ कारण अध्यापकों तथा प्राध्यापकों के अपने आचरण एवं व्यवहार हैं। समय पर न आना, आकर कक्षा में गप्पें हाँकते रहना, अपने विषय की तैयारी के साथ न पढ़ाना, पिछड़े हुए छात्रों के साथ सहानुभूति न रखना, ट्यूशनों के पीछे साथी अध्यापकों के साथ झगड़ा करना, ट्यूशन वाले छात्रों को अधिक अंक दे डालना या दिलवाना, छात्रों और छात्राओं के साथ अनैतिक सम्बन्ध रखना और उनके साथ पक्षपात करना, अपने साथी अध्यापकों की निन्दा करते फिरना, साथियों तथा प्रधानाध्यापक के साथ असहयोग करना तथा प्रबन्धकों की चापलूसी करते फिरना आदि न जाने कितनी शिकायतें प्रतिदिन अध्यापकों के विषय में सुनी जाती हैं। इस प्रकार की शिकायतों में फँसे हुए अध्यापक संस्था में कभी अनुकूल वातावरण का निर्माण नहीं कर सकते। किस प्रकार के अध्यापक अनुशासनोपयोगी वातावरण का निर्माण कर सकते हैं, इसकी चर्चा "विद्यालय के साधक" शीर्षक अध्याय में की जा चुकी है। पाठक वहीं देख लें।

वातावरण-निर्माण की दूसरी आवश्यकता—परम्परा-निर्माण है। विद्यालय में जिस प्रकार का आचरण छात्रों तथा अध्यापकों की ओर से अभीष्ट माना जाए, वैसे आचरण की परम्पराएँ डाल दी जानी चाहिए। परम्पराएँ संस्था की आदतें होती

पूर्ण सिद्ध होते हैं। उनमें औपचारिकता की कमी होने के कारण वे अनुकरण और स्वतन्त्र अभ्यास के लिए अधिक अच्छा अवसर प्रदान करते हैं। यदि सीखने वाले व्यक्ति को विद्यालय ने विशेष सावधान न बना दिया हो, तो उनके द्वारा मन पर छोड़े हुए संस्कार विद्यालय द्वारा दिये हुए संस्कारों की अपेक्षा कहीं अधिक बलवान सिद्ध होते हैं। गंदे-गंदे गीत तथा भद्दी-भद्दी गालियाँ बच्चों को विद्यालय में नहीं सिखाई जाती हैं, वे शिक्षा के अन्य अभिकरणों में ही उन्हें सीखते हैं। अनुशासन की वास्तविक शिक्षा तो तभी हो पाती है, जब सभी अभिकरण परस्पर सहयोग करते रहें।

अनुशासन-शिक्षा के उपाय

अनुशासन-शिक्षा के दो उपाय हैं—पहला शिक्षण और दूसरा प्रशिक्षण। इन दोनों के विषय में आवश्यक जानकारियाँ नीचे की पंक्तियों में दी जा रही हैं—

१. शिक्षण—इस शब्द का प्रयोग हम यहाँ कुछ संकुचित अर्थों में कर रहे हैं। यहाँ हमारा तात्पर्य केवल छात्रों को यह बता देने से है कि किस अवसर पर किस प्रकार का व्यवहार उचित माना जाता है और उस प्रकार के व्यवहार को उस विशेष अवसर पर उचित मानने के क्या-क्या कारण होते हैं। यह अनुशासन-शिक्षा का बौद्धिक पक्ष है। इसको कम महत्व नहीं दिया जाना चाहिए। बहुत से बच्चे ऐसे असंस्कृत एवं अशिक्षित परिवारों से आते हैं, जहाँ उन्हें सभ्य समाज में उचित समझे जाने वाले व्यवहारों की कोई शिक्षा नहीं मिल पाती। फलत. वे यह न जानते हुए कि वे अनुशासन भंग कर रहे हैं, अनुशासन विरुद्ध आचरण कर जाते हैं। इस कारण अनुशासन-शिक्षा का आरम्भ इसी प्रकार के शिक्षण से होना चाहिए।

अनुशासन-शिक्षा-विषयक बौद्धिक शिक्षण का दूसरा अंश है—"व्यवहार के औचित्य का कारण बताना।" यह भी अत्यन्त आवश्यक है। किसी अवसर पर कोई व्यवहार क्यों उचित माना जाता है, यह बात युक्तिपूर्वक समझा देने से छात्रों में ऐसा व्यवहार विवेक उत्पन्न हो जाता है कि उसके आधार पर वे नई परिस्थितियों में उचित व्यवहार का निश्चय सफलता के साथ कर लेते हैं। शिक्षण के इस अंश के अभाव में पहले मिले हुए व्यवहार निर्देश के आधार पर स्वयं बनाये हुए व्यवहार-सूत्रों के सहारे छात्र नई परिस्थितियों में मनचाहा आचरण करते हैं। वे आचरण कभी अनुचित हो जाते हैं और कभी उचित। वस्तुतः अनुचित व्यवहारों के पीछे उनका कोई भावना दोष नहीं होता। समुचित व्यवहार सूत्र के अभाव में उनसे दुर्व्यवहार हो जाता है। इस दुर्भावना को पूर्णतया समाप्त करने के लिए शिक्षण का यह अंश अत्यन्त आवश्यक होता है। सम्पूर्ण शिक्षण के विषय में एक यह बात अवश्य ध्यान

हैं। नवागन्तुक व्यक्ति परम्पराओं के सहारे बहुत से काम दूसरों को देखकर करने लगते हैं। इससे बार-बार समझाने, टोकने तथा सुधारने का श्रम तथा कटुता—दोनों बच जाते हैं और वातावरण अनुकूल बना रहता है।

वातावरण-निर्माण की तीसरी आवश्यकता—विद्यालय में विविध पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाओं का जनतन्त्रीय आयोजन है। कक्षा में छात्रों को ज्ञान दिया जा सकता है परन्तु उसके अभ्यास का अवसर उन्हें वहाँ नहीं मिलता है। वहाँ तो अध्यापक के भय अथवा प्रभाव के कारण वे उचित प्रकार का व्यवहार करते रहते हैं। वहाँ जो अभ्यास उन्हें विवशता में मिल जाता है, उसे प्रशिक्षण की अपेक्षा शिक्षण कहना ही अधिक उचित होगा। छात्रों को विद्यालय छोड़ने के पश्चात् समाज में जाना होगा, जहाँ उन पर अध्यापक का-सा कोई नियन्त्रण नहीं होगा। समाज में छात्र अनुशासन-पूर्वक रह सकें, इसके लिए यह आवश्यक है कि समाज जैसी परिस्थितियों में ही रखकर उन्हें प्रशिक्षण दिया जाए। यह प्रशिक्षण उन्हें पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाओं के माध्यम से ही दिया जा सकता है।

अनुशासन-बद्ध व्यवहार के लिए जिस सामाजिक एकात्मकता की अनुभूति की चर्चा हम ऊपर की पंक्तियों में कर चुके हैं, उसकी उत्पत्ति छात्रों में पाठ्यक्रम-सहगामिनी क्रियाओं में भाग लेते हुए स्वतः ही होने लगेगी। वहाँ वे विभिन्न पदों पर काम करेंगे। कहीं वे साधारण सदस्य होंगे और कहीं पदाधिकारी। पदाधिकारियों के रूप में उन्हें अन्यों का सहयोग लेना पड़ेगा और साधारण सदस्य के रूप में उनसे आशा की जाएगी कि वे अन्यों के साथ सहयोग करें। अच्छे कार्य के लिये उन्हें प्रशंसा मिलेगी और ढीले-ढाले रही कार्य के लिए आलोचना। इस प्रकार वे व्यक्ति और समाज के अभेद का स्पष्टतया अनुभव कर लेंगे और समझ जाएँगे कि समाज-विरोधी कार्य अन्त में अपने ही विरोधी सिद्ध होते हैं। जैसे ही किसी व्यक्ति को व्यक्ति और समाज की एकात्मकता का अनुभव हो जाता है, वह स्वप्न में भी समाज-विरोधी कार्य नहीं कर सकता।

पाठ्यक्रम सहगामिनी-क्रियाओं के आयोजन में यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए कि वह जनतन्त्रीय हो। यदि उनका आयोजन एकतन्त्रीय ढंग से आदेशों के सहारे किया गया, तो उनसे छात्रों को आज्ञा-पालन का प्रशिक्षण तो मिलेगा, अनुशासन का नहीं। जनतन्त्रीय समाज के उपयुक्त नागरिकों के निर्माण के लिए केवल आज्ञा-पालन का प्रशिक्षण पर्याप्त नहीं हो सकता।

वातावरण-निर्माण की चौथी आवश्यकता—अनिवार्य छात्रावास-व्यवस्था अथवा समाज-विद्यालय सहयोग है। छात्रों को अनुशासन का प्रशिक्षण देने के लिए यह भी आवश्यक है कि उनको दिन-रात के चौबीसों घण्टों में कभी भी न तो अवांछनीय

होना ही चाहिए, जब तक उनके विचार और आचार परिपक्व न हो जाएँ। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए आवश्यक है कि छात्र छात्रावास मे ही रहें और पूर्णतया अनुशासित जीवन बिताएँ। छात्रावास जीवन के लाभों की चर्चा "छात्रावास" शीर्षक अध्याय ८ की हो जा चुकी है। यदि छात्रावासो की अनिवार्यता न की जा सके, तो समाज और विद्यालय मे जीवित सहयोग रहना चाहिए। विद्यालय समाज में चलने वाले व्यवहारों के आधार पर ही अनुशासन का स्वरूप निर्धारित करें और समाज विद्यालयो द्वारा निर्धारित स्वरूप को अपने व्यवहारों में मान्यता दे। परिवारो को इस विषय मे विशेष सावधान रहना होगा। उनका यह कर्तव्य होगा कि वे विद्यालयों के पूरक के रूप मे ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करें, जिनमें छात्रो को विद्यालयों में दी हुई शिक्षा का न केवल अभ्यास का अवसर मिले अपितु उनके विरोधी संस्कार उनके मन पर न पड़ सकें।

आज के युग मे छात्रो की अनुशासन-हीनता की जो शिकायत बार-बार की जाती है, उसका कारण जहाँ एक ओर अध्यापक वर्ग मे फैली हुई आदर्श-हीनता है, वहाँ दूसरी ओर परिवारों और समाज की उदासीनता भी है। अभिभावक एवं समाज छात्रो को विद्यालय में प्रविष्ट करा के अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। वे अपने आचरणों और व्यवहारो के साथ अपने सम्पर्क मे रहने वाले छात्रो के आचरणों और व्यवहारो का कोई सम्बन्ध नहीं अनुभव करते और अपने व्यवहारों में नितान्त उच्छृङ्खल बने रहते हैं। इतना ही नही, कभी-कभी तो छात्रो के सामने विद्यालयो की आलोचना करने तथा अध्यापकों को गालियाँ देने लगते हैं। अभिभावकों तथा समाज के ऐसे व्यवहार के होते हुए छात्रों की अनुशासन-हीनता की शिकायत करना बिलकुल व्यर्थ है। यदि छात्रावास-व्यवस्था अनिवार्य नहीं की जा सकती, तो समाज और विद्यालय मे प्रतिसहयोग अत्यन्त आवश्यक है और उसका स्वरूप भी स्पष्टतया यह होना चाहिए कि समाज अपने व्यवहारो मे इतना आत्म-नियन्त्रित हो जाए कि वह छात्रो के लिए आदर्श छात्रावास का स्थान ले ले।

वातावरण निर्माण की पाँचवीं आवश्यकता है—ऐसी परिस्थिति का उत्पादन, जिसमे अनुशासन-विरोधी व्यवहार के साथ भय का, और आदर्श व्यवहार के साथ प्रसन्नता का सम्बन्ध जुड़ा रहे। विद्यालय समाज का संक्षिप्त रूप होता है, यह कई बार कहा जा चुका है। जैसे समाज मे ऐसे तत्व होते हैं, जिनके ऊपर समझाने- [illegible] का कोई प्रभाव नही पड़ता और जो निरन्तर समाज-विरोधी कार्यों मे लगे [illegible] विद्यालय मे भी कुछ छात्र ऐसे हो सकते हैं, जो सम्पूर्ण शिक्षण तथा [illegible] की उपेक्षा करके भी अनुशासन-भंग करते रहें। ऐसे व्यक्ति या तो [illegible] लोभ के। ऐसे व्यक्तियो के लिये भय दण्ड-व्यवस्था [illegible] उत्पन्न किया जाता है। वस्तुतः ये दोनो [illegible] हैं [illegible] की ही [illegible] इनकी चर्चा बहुत महत्त्वपूर्ण [illegible] के विषय मे जानकारी विशेष

अवधान के साथ प्राप्त की जानी चाहिए, इसलिए भी हमें इसको इस प्रकार चर्चा करना उचित प्रतीत हो रहा है।

२. दण्ड-व्यवस्था

दण्ड का अर्थ—दण्ड देने का अर्थ होता है—किसी भी प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक दुख पहुँचाना। दण्ड देकर आशा की जाती है कि दण्डित व्यक्ति दुख अथवा अपमान के भय से अनुचित कार्य से विरत रहेगा और जिन व्यक्तियों को ज्ञात होगा कि अमुक प्रकार के कार्य के परिणामस्वरूप अमुक प्रकार का दुख भोगना पड़ सकता है, वे भी उस प्रकार के कार्य करने का साहस नहीं करेंगे।

दण्ड के रूप—अपराधी व्यक्ति को कठोर वाक्य कहने से लेकर प्राणों से वियुक्त कर देने तक दण्ड की सीमा होती है। विद्यालय में दण्ड की अन्तिम सीमा विद्यालय से पृथक् कर देने तक रहती है। विद्यालय-समाज से किसी को पृथक् कर देना उस समाज की दृष्टि से एक प्रकार का मृत्युदण्ड ही होता है क्योंकि उसके बाद उस समाज के लोग समाज के सदस्य के रूप में उसे फिर नहीं देख सकते। इन सीमा के भीतर विद्यालय में एकान्त में अथवा सभी के सामने डाँटना, स्थान बदल देना, विद्यालय के समय के बाद रोक लेना, सुविधा छीन लेना, जुर्माना कर देना, शारीरिक दण्ड देना तथा विद्यालय से अस्थायी रूप में अथवा स्थायी रूप में पृथक् कर देना आदि दण्ड-रूप प्रचलित होते हैं।

दण्ड की विफलता क्यों?—इस विषय में विचित्र बात यह है कि विद्यालयों में सभी प्रकार के दंड चल रहे हैं, फिर भी देश में छात्रों की अनुशासन-हीनता की शिकायत बढ़ती ही चली जा रही है। "मर्ज बढ़ता गया, ज्यों ज्यों दवा की"—यह कहावत इस विषय में पूरी तरह लागू होती है। इस परिस्थिति को देखकर एक बात तो बिलकुल स्पष्ट ही है कि या तो सफलतापूर्वक दण्ड देने के लिए जिन परिस्थितियों की आवश्यकता होती है, उनका निर्माण नहीं हो पाता अथवा दंड ही गलत प्रकार के होते हैं अथवा उनका प्रयोग गलत ढंग से किया जाता है। वाछनीय परिणाम न निकलने पर और सोचा भी क्या जा सकता है?

दण्ड के लिए उपयुक्त परिस्थिति—किसी छात्र को दण्ड देने की उपयुक्त परिस्थिति उत्पन्न हुई तब मानी जा सकती है, जबकि छात्र यह अनुभव करने लगे कि उसने जो कुछ किया, दण्ड उसका स्वाभाविक परिणाम है और दंड देने वाला व्यक्ति दंड देकर उसके साथ अन्याय नहीं, कृपा कर रहा है। उसके मन में यह विश्वास अवश्य उत्पन्न कर दिया जाना चाहिए कि उसे दंड द्वेषवश नहीं दिया जा रहा है।

परिस्थिति उत्पन्न कैसे हो?—यह परिस्थिति उत्पन्न करने के लिए निम्न-लिखित पग उठाना आवश्यक है :—

(१) दण्ड-विधान जनतान्त्रिक पद्धति से बनाया जाए। उसमें संस्था के

अध्यापक तथा छात्र—दोनों भाग लें। यह शंका नहीं की जानी चाहिए कि छात्रों की सम्मतियाँ अपराध की गुरुता को कम करने के पक्ष में पड़ेंगी। वस्तुतः जब तक कोई व्यक्तिगत हित मार्ग में न आ पड़े, तब तक प्रत्येक व्यक्ति न्याय की बात ही कहता है। यही छात्रों के विषय में भी समझना चाहिए।

(२) संस्था के अध्यापक तथा कर्मचारी अपने आचरण के विषय में आदर्श रहें। यदि छात्रों की दृष्टि में यह बात आ गई कि जिन कामों के लिए वे दण्ड के भागी हो जाते हैं, उन्हें ही कर्मचारी लोग खुले आम अथवा एकान्त में करते रहते हैं, तो दण्डनीय कार्य की दण्डनीयता में उनकी आस्था समाप्त हो जाएगी और वे कभी अपने आप को हृदय से दण्डनीय नहीं अनुभव कर पाएँगे।

(३) दंड-विधान का इतना व्यापक प्रचार किया जाना चाहिए कि कोई भी छात्र तथा उसका अभिभावक यह न कह सके कि उसे यह नहीं मालूम था कि इस समाज में अमुक कार्य अनुचित माना जाता है और अमुक कार्य के लिए अमुक प्रकार का दंड मिलता है। इतना ही नहीं, विद्यालय में ऐसा वातावरण बनाया जाना चाहिए कि उसका प्रत्येक छात्र यह अनुभव करे कि दंड-विधान पूर्णतया उचित है और उसका नैतिक उत्तरदायित्व है कि वह अपने व्यवहार को साफ-सुथरा तथा सुनियन्त्रित रखे। जिस विद्यालय के अध्यापक विद्यालय में अच्छी परम्पराएँ डाल देने के विषय में सावधान रहते हैं, वहाँ के छात्रों में यह अनुभूति स्वतः जागृत हो जाती है।

(४) अपराध करने वाले छात्रों को प्रथम एकान्त में तथा फिर सार्वजनिक रूप में, विशेषतया उनके अपने मित्रों, शुभचिन्तकों तथा अभिभावकों के सामने समझाना चाहिए। यदि छात्र ने कोई अपराध भूल से किया है, तो उसकी भूल सुधार दी जानी चाहिए। यदि विशिष्ट परिस्थितियों के कारण अपराध हुआ हो, तो यथासंभव उनको दूर कर दिया जाना चाहिए। दंड-व्यवस्था तभी की जानी चाहिए, जब अपराध को जान-बूझकर किया गया हो। दंड भी प्रथम एकान्त में तथा फिर सार्वजनिक रूप में दिया जाना चाहिए।

(५) छात्रों के अपराधों की सूचना उनके अभिभावकों को भी भेजते रहना चाहिए जिससे उन्हें भी अपने बच्चों को सुधारने का अवसर रहे और दंड प्रयोग की दशा में वे उसे आकस्मिक वज्रपात न समझ बैठें।

(६) संस्था के किसी भी कर्मचारी अथवा अध्यापक को दंडित छात्र अथवा उसके किसी शुभचिन्तक या अभिभावक के सम्मुख दंड की आलोचना नहीं करनी चाहिए। यदि अभिभावक चाहते हैं कि दंड उनके बच्चे के सुधार के लिए उपयोगी सिद्ध हो, तो उन्हें भी इस मर्यादा का पालन करना चाहिए। अध्यापकों एवं अभिभावकों की अनुचित सहानुभूति पाकर उचित दंड को भी छात्र अनुचित समझने लगते हैं।

(७) दंड देने के उपरान्त भी अध्यापक के व्यवहार में शुष्कता अथवा नीरसता

अपमान के साथ प्राप्त की जानी चाहिए, इसलिए भी हमें इसकी इस प्रकार चर्चा करना उचित प्रतीत हो रहा है।

२. दण्ड-व्यवस्था

दण्ड का अर्थ—दण्ड देने का अर्थ होता है—किसी भी प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक दुःख पहुँचाना। दण्ड देकर आशा की जाती है कि दण्डित व्यक्ति दुःख अथवा अपमान के भय से अनुचित कार्य से विरत रहेगा और जिन व्यक्तियों को ज्ञात होगा कि अमुक प्रकार के कार्य के परिणामस्वरूप अमुक प्रकार का दुःख भोगना पड़ सकता है, वे भी उस प्रकार के कार्य करने का साहस नहीं करेंगे।

दण्ड के रूप—अपराधी व्यक्ति को कठोर वाक्य कहने से लेकर प्राणों से वियुक्त कर देने तक दण्ड की सीमा होती है। विद्यालय में दण्ड की अन्तिम सीमा विद्यालय से पृथक् कर देने तक रहती है। विद्यालय-समाज से किसी को पृथक् कर देना उस समाज की दृष्टि से एक प्रकार का मृत्युदण्ड ही होता है क्योंकि उसके बाद *उस समाज के लोग समाज के सदस्य के रूप में उसे फिर नहीं देख सकते।* इस सीमा के भीतर विद्यालय में एकान्त में अथवा सभी के सामने डाँटना, स्थान बदल देना, विद्यालय के समय के बाद रोक लेना, सुविधा छीन लेना, जुर्माना कर देना, शारीरिक दण्ड देना तथा विद्यालय से अस्थायी रूप में अथवा स्थायी रूप में पृथक् कर देना आदि दण्ड-रूप प्रचलित होते हैं।

दण्ड की विफलता क्यों ?—इस विषय में विचित्र बात यह है कि विद्यालयों में सभी प्रकार के दंड चल रहे हैं, फिर भी देश में छात्रों की अनुशासन-हीनता की शिकायत बढ़ती ही चली जा रही है। *"मर्ज बढ़ता गया, ज्यों ज्यों दवा की"*—यह कहावत इस विषय में पूरी तरह लागू होती है। इस परिस्थिति को देखकर एक बात तो बिलकुल स्पष्ट हो है कि या तो सफलतापूर्वक दण्ड देने के लिए जिन परिस्थितियों की आवश्यकता होती है, उनका निर्माण नहीं हो पाता अथवा दंड ही गलत प्रकार के होते हैं अथवा उनका प्रयोग गलत ढंग से किया जाता है। वाञ्छनीय परिणाम न निकलने पर और सोचा भी क्या जा सकता है ?

दण्ड के लिए उपयुक्त परिस्थिति—किसी छात्र को दण्ड देने की उपयुक्त परिस्थिति उत्पन्न हुई तब मानी जा सकती है, जबकि छात्र यह अनुभव करने लगे कि *उसने जो कुछ किया, दण्ड उसका स्वाभाविक परिणाम है और दंड देने वाला व्यक्ति दंड देकर उसके साथ अन्याय नहीं, कृपा कर रहा है।* उसके मन में यह विश्वास *अवश्य उत्पन्न कर दिया जाना चाहिए कि उसे दंड द्वेषवश नहीं दिया जा रहा है।*

परिस्थिति उत्पन्न कैसे हो ?—यह परिस्थिति उत्पन्न करने के लिए निम्नलिखित पग उठाना आवश्यक है :—

(१) दण्ड-विधान जनतान्त्रिक पद्धति से बनाया जाए। उसमें संस्था के

अध्यापक तथा छात्र—दोनो भाग लें। यह शंका नहीं की जानी चाहिए कि छात्रो की सम्मतियाँ अपराध की गुरुता को कम करने के पक्ष मे पड़ेंगी। वस्तुत जब तक कोई व्यक्तिगत हित मार्ग मे न आ पड़े, तब तक प्रत्येक व्यक्ति न्याय की बात ही कहता है। यही छात्रो के विषय मे भी समझना चाहिए।

(२) सस्था के अध्यापक तथा कर्मचारी अपने आचरण के विषय मे आदर्श रहे। यदि छात्रो की दृष्टि में यह बात आ गई कि जिन कामो के लिए वे दण्ड के भागी हो जाते हैं, उन्हे ही कर्मचारी लोग खुले आम अथवा एकान्त मे करते रहते हैं, तो दण्डनीय कार्य की दण्डनीयता मे उनकी आस्था समाप्त हो जाएगी और वे कभी अपने आप को हृदय से दण्डनीय नही अनुभव कर पाएँगे।

(३) दड-विधान का इतना व्यापक प्रचार किया जाना चाहिए कि कोई भी छात्र तथा उसका अभिभावक यह न कह सके कि उसे यह नहीं मालूम था कि इस समाज मे अमुक कार्य अनुचित माना जाता है और अमुक कार्य के लिए अमुक प्रकार का दड मिलता है। इतना ही नही, विद्यालय मे ऐसा वातावरण बनाया जाना चाहिए कि उसका प्रत्येक छात्र यह अनुभव करे कि दड-विधान पूर्णतया उचित है और उसका नैतिक उत्तरदायित्व है कि वह अपने व्यवहार को साफ-सुथरा तथा सुनियन्त्रित रखे। जिस विद्यालय के अध्यापक विद्यालय मे अच्छी परम्पराएँ डाल देने के विषय मे सावधान रहते हैं, वहाँ के छात्रो मे यह अनुभूति स्वत जागृत हो जाती है।

(४) अपराध करने वाले छात्रो को प्रथम एकान्त मे तथा फिर सार्वजनिक रूप मे, विशेषतया उनके अपने मित्रो, शुभचिन्तको तथा अभिभावको के सामने समझाना चाहिए। यदि छात्र ने कोई अपराध भूल से किया है, तो उसकी भूल सुधार दी जानी चाहिए। यदि विशिष्ट परिस्थितियो के कारण अपराध हुआ हो, तो यथासभव उनको दूर कर दिया जाना चाहिए। दड-व्यवस्था तभी की जानी चाहिए, जब अपराध को जान-बूझकर किया गया हो। दड भी प्रथम एकान्त मे तथा फिर सार्वजनिक रूप मे दिया जाना चाहिए।

(५) छात्रों के अपराधो की सूचना उनके अभिभावकों को भी भेजते रहना चाहिए जिससे उन्हे भी अपने बच्चो को सुधारने का अवसर रहे और दंड प्रयोग की दशा मे वे उसे आकस्मिक वज्रपात न समझ बैठें।

(६) सस्था के किसी भी कर्मचारी अथवा अध्यापक को दडित छात्र अथवा उसके किसी शुभचिन्तक या अभिभावक के सम्मुख दड की आलोचना नहीं करनी चाहिए। यदि अभिभावक चाहते हैं कि दड उनके बच्चे के सुधार के लिए उपयोगी सिद्ध हो, तो उन्हें भी इस मर्यादा का पालन करना चाहिए। अध्यापको एवं अभिभावको की अनुचित सहानुभूति पाकर उचित दड को भी छात्र अनुचित समझने लगते हैं।

(७) दंड देने से उपरान्त भी अध्यापक के व्यवहार मे शुष्कता अथवा नीरसता

अवधान के साथ प्राप्त की जानी चाहिए, इसलिए भी हमें इसकी इस प्रकार चर्चा करना उचित प्रतीत हो रहा है।

२. दण्ड-व्यवस्था

दण्ड का अर्थ—दण्ड देने का अर्थ होता है—किसी भी प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक दुःख पहुँचाना। दण्ड देकर आशा की जाती है कि दण्डित व्यक्ति दुःख अथवा अपमान के भय से अनुचित कार्य से विरत रहेगा और जिन व्यक्तियों को ज्ञात होगा कि अमुक प्रकार के कार्य के परिणामस्वरूप अमुक प्रकार का दुःख भोगना पड़ सकता है, वे भी उस प्रकार के कार्य करने का साहस नहीं करेंगे।

दण्ड के रूप—अपराधी व्यक्ति को कठोर वाक्य कहने से लेकर प्राणों से वियुक्त कर देने तक दण्ड की सीमा होती है। विद्यालय में दण्ड की अन्तिम सीमा विद्यालय से पृथक् कर देने तक रहती है। विद्यालय-समाज से किसी को पृथक् कर देना उस समाज की दृष्टि से एक प्रकार का मृत्युदण्ड ही होता है क्योंकि उसके बाद उस समाज के लोग समाज के सदस्य के रूप में उसे फिर नहीं देख सकते। इस सीमा के भीतर विद्यालय में एकान्त में अथवा सभी के सामने डाँटना, स्थान बदल देना, विद्यालय के समय के बाद रोक लेना, सुविधा छीन लेना, जुर्माना कर देना, शारीरिक दण्ड देना तथा विद्यालय से अस्थायी रूप में अथवा स्थायी रूप में पृथक् कर देना आदि दण्ड-रूप प्रचलित होते हैं।

दण्ड की विफलता क्यों?—इस विषय में विचित्र बात यह है कि विद्यालयों में सभी प्रकार के दंड चल रहे हैं, फिर भी देश में छात्रों की अनुशासन-हीनता की शिकायत बढ़ती ही चली जा रही है। "मर्ज बढ़ता गया, ज्यों ज्यों दवा की"—यह कहावत इस विषय में पूरी तरह लागू होती है। इस परिस्थिति को देखकर एक बात तो बिलकुल स्पष्ट ही है कि या तो सफलतापूर्वक दण्ड देने के लिए जिन परिस्थितियों की आवश्यकता होती है, उनका निर्माण नहीं हो पाता अथवा दंड ही गलत प्रकार के होते हैं अथवा उनका प्रयोग गलत ढंग से किया जाता है। वाञ्छनीय परिणाम न निकलने पर और सोचा भी क्या जा सकता है?

दण्ड के लिए उपयुक्त परिस्थिति—किसी छात्र को दण्ड देने की उपयुक्त परिस्थिति उत्पन्न हुई तब मानी जा सकती है, जबकि छात्र यह अनुभव करने लगे कि उसने जो कुछ किया, दण्ड उसका स्वाभाविक परिणाम है और दंड देने वाला व्यक्ति दंड देकर उसके साथ अन्याय नहीं, कृपा कर रहा है। उसके मन में यह विश्वास अवश्य उत्पन्न कर दिया जाना चाहिए कि उसे दंड द्वेषवश नहीं दिया जा रहा है।

परिस्थिति उत्पन्न कैसे हो?—यह परिस्थिति उत्पन्न करने के लिए निम्नलिखित पग उठाना आवश्यक है:—

(१) दण्ड-विधान जनतान्त्रिक पद्धति से बनाया जाए। उसमें संस्था

कह देते हैं। कभी-कभी छात्रों को बेंचो पर भी खड़ा कर दिया जाता है। ये दण्ड कठोर तथा अपमान-जनक हैं। खड़े करने का दण्ड एकान्त की निन्दा के पश्चात् दिया जाना चाहिए। बेंच पर खड़ा करना, कान पकड़वाकर खड़ा करना, मुर्गा बनाना आदि दण्ड छात्र को निर्लज्ज बना देते हैं अतः परित्याज्य है। छात्र के निर्लज्ज बन जाने पर फिर उसके सुधार की कोई आशा नहीं रहती।

(४) छुट्टी के पश्चात् रोकना—जब छात्र गृह-कार्य करके नहीं लाते, तब यह दण्ड दिया जाता है। कभी-कभी रोकने के पश्चात् उनसे काम पूरा कराया जाता है। यह दण्ड मनोविज्ञान-सम्मत नहीं है। रोका हुआ छात्र, यदि कार्य रुचिकर नहीं है तो विद्यालय में भी काम नहीं करेगा। काम के समय उसका मन इधर उधर भटकेगा फलतः काम को मन लगाकर नहीं करेगा। इस प्रकार के काम से गृह-कार्य के लाभ नहीं मिल सकते। यदि छात्र घर को किसी कुपरिस्थिति के कारण गृह कार्य नहीं कर पाया है, तो रोकना भी अनुचित होगा। रुकने वाले छात्र के साथ अध्यापक अथवा मानीटर को भी रुकना पड़ता है। यह एक प्रकार से दण्डनीय छात्र के साथ उनको भी दण्ड मिलना हुआ। वे अपनी बला टालने के लिए छात्र के साथ ढील बरत सकते हैं। यदि ऐसा हुआ, तो उस पर दण्ड का कोई प्रभाव न पड़ेगा और वह दण्ड के स्वरूप की इस निर्बलता का लाभ उठाना चाहेगा। यदि रोक लगाना ही उचित समझा जाय तो छात्र को उसके किसी प्रिय कार्य में भाग लेने से रोकना चाहिए। अपने प्रिय कार्य मे भाग लेने के लिये विह्वलता उसे अनुचित व्यवहारों से रोक सकती है।

(५) अधिकार से वंचित कर देना—यदि विद्यालय का कार्य एक जनतन्त्रीय सहयोगी समिति के रूप मे चलाया जा रहा है, तो उसमें अनेक समितियाँ तथा उपसमितियाँ अवश्य होंगी। उन समितियों के सदस्य तथा पदाधिकारी भी होंगे यदि इन सदस्यों तथा पदाधिकारियों में से कोई व्यक्ति अनुशासनहीनता का प्रदर्शन करता है, तो उसके अधिकार छीने जा सकते हैं। यह पग बहुत प्रभावपूर्ण होता है इसको उठाने के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि बना लेनी चाहिए। अच्छा हो कि सम्बद्ध समिति को विश्वास मे लेकर ही यह पग उठाया जाए, जिससे किसी को यह कहने का अवसर न मिले कि किसी छात्र को हठपूर्वक पदच्युत कर दिया गया है।

(६) निष्कासन—निष्कासन दो प्रकार का होता है: १—कक्षा से निष्कासन तथा २—विद्यालय से निष्कासन। कक्षा से निष्कासन अध्यापक को अन्तिम उपाय के रूप मे काम मे लाना चाहिए। यह दण्ड देकर अध्यापक एक प्रकार से अपनी असमर्थता की घोषणा करता है। कक्षा के सामने तथा एकान्त में समझाने-बुझाने के पश्चात् ही यह पग उठाना उचित कहा जा सकता है। कुछ अध्यापक पहले पग के रूप में इसका सहारा पकड़ लेते हैं। इसे उचित नहीं कहा जा सकता। विद्यालय से छात्र को निकालना भी तभी चाहिए, जब विद्यालय में उसको विद्यमानता असह्य हो

(२) इसके प्रयोग से छात्र निर्लज्ज और विद्रोही हो जाता है। दंड देने वाले के प्रति उसके मन में घृणा का स्थायीभाव बन जाता है। ऐसे छात्र भविष्य में समाज के लिए भी हानिकारक सिद्ध हो सकते हैं।

(३) कोमल प्रकृति के छात्रों को इससे मानसिक रोग भी उत्पन्न हो सकते हैं।

पक्ष में—जो इसके पक्ष में हैं, वे इसको अनिवार्य मानते हैं। इसके समर्थन में वे निम्नलिखित युक्तियाँ देते हैं :—

(१) बहुत से छात्र इतने गन्दे परिवारों तथा वातावरण से आते हैं, जहाँ बात-बात पर शारीरिक दण्ड का प्रयोग होता है। ऐसे छात्रों को शारीरिक दण्ड पाने का ऐसा अभ्यास पड़ जाता है कि वे उसके बिना मानते ही नहीं हैं।

(२) समाज के कतिपय व्यक्तियों की भाँति विद्यालय कुछ छात्रों के लिए भी चेतना के पर्याप्त विकसित न होने के कारण सुधार के लिए शारीरिक-दण्ड अपेक्षित हो सकता है। अन्‍ छात्र को विद्यालय से निकाल कर उसके सामने जीवन बिगड़ने का खतरा उपस्थित करने से पहले शारीरिक दण्ड द्वारा उसे सुधारने के एक दो प्रयत्न अवश्य किये जाने चाहिए।

हम विस्तार से इस विवाद में न पड़कर इतना ही कहना चाहते हैं कि—

(क) इस दण्ड के प्रयोग का अधिकार मुख्याध्यापक के ही हाथ में रहना चाहिए। जिस व्यक्ति के प्रति अपराध किया गया हो, यदि वही दण्ड देने लगे तो क्रोध में उसकी मात्रा अवाछनीय हो सकती है।

(ख) इसका प्रयोग अन्तिम रूप में ही किया जाना चाहिए। बात-बात में बेंत लेकर जुट पड़ना किसी भी स्थिति में उचित नहीं है।

सामान्य निर्देश—दण्ड द्वारा अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध हो सके, इसके लिए निम्नलिखित बातें अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए —

१. जब मधुर उपाय काम न दें, तभी दण्ड का प्रयोग करना चाहिए।
२ क्रोध में भरकर दण्डका निश्चय तथा क्रियान्वयन नहीं किया जाना चाहिए।
३. दण्डनीय कार्य के सम्पादन तथा दण्ड के क्रियान्वयन में काल का अनावश्यक अन्तर नहीं पड़ने देना चाहिए।
४. दण्ड क्रमशः कठोर होता जाना चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिए कि किसी को किसी अपराध में कठोरतम दण्ड एकदम दे डाला जाए।
५. दण्ड सदैव अपराध के अनुपात में कठोर होना चाहिए।
६. दण्ड के विकल्प रूप में प्रायश्चित-व्यवस्था अवश्य रखनी चाहिए। यदि दण्डनीय व्यक्ति प्रायश्चित कर डाले, तो उसे पुन दण्ड नहीं देना चाहिए।
७ दण्ड के पश्चात् भी सुधार के मधुर उपाय चलते चलते रहने चाहिये। [illegible] तथा उसके मित्रों के मन में दण्ड देने वाले व्यक्ति

उठे और अन्य दण्ड बिल्कुल व्यर्थ सिद्ध हो जाएँ। यह बहुत सोच विचार करके दि
जाना चाहिए क्योंकि इसका परिणाम छात्र के जीवन की बरबादी भी हो सकता है
जब विद्यालय तथा परिवार— दोनों के सभी उपाय असफल हो चुके हों व्यर्थ हो जा
तभी इसका प्रयोग किया जाना चाहिए। परन्तु एक बार निर्णय घोषित करके
वापस नहीं लिया जाना चाहिए।

(७) अर्थ-दण्ड—अर्थ-दण्ड का अर्थ है, जुरमाना। छात्रों पर जुरमाना क
की परम्परा प्रत्येक विद्यालय में होती है। छात्रों से आशा की जाती है कि वे जुरम
के भय से अनुचित कार्यों से विरत रहेंगे। दुर्भाग्यवश इसका भी जो प्रभाव हो
चाहिए, वह हो नहीं पाता है। यदि इसके विषय में कुछ बातें ध्यान रखी जाएँ,
यह प्रभावकारी हो सकता है।

यह दण्ड वस्तुतः छात्रों पर न होकर उनके अभिभावकों पर होता है। बहु
से अभिभावक इतने गरीब होते हैं कि वे इसको चुकाने में असमर्थ रहते हैं। इ
कारण इसका प्रयोग करने से पहले सभी अभिभावकों को सूचना भिजवानी चाहि
कि छात्र के विरुद्ध अगला कदम अर्थ-दण्ड के रूप में उठाया जाएगा। यह जानक
सम्भव है कि वे ही अपने छात्र को ठीक रास्ते पर ले आयें।

यदि सूचना देने पर भी अभिभावक ध्यान न दें तो पर्याप्त भारी अर्थदण्
देना चाहिए। छोटे छोटे अर्थ दण्डों की चिन्ता न तो छात्र करते हैं और उनके अभि
भावक। यदि अभिभावकों को बिना सूचित किये छोटा-सा अर्थ-दण्ड लगा दिया जाए
तो छात्र उन्हें बिना बताए किसी बहाने से या चोरी से पैसे लाकर भर देते हैं। भार
अर्थ-दण्ड अपने अभिभावकों को बिना बताए देना छात्रों के लिए सम्भव नहीं होता।
जितना अर्थदण्ड दिया गया है, इसकी सूचना भी विधिवत् अभिभावकों के पास भिजवा
देनी चाहिए।

इस अधिकार का प्रयोग विद्यालय को बहुत सावधानी से करना चाहिए और
ऐसा प्रयत्न होना चाहए कि किसी की व्यक्तिगत नाराजगी के कारण यह दण्ड किसी
छात्र पर न पड़े। छोटी छोटी बातों पर अर्थ-दण्ड लगाने की आदत प्रत्येक दृष्टि भी
निन्दनीय है।

(८) शारीरिक-दण्ड—कान पकड़ने से लेकर सार्वजनिक रूप में बेंत लगाने
तक के दण्ड-रूप इस वर्ग में आजाते हैं। स्थान की दृष्टि से इसकी स्थिति निष्कासन
से पूर्व रहती है। यदि छात्र इससे भी न सुधरे, तो निष्कासन के अतिरिक्त अन्य कोई
मार्ग नहीं रहता।

विपक्ष में—अनेक शिक्षाशास्त्र-विशारदों का विचार है कि शारीरिक दण्ड
यद्यपि नहीं दिया जाना चाहिए। इसके विषय में उनको निम्नलिखित आपत्तियाँ
होती हैं—

(१) दण्ड अपने स्वरूप में

पर छात्रो के अनेक वर्ग बनाए जा सकें, तो प्रत्येक वर्ग के लिए पृथक्-पृथक् पुरस्कार रखे जा सकते हैं। इससे लाभ यह होगा कि सभी स्तरो की क्षमता वाले छात्र पुरस्कार प्राप्त करने मे प्रयत्नशील होंगे।

इस उद्देश्य से दूसरी व्यवस्था यह करनी पड़ेगी कि पुरस्कारो के अधिकारियो का निर्णय निष्पक्षता से हो सके। निर्णायक ऐसे व्यक्तियो को नियुक्त किया जाना चाहिए, जिनकी निष्पक्षता सन्देह के परे हो। इस विषय मे अन्य विद्यालयों के अध्यापकों तथा सम्मान्य नागरिकों का सहयोग भी प्राप्त किया जा सकता है।

पुरस्कार : उचित या अनुचित ?—कुछ विचारक दण्ड व्यवस्था की भाँति पुरस्कार-व्यवस्था को भी अनुचित मानते हैं। उनका कथन है कि पुरस्कार छात्रों की लोभ-वृत्ति का लाभ उठाते हैं। लोभ के कारण अच्छे कार्यों मे प्रवृत्त होना कोई प्रशसा की बात नहीं है। वे यह भी सोचते हैं कि विद्यालय का उद्देश्य—छात्रो को समाज के दुःख मे दुःखी और उसके सुख मे सुखी होने का अभ्यासी बनाना है। व्यक्तिगत रूप से दिये जाने वाले पुरस्कार छात्रों को व्यक्तिवादी बना देते हैं और कभी-कभी तो ऐसा भी देखा जाता है कि अपने साथियों को अनुचित रूप से हानि पहुँचा कर भी छात्र पुरस्कार जीतने का प्रयत्न करते हैं।

पुरस्कार-व्यवस्था के पक्षपातियों का कहना है कि यह सत्य है कि पुरस्कार छात्रो की लोभवृत्ति का लाभ उठाते हैं परन्तु इसमे अनुचित बात कुछ नही है। सभी शुभ कार्य किसी न किसी व्यक्तिगत अथवा सामाजिक लाभ के लोभ मे ही किये जाते हैं। लोभवश अच्छे कार्य करते हुए छात्रो को धीरे-धीरे अच्छे कार्यों को करते रहने का अभ्यास तो पड़ ही सकता है। दूसरे आक्षेप के विषय मे उनका कथन है कि व्यक्तिवादी होना अपने आप मे कोई बुरी बात नही है। यदि कोई व्यक्ति समाज की सेवा करने मे व्यक्तिगत रूप से सर्वोत्तम सिद्ध होना चाहता है, तो इसमे बुराई की क्या बात है ? किसी को अनुचित रूप से पहुँचा कर पुरस्कार-योग्य सिद्ध होने को निन्दनीय ठहरा कर इस बुराई को रोका जा सकता है। इस बुराई के भय से पुरस्कार का लाभ न उठाना तो, बुद्धिमत्ता की बात नही है।

दोनो पक्षों मे बहुत कुछ कहा-सुना जा सकता है। हम उस विवाद मे नही पड़ना चाहते हैं। वस्तुतः आदर्श तो यही है कि छात्र व्यक्तिगत दुख-सुख, दण्ड-पुरस्कार तथा निन्दा-स्तुति से नियन्त्रित एवं उत्साहित न होकर शुद्ध कर्त्तव्य-भावना द्वारा नियन्त्रित एवं उत्साहित हुआ करें। परन्तु जिस प्रकार समाज मे उदार और अनुदार तथा सूक्ष्म-बुद्धि एवं स्थूल बुद्धि—दोनो प्रकार के व्यक्ति रहते हैं, उसी प्रकार विद्यालय मे भी सभी प्रकार के छात्र आते हैं। इस कारण विद्यालय में पुरस्कार-व्यवस्था रहनी अवश्य चाहिए, उसका संचालन अवश्य इस प्रकार किया जाना चाहिए कि वह उपर्युक्त दुष्प्रभावों को न उत्पन्न करे। इसके लिए निम्नलिखित सावधानियाँ बरती जा[illegible]—

के प्रति दुर्भाव नहीं उत्पन्न हो पाता। दुर्भाव उत्पन्न हो जाने पर फिर सुधार का कोई प्रयत्न सफल नहीं हो सकेगा।

३. पुरस्कार-व्यवस्था

पुरस्कार का प्रयोजन— जिस प्रकार दण्ड के साथ भय का भाव जुड़ा रहता है, उसी प्रकार पुरस्कार के साथ लोभ का भाव जुड़ा रहता है। दण्ड के भय से व्यक्ति असत् कार्य से दूर रहता है और पुरस्कार के लोभ मे वह सत्-कार्य मे प्रवृत्त हो सकता है। वातावरण-निर्माण मे दण्ड जहाँ अपराध को रोक कर सहायता करता है वहाँ पुरस्कार उसमे सत्कार्य की ओर प्रेरणा देकर साधक बनता है।

पुरस्कार के रूप—अच्छे कार्य करने वाले व्यक्ति की वाचिक प्रशंसा मे लेकर उसको सुख-सुविधा की वस्तुएँ अथवा परिस्थितियाँ देने तक पुरस्कार की सीमा है। विद्यालय मे पुरस्कार के रूप मे प्रशसा पत्र, पुस्तकें, पदक तथा शील्ड प्रदान किये जाते हैं। जिन सस्थाओ मे विद्यालय-व्यवस्था मे छात्रो का भी सहयोग लिया जाता है, उनमे पुरस्कार रूप मे छात्रो को कुछ अधिकार भी दिये जाते हैं।

पुरस्कार की व्यर्थता के कारण—जिस प्रकार दण्ड की विद्यमानता मे भी अनुशासनहीनता का पनपना आश्चर्यजनक है, उसी प्रकार यह भी आश्चर्यजनक है कि पुरस्कारो पर प्रभूत धन-राशि व्यय होने पर भी शुभ कार्यों की ओर छात्रो की वैसी प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती, जैसी कि दिखाई पड़नी चाहिए। इस स्थिति के सम्भवतः दो प्रमुख कारण हैं।

(१) प्रथम कारण तो यह है कि पुरस्कार प्रदान करना एक पारम्परिक कार्य हो गया है। छात्र जानते है कि पुरस्कार के लिए जो धन-राशि रख दी गई है, वह व्यय तो की ही जायगी, और जब वह व्यय की ही जाएगी, तो अपनी बारी भी आ ही जाएगी फलत. उच्चकोटि की पुरस्करणीय स्थिति को प्राप्त करने का गम्भीर प्रयत्न कोई नहीं करता।

(२) इसका द्वितीय कारण यह है कि पुरस्कार-वितरण मे अधिकतर न्याय का स्थान पक्षपात ले लेता है। एक मामले मे भी पक्षपात की गन्ध आजाने पर पुरस्कार प्राप्त करने के लिए जो वास्तविक योग्यता प्रदर्शित की जानी चाहिए, उसके स्थान पर चापलूसी एव हाँ हुजूरी आदि का प्रदर्शन चलने लगता है और पुरस्कार-प्रदान का वास्तविक प्रयोजन नष्ट हो जाता है।

विद्यालय क्या करे ?—यदि पुरस्कार-व्यवस्था का वास्तविक लाभ अभीष्ट है, तो पुरस्करणीय स्थिति ऐसी रखनी चाहिए जिसकी प्राप्ति के लिए सचमुच गम्भीर प्रयत्न करना पड़े। यदि निश्चित योग्यता का प्रदर्शन कोई भी छात्र न कर सके, तो पुरस्कार किसी को नहीं मिलना चाहिए। एक बार ऐसी कठोरता बरत देने पर अगले बार से गम्भीर प्रयत्न चलने लगेगा। आदर्श निर्धारित करने मे यह बात अवश्य ध्यान मे रखनी चाहिए कि वह ऐसा हो, जिसको प्राप्ति सम्भव हो। असम्भव आदर्श रख देने पर तो कोई प्रयत्न ही नहीं करेगा। यदि क्षमता की न्यूनता एव अधिकता के आधार

पर छात्रों के अनेक वर्ग बनाए जा सकें, तो प्रत्येक वर्ग के लिए पृथक्-पृथक् पुरस्कार रखे जा सकते हैं। इससे लाभ यह होगा कि सभी स्तरों की क्षमता वाले छात्र पुरस्कार प्राप्त करने में प्रयत्नशील होंगे।

इस उद्देश्य से दूसरी व्यवस्था यह करनी पड़ेगी कि पुरस्कारों के अधिकारियों का निर्णय निष्पक्षता से हो सके। निर्णायक ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त किया जाना चाहिए, जिनकी निष्पक्षता सन्देह के परे हो। इस विषय में अन्य विद्यालयों के अध्यापकों तथा सम्मान्य नागरिकों का सहयोग भी प्राप्त किया जा सकता है।

पुरस्कार : उचित या अनुचित ?—कुछ विचारक दण्ड-व्यवस्था की भाँति पुरस्कार-व्यवस्था को भी अनुचित मानते हैं। उनका कथन है कि पुरस्कार छात्रों की लोभ-वृत्ति का लाभ उठाते हैं। लोभ के कारण अच्छे कार्यों में प्रवृत्त होना कोई प्रशंसा की बात नहीं है। वे यह भी सोचते हैं कि विद्यालय का उद्देश्य—छात्रों को समाज के दुःख में दुःखी और उसके सुख में सुखी होने का अभ्यासी बनाना है। व्यक्तिगत रूप से दिये जाने वाले पुरस्कार छात्रों को व्यक्तिवादी बना देते हैं और कभी-कभी तो ऐसा भी देखा जाता है कि अपने साथियों को अनुचित रूप से हानि पहुँचा कर भी छात्र पुरस्कार जीतने का प्रयत्न करते हैं।

पुरस्कार-व्यवस्था के पक्षपातियों का कहना है कि यह सत्य है कि पुरस्कार छात्रों की लोभवृत्ति का लाभ उठाते हैं परन्तु इसमें अनुचित बात कुछ नहीं है। सभी शुभ कार्य किसी न किसी व्यक्तिगत अथवा सामाजिक लाभ के लोभ से ही किये जाते हैं। लोभवश अच्छे कार्य करते हुए छात्रों को धीरे-धीरे अच्छे कार्यों को करते रहने का अभ्यास तो पड़ ही सकता है। दूसरे आक्षेप के विषय में उनका कथन है कि व्यक्तिवादी होना अपने आप में कोई बुरी बात नहीं है। यदि कोई व्यक्ति समाज की सेवा करने में व्यक्तिगत रूप से सर्वोत्तम सिद्ध होना चाहता है, तो इसमें बुराई की क्या बात है ? किसी को अनुचित रूप से पहुँचा कर पुरस्कार-योग्य सिद्ध होने को निन्दनीय ठहरा कर इस बुराई को रोका जा सकता है। इस बुराई के भय से पुरस्कार का लाभ न उठाना तो, बुद्धिमत्ता की बात नहीं है।

दोनों पक्षों में बहुत कुछ कहा-सुना जा सकता है। हम उस विवाद में नहीं पड़ना चाहते हैं। वस्तुतः आदर्श तो यही है कि छात्र व्यक्तिगत दुःख-सुख, दण्ड-पुरस्कार तथा निन्दा-स्तुति से नियन्त्रित एवं उत्साहित न होकर शुद्ध कर्त्तव्य भावना द्वारा नियन्त्रित एवं उत्साहित हुआ करें। परन्तु जिस प्रकार समाज में उदार और अनुदार तथा सूक्ष्म बुद्धि एवं स्थूल बुद्धि—दोनों प्रकार के व्यक्ति रहते हैं, उसी प्रकार विद्यालय में भी सभी प्रकार के छात्र आते हैं। इस कारण विद्यालय में पुरस्कार-व्यवस्था रहनी अवश्य चाहिए, उसका संचालन अवश्य इस प्रकार किया जाना चाहिए कि वह उपर्युक्त दुष्प्रभावों को न उत्पन्न करे। इसके लिए निम्नलिखित सावधानियाँ बरती जा सकती हैं—

शब्द विद्यालयीय तथा सामाजिक जीवन मे प्रचलित उस क्रिया-कलाप के लिए प्रसिद्ध हो गया है, जिसका प्रयोजन किसी परीक्षार्थी के ज्ञान अथवा कौशल की जाँच कर किसी स्थिति, पद या अधिकार के लिए उसकी उपयुक्तता अथवा अनुपयुक्तता का निर्धारण करना होता है।

परीक्षा के प्रयोजन

सक्षेप मे परीक्षा का प्रयोजन ऊपर के अनुच्छेद मे कह दिया गया है। अधिक स्पष्टता के साथ समझने के लिए परीक्षाओ के प्रयोजनो का नीचे की पक्तियो मे परिगणन किया जा रहा है —

(१) यह पता लगाना कि छात्र मे अध्येय पाठ्यवस्तु के अध्यन, अनुष्ठेय कार्य के सम्पादन तथा अभीष्ट पद अथवा अधिकार के निर्वाह के लिए आवश्यक क्षमता अथवा अभिरुचि है अथवा नही।

(२) इस बात की जाँच करना कि छात्र सिखाई जाने वाली वस्तु को ग्रहण करने मे मनोयोगपूर्वक प्रयत्न कर रहा है अथवा नही।

(३) विभिन्न ज्ञान-क्षेत्रो मे छात्रो की प्रगति की जाँच करना।

(४) ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग म प्रगति करने, प्राप्त ज्ञान को सगठित करने तथा विविध जीवन-परिस्थितियो मे उसका प्रयोग करने मे छात्रो की सहायता करना।

(५) छात्रो मे परिश्रम, धैर्य, दृढता, सावधानी आदि चारित्रिक गुणो की विद्यमानता की जाँच करना तथा अधिकाधिक मात्रा मे उन्हें प्राप्त करने की प्रेरणा देना।

(६) छात्रो के अध्यापन से पूरी तरह लाभान्वित न होने के कारणो का पता लगाना।

(७) अध्यापको की योग्यता तथा कुशलता का मूल्याकन करना।

(८) अध्यापको को अपनी योग्यता और कुशलता बढ़ाते रहने की प्रेरणा देना।

(९) पुरस्कार एव छात्रवृत्ति आदि के लिए योग्य छात्रो का चयन करना।

परीक्षा के भेद-उपभेद

परीक्षा के भेद कई दृष्टियों से किए जा सकते हैं। एक दृष्टि से सभी प्रकार की परीक्षाओ को मौखिक, लिखित तथा क्रियात्मक—इन तीन भेदो मे विभक्त किया जा सकता है। दूसरी दृष्टि से परीक्षा—क्षमता-परीक्षा, प्रयत्न-परीक्षा, सफलता-परीक्षा, असफलता निदान-परीक्षा तथा प्रतियोगिता-परीक्षा—इन पाँच भेदो मे विभक्त हो जाती है। एक तीसरी दृष्टि से परीक्षाओ को आन्तरिक एवं बाह्य—इन दो भेदो म विभक्त किया जाता है। विद्यालय-जीवन मे परीक्षा के ये सभी प्रकार चलते है। इनकी विस्तृत जानकारी के लिए इसी लेखक द्वारा लिखित 'कक्षाध्यापन एवं पाठ-नियोजन'

शीर्षक ग्रन्थ का "परीक्षा-पद्धति" शीर्षक अध्याय देखना उपयोगी होगा। इस अध्याय मे हम सगठन एवं सचालन सम्बन्धी *आवश्यक बातों की ही चर्चा करेंगे।*

बाह्य और आन्तरिक परीक्षाएँ

सगठन की दृष्टि से परीक्षाओ को बाह्य और आन्तरिक, इन दो भेदो मे विभक्त किया जा सकता है। वे परीक्षाएं बाह्य कहलाती है, जिनके प्रश्न-पत्रो का निर्माण तथा उत्तर पुस्तको का जाँचना विद्यालय से बाहर के किसी अभिकरण के नियन्त्रण मे बाहर के ही परीक्षक करते हैं। जूनियर हाई स्कूल, हाई स्कूल तथा इण्टरमीजियेट की परीक्षाएँ बाह्य परीक्षाएँ हैं। इनका सचालन क्रमशः जिला-विद्यालय-निरीक्षक तथा *माध्यमिक-शिक्षा-परिषद करते हैं।*

प्रत्येक विद्यालय मे निम्नलिखित आन्तरिक परीक्षाएँ होती है :—

(अ) प्रवेश-परीक्षा—यह परीक्षा उस समय ली जाती है, जब कोई बालक या बालिका विद्यालय मे प्रवेश के लिए आती है। यदि सभी विद्यालयो का स्तर समान तथा ठीक रहे, तो इस परीक्षा को कोई आवश्यकता नही है। परन्तु स्तर-विषयक असमानता तथा *गडबडी के कारण यह परीक्षा इस समय आवश्यक हो गई* है। प्रत्येक विद्यालय को प्रवेश-परीक्षा लेकर ही छात्रो को प्रविष्ट करना चाहिए। हमारे विचार से प्रवेश-परीक्षा क रूप मे भाषा, गणित तथा बुद्धि—इन तीन की परीक्षा ली जानी चाहिए। छात्र का जितनी भी भाषाएँ विद्यालय मे पढ़नी हैं, परीक्षा उन सब मे होनी चाहिए। जिन छात्रों को गणित नहीं पढ़ना है, उनकी गणित मे परीक्षा लेने की कोई आवश्यकता नही है। बुद्धि-परीक्षा सब की होनी चाहिए। इस परीक्षा के लिए समीपवर्ती प्रशिक्षण-महाविद्यालय, प्रसार-विभाग तथा जिला मनोवैज्ञानिक आदि की सहायता ली जा सकती है। जो छात्र तीनो परीक्षाओं मे उत्तीर्ण हो, उन्हें ही विद्यालय की उपयुक्त कक्षा म प्रवेश देना चाहिए। यदि कोई छात्र विषय-परीक्षाओ म अनुपयुक्त सिद्ध हो परन्तु बुद्धि-परीक्षा मे खरा उतरे, तो उसे विद्यालय की आवश्यकतानुसार प्रवेश दिया जा सकता है।

यदि विद्यालय मे प्रवेश-परीक्षा होती हो, तो फिर परीक्षा के अतिरिक्त किसी अन्य दबाव के कारण छात्रो का प्रवेश नहीं होना चाहिए। यदि प्रधानाध्यापक किसी दबाव मे आ गया, तो फिर उसके सामने इतनी समस्याएं आकर खड़ी हो जायेंगी कि वे उसके सुलझाय न सुलझेंगी। यदि जिला विद्यालय निरीक्षक अनुमति दें, और यदि विद्यालय के पास पर्याप्त कोष हो या अभिभावक अतिरिक्त शुल्क देने को तैयार हों, तो पिछड़े हुए छात्रो के लिए विशेष कक्षाएं खोली जा सकती हैं।

(आ) मासिक परीक्षा—यह परीक्षा प्रत्येक मास के अन्तिम दिनों में ली जाती है। किन्हीं-किन्हीं विद्यालयों मे इसका आयोजन नियम-पूर्वक होता है और किन्हीं-किन्हीं मे अनियमित रूप से। इसमे परीक्षक भी विषयाध्यापक ही होता है। प्रत्येक विद्यालय मे इस परीक्षा का आयोजन होना चाहिए।

(ड) त्रैमासिक परीक्षा—यह परीक्षा मासिक परीक्षाओं की भाँति ही चलती है। इसके आयोजन की स्थिति भी उसकी जैसी ही होती है। किन्हीं-किन्हीं विद्यालयों में इसमें परीक्षक कक्षा के विषयाध्यापक न होकर अन्य कक्षाओं के विषयाध्यापक हो जाते हैं।

(ई) षाण्मासिक परीक्षा—यह परीक्षा अधिकतर विद्यालयों में होती है। साधारणतया इसमें परीक्षक परीक्ष्य कक्षा के उस विषय के अध्यापक न होकर अन्य कक्षाओं के अध्यापक होते हैं। इसका आयोजन लगभग वार्षिक परीक्षा की ही भाँति चलता है। इसका आयोजन कहीं-कहीं दिसम्बर के तृतीय सप्ताह में और कहीं-कहीं जनवरी के प्रथम सप्ताह में होता है। इसमें छात्रों को वार्षिक का पूर्वाभ्यास मिल जाता है और वे इसकी तैयारी से वार्षिक परीक्षा की तैयारी भी आरम्भ कर सकते हैं।

(उ) वार्षिक परीक्षा—यह परीक्षा तो प्रत्येक विद्यालय में होती ही है। इसका ढंग वही होता है, जो षाण्मासिक परीक्षा के प्रसंग में लिखा जा चुका है।

परीक्षाओं का संगठन एवं संचालन

मासिक परीक्षाएँ, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सम्बद्ध कक्षा का विषयाध्यापक ही लेता है। उसके संगठन एवं संचालन का उत्तरदायित्व विषयाध्यापक पर ही होता है। शेष परीक्षाओं के संचालन के निए प्रत्येक विद्यालय में एक विद्यालय-परीक्षा-समिति बननी चाहिए। इसका प्रधान स्वयं प्रधानाध्यापक तथा संयोजक वरिष्ठतम अध्यापक अथवा उपप्रधानाध्यापक रहे। प्रत्येक विषय के अध्यापकों में से वरिष्ठता के क्रम से एक-एक अध्यापक को इसका सदस्य बनाना चाहिए। इस समिति को परीक्षा के संगठन तथा संचालन का उत्तरदायित्व वहन करना चाहिए।

परीक्ष्य पाठ्यक्रमांशों का संकलन, परीक्षक-चयन, प्रश्नपत्र-निर्माण, उचित स्तर की दृष्टि से प्रश्नपत्रों पर पुनर्विचार, मुद्रण, परीक्षा-व्यवस्था, निरीक्षकों की नियुक्ति, परीक्षा-संचालन, उत्तर-पुस्तकों का संकलन, प्रेषण तथा प्रत्यादान, रजिस्टरों में प्राप्तांकों का लेखन तथा परीक्षा फल-निर्माण आदि सम्पूर्ण कार्य-कलाप इस समिति को करना चाहिए। प्रश्न-पत्रों तथा परीक्षा-फल की गोपनीयता तथा प्रश्न-पत्रों की स्तरोचितता का इसे विशेष ध्यान रखना चाहिए। समिति का अध्यापकों के साथ ऐसा व्यवहार होना चाहिए कि वे इसे अपना-अपना सर्वोत्तम सहयोग देकर प्रसन्नता अनुभव करें।

परीक्षकों की नियुक्ति में इसे इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि जो अध्यापक जिन जिन छात्रों को प्राइवेट ट्यूशन करते हों, वे उनके परीक्षक न हों। इस विषय में थोड़ी सी सावधानी बरतने से पक्षपात के आक्षेप के बहुत से भ्रमंड उत्पन्न नहीं हो पाते हैं। यदि आस-पास के अन्य विद्यालय सहयोग करने को तैयार हों, तो दूसरे विद्यालयों के अध्यापकों को भी परीक्षक नियुक्त किया जा सकता है।

हमारे देश में अब तक निबन्धात्मक परीक्षा का बोलबाला रहा है। इस अनेक गुणों के साथ अनेक कमियाँ भी हैं। इन कमियों को दूर करने के लिए अब य सुझाव दिया जा रहा है कि इस परीक्षा के साथ "नये ढंग की वस्तुगत-सफलता परीक्षा" को भी प्रचलित किया जाए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि हमारे विद्यालय में इन दोनों परीक्षा रूपों का साथ-साथ प्रचलन हो जाए, तो हमारे यहाँ प्रचलित अध्यापन विधियों में बहुत-सा सुधार हो जाए।

टिप्पणी—परीक्षाओं के विभिन्न रूपों की चर्चा हम यहाँ इसलिए नहीं करना चाहते क्योंकि इन सब बातों को छात्राध्यापक एल० टी० तथा बी० टी० के अन्य पत्रों में पढ़ लेते हैं। यहाँ उनकी चर्चा पिष्टपेषण मात्र होगी और पुस्तक का कलेवर व्यर्थ में बढ़ जायगा।

परीक्षा-पद्धति में सुधार को क्रियान्वित करने के लिए केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय के माध्यमिक-शिक्षा-विभाग की ओर से स्थान-स्थान पर परीक्षा एवं मूल्यांकन गोष्ठियाँ होती रहती हैं। उनमें विशेषज्ञ अध्यापकों को यह सिखाते हैं कि शिक्षा के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए हमारी परीक्षा पद्धति में क्या-क्या सुधार अपेक्षित है। प्रत्येक विद्यालय को ऐसी गोष्ठियों में अपने यहाँ के अध्यापक भेजकर उनका लाभ उठाना चाहिए।

जो कुछ इन गोष्ठियों में सिखाया जाता है, उसका सार यह है कि प्रत्येक विषय का अध्यापन आरम्भ करने के पहले अध्यापक को पहले यह निश्चय करना चाहिए कि वह किन किन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उस विषय का अध्यापन करने जा रहा है। तत्पश्चात् उसे यह निश्चय करना चाहिए कि छात्र के व्यवहार में क्या-क्या परिवर्तन हो जाने पर वह मान लेगा कि अमुक उद्देश्य उसे प्राप्त हो गया है। इस प्रकार उसे उद्देश्य को विश्लिष्ट करके व्यवहार-रूपों[1] में विभक्त कर लेना चाहिए। इसके अनन्तर उसे यह सोचना चाहिए कि पाठ्यवस्तु अथवा लोक-जीवन के किस-किस अंश के आधार पर क्या-क्या क्रियाएँ करा के वह आश्वस्त हो सकेगा कि छात्रों के जीवन में वे व्यवहार-रूप उत्पन्न हो गए हैं। जब कभी उसे छात्रों की परीक्षा लेनी हो, तब उसके सम्मुख प्रथम तो जिस तत्व की वह परीक्षा लेना चाहता है- वह स्पष्ट होना चाहिए और फिर उसे वे ही क्रियाएँ छात्रों से करानी चाहिए, जिनको कर देना स्पष्टतया यह प्रमाणित कर दे कि अभीष्ट योग्यता छात्र में है। इस प्रकार उसे जिस विषय के क्षेत्र में परीक्षा लेनी हो, उसके सभी उद्देश्यों की प्राप्ति की परीक्षा ले लेनी चाहिए। बिना निश्चित उद्देश्यों को मन में रखे अथवा कुछ थोड़े से ही उद्देश्यों को मन में रखकर प्रश्न-पत्र बना डालना और फिर उसे मनचाहे ढंग से जाँच कर किसी को उत्तीर्ण और किसी को अनुत्तीर्ण कर देना किसी प्रकार उचित नहीं है।

1. Behaviour Patterns.

प्रधानाध्यापक को चाहिए कि वह अपने अध्यापकों को परीक्षा-पत्र बनाने तथा उनके उत्तरों का सही-सही मूल्यांकन करने की कला मे प्रशिक्षित करा ले। इसके लिए वह उन्हें प्रशिक्षण-महाविद्यालयों के साथ लगे हुए प्रसार-विभागों द्वारा आयोजित गोष्ठियों में भेजे। यदि किसी प्रकार यह सम्भव न हो सके, तो अपने विद्यालयों के प्रशिक्षित अध्यापकों से ही अप्रशिक्षित अध्यापकों को कामचलाऊ प्रशिक्षण दिला दे। चाहे कुछ हो, उसे अपने विद्यालय की परीक्षा-पद्धति मे संशोधन करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। परीक्षा-पद्धति में सुधार होते ही अध्यापन-पद्धति भी स्वत. बदल जाएगी क्योंकि व्यवहार-रूपों की परीक्षा के लिए जो क्रियाएँ कराई जाएँगी, उन्हीं को करा के उनकी शिक्षा दी जा सकेगी। अतः स्पष्ट है कि तैरने की योग्यता की परीक्षा जिन क्रियाओं को कराके ली जाएगी, उन्हीं को कराके तैरने की योग्यता उत्पन्न की जाएगी। परीक्षा के रूप की भ्रष्टता के कारण ही हमारी शिक्षा में रटन्त तथा परीक्षक की स्वेच्छाचारिता का बोलबाला हो रहा है। उसे वस्तुगत बनाए बिना हमारी शिक्षा का उद्धार असंभव है।

परीक्षा-परिणामों का मूल्यांकन

छात्रों को परिणाम बता देने के पश्चात् अध्यापक मण्डल को बैठकर परीक्षा-परिणामों का मूल्याङ्कन करना चाहिए। उन्हे सोचना चाहिए कि कौन-कौन से छात्र किस-किस क्षेत्र मे पिछड़े हुए सिद्ध हुए हैं, उनके उस-उस क्षेत्र मे पिछड़ने के कारण क्या हैं, उनको अन्य छात्रों के साथ लाने के लिए क्या किया जाना उचित है, इस विषय में विद्यालय कितना काम कर सकता है, कितना काम छात्रों के अभिभावकों को करना चाहिए, उन छात्रों के पिछड़ने में कितना उत्तरदायित्व व्यक्तिगत रूप से विभिन्न अध्यापकों का है, और कितना सम्पूर्ण विद्यालय का है, भविष्य में अध्यापकों अथवा विद्यालय की ओर से कमी न रह जाए, इसके लिये क्या किया जाना चाहिए और क्या-क्या किया जाये कि सफल छात्रों की सफलता और अधिक उज्ज्वल हो जाये। परीक्षा-परिणामों का इस प्रकार मूल्याङ्कन करने तथा उचित पग उठाने में ही परीक्षाएँ लेने तथा उसमें इतना श्रम और धन लगाने की उपयोगिता है। आज की परीक्षाएँ तो अपने आप को धोखा देने की साधन-मात्र हैं।

परीक्षाएँ भयप्रद कैसे न रहें ?

प्रायः देखा जाता है कि परीक्षाएँ छात्रों के लिए बड़ी-भयप्रद सिद्ध होती हैं। हमने बहुत से छात्रों को परीक्षा के कारण अस्वस्थ हो जाते देखा है। बहुतों के होश-हवास परीक्षा-भवन मे बैठकर गुम हो जाते हैं। अनेक छात्र परीक्षा-भवन में बैठकर रोते देखे जाते हैं। परीक्षा आने पर अति जागरण तथा अनियमित भोजन के कारण स्वास्थ्य तो लगभग सभी छात्रों का बिगड़ जाता है। जीवन मे यह अस्तव्यस्तता भी परीक्षा के भय के कारण ही उत्पन्न हो जाती है। क्या परीक्षा सचमुच ऐसी ही

[illegible]

अध्यापक व छात्र वर्ष के प्रारम्भ से ही एक ऐसी गृह-कार्यमाला बनाएँ जिसके अनुसार छात्रों को [illegible] गृह-कार्य दिया जाता रहे और प्रत्येक कार्य [illegible] ही जिसे करने से छात्र को विषय के [illegible] हुए पाठों की पुनरावृत्ति मिलती रहे। यदि ऐसी योजना [illegible] आधार पर बनाना सम्भव न हो, तो [illegible] आधार पर बनाई जा सकती है और साथ [illegible] है, जिसको पूरा करने से विषय भाग से [illegible] हुए पाठ्य-वस्तु की पुनरावृत्ति मिलती रहे। इस प्रकार परीक्षा शिक्षण का अभिन्न अंग बनकर रह जाएगी और वह छात्रों के लिए इतनी स्वाभाविक हो जाएगी कि उसके मन से उसका भय निकल जाएगा। और यदि प्रत्येक गृह-कार्य पर दिया जाने वाला [illegible] उपयोगिता की दृष्टि से उपयोगी प्रतीत होने लगे, तो वह प्रत्येक गृह-कार्य को उतनी ही गम्भीरता से करेगा, जितनी गम्भीरता से वह वार्षिक परीक्षा को [illegible] करता है।

ऐसी परम्परा डाल देने से अनुशासन-सम्बन्धी तथा अन्य प्रकार के [illegible] नाश होंगे। छात्रों का श्रम वर्ष भर में *बिखरा हो जाएगा*। अब वर्ष भर मौज [illegible] करने तथा वार्षिक परीक्षा के अवसर पर *दिन-रात* जग कर स्वास्थ्य [illegible] कर लेने के खतरे समाप्त हो जाएँगे। छात्र अध्यापकों के प्रति नम्र और [illegible] व्यवहार करने के अभ्यासी बनेंगे और वार्षिक परीक्षा के अवसर पर की जाने [illegible] नकलें तथा निरीक्षकों को भय-प्रदर्शन करने की घटनाएँ स्वतः बन्द हो जाएँगी।

परीक्षा को नया रूप देने में अध्यापक बन्धुओं को श्रम अवश्य करना पड़े[illegible] परन्तु जैसे छात्रों का श्रम वर्ष भर में बिखरा हो जाएगा, वैसे उन्हें भी वर्ष के किसी एक भाग में अतिश्रम करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। यदि गृह कार्य-माला निबन्धात्मक परीक्षा तथा नवीन ढंग की वस्तुगत-सफलता परीक्षा के समन्वय के आधार पर बनाई जाने लगे, तो उसको जाँचने में भी उतना श्रम नहीं पड़ेगा, जितना आजकल पड़ता है। और सम्भवतः एक बार बनाई हुई गृह-कार्य-माला थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ अनेक वर्षों तक काम देती रहेगी। जो थोड़ा-बहुत अतिरिक्त श्रम पड़ भी जाएगा, वह निश्चित रूप से आज के खतरे उठाने के बदले अधिक *स्वीकरणीय होगा।*

उपसंहार

शिक्षण के साथ परीक्षा का चोली-दामन का सम्बन्ध है। यह सदा रहा है और सदा रहेगा। परीक्षा ने सदैव शिक्षण को प्रभावित किया है और वह आगे भी प्रभावित करती रहेगी। परीक्षा से छुटकारा पाने का कोई उपाय नहीं है। उससे

टुटकारा पाया भी नही जाना चाहिए, अन्यथा सर्वत्र असावधानी का बोलबाल हो जाएगा। आज शिक्षा-क्षेत्र मे जो बहुत सी गड़बड़ दिखाई दे रही हैं, वे परीक्षा के कारण नही, परीक्षा के गलत ढग से कारण है। वे तो परीक्षा को हटाने से नहीं, उसके ढग बदलने से दूर होगी। यही सोचकर इस अध्याय मे उसके विषय मे कुछ सलाहें दी गई हैं। परीक्षा के अगभूत विभिन्न प्रकार की जाँचो तथा उनके गुण-दोषो की चर्चा हम जान-बूझकर टाल गये हैं, क्योकि उससे पिष्ट-पेषण मात्र होता। उसके विषय मे विस्तृत जानकारी परीक्षा-विषयक किसी पुस्तक से ली जानी चाहिए। सामान्य जानकारी हमारी "कक्षाध्यापन और पाठ-नियोजन" से ली जा सकती है।

आशा है कि ऊपर की पंक्तियाँ परीक्षा-पद्धति मे आवश्यक सुधार लाने की दिशा मे अध्यापक बन्धुओ को कुछ प्रेरणा प्रदान करने मे समर्थ हो सकेंगी।

व्यवस्थाएँ की जा सकती हैं। ये दोनों व्यवस्थाएँ प्रत्येक विद्यालय में अवश्य होनी हिए। इस अध्याय में हम इन दोनों की ही संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

चिकित्सात्मक अध्यापन

अर्थ—विद्यालय में चलने वाले अध्यापन से पूरा-पूरा लाभ उठाने में असमर्थ र कक्षा में पिछड़ने लगने वाले छात्रों की असमर्थताओं के स्वरूप को समझकर के कारणों को खोजना और फिर उनको तथा उनके दुष्प्रभावों को दूर करने का न करना 'चिकित्सात्मक अध्यापन' कहलाता है।

क्षेत्र—विद्यालय-जीवन में जो भी क्रिया-कलाप होता है, उसका एकमात्र श्य छात्रों की सर्वतोमुखी समन्वित अभ्युन्नति होता है। उन सब क्रियाओं में से सी भी क्षेत्र में यदि बालक पिछड़ने लगता है, तो निश्चय ही उसके व्यक्तित्व का ई न कोई पहलू अविकसित रह सकता है। इसलिए यही मानना उचित है कि द्यालय-जीवन का प्रत्येक कार्य चिकित्सात्मक अध्यापन के क्षेत्र में आता है।

प्रयोजन—मानव-समाज को पूरी तरह सुखी और समृद्ध बनाने के लिए यह वश्यक है कि उसका प्रत्येक घटक (व्यक्ति) शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक तो दृष्टियों से अधिक से अधिक पूर्ण हो। संसार के सभी दुखों का मूल मनुष्य की पज्ञता तथा अल्पशक्तिमत्ता है। मनुष्य कभी सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान नहीं बन ता। हाँ, यदि कोई समाज अपने ज्ञान और क्रियाशक्ति को संकलित कर सके, तो का संकलित ज्ञान और पुंजीभूत क्रियाशक्ति उसे व्यक्ति की तुलना में अपेक्षाकृत धिक सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान बना सकते हैं। और यदि वह समाज ऐसा हो जाए उसका प्रत्येक घटक शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक दृष्टि से अधिक से अधिक र्ण हो, तो निश्चय ही वह समाज सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता की प्राप्ति के अधिक अधिक निकट पहुँच जाएगा। यह निकटता उसे अधिक से अधिक सुखी और समृद्ध ना सकेगी। इस कारण प्रत्येक समाज का यह गम्भीर कर्त्तव्य है कि वह अपने त्येक घटक को अधिक से अधिक पूर्ण बनाने का प्रयत्न करे और उसके मार्ग में जो धाएँ ...ने में उसकी सहायता करे।

...की स्थापना की हुई होती है, उनमें से ...पूर्ण व्यक्तित्व के सर्वतोमुखी समन्वित ...को पूरा करने के लिए विद्यालय ... उपयुक्त वातावरण का निर्माण ... को विद्यालय कभी नहीं निभा ... लिए चिकित्सात्मक अध्यापन की व्यवस्था

समान मात्रा में
वैयक्तिक .

आएँगी। परन्तु फिर भी प्रत्येक व्यक्ति को अपने अधिक से अधिक विकास का अवसर तो मिलना ही चाहिए। जनतन्त्रीय समाज मे तो यह और अधिक आवश्यक है अन्यथा प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक हिताहित के निर्णय तथा उसके क्रियान्वयन में अपना पूरा पूरा योग न दे सकेगा। इस स्थिति से अन्त मे व्यक्ति-विशेष ही नहीं, वरन् समाज भी घाटे मे रहेगा। सम्पूर्ण समाज को इस हानि से पूर्व-रक्षित करने के लिए विद्यालयो मे चिकित्सात्मक अध्यापन की व्यवस्था आवश्यक है।

छात्रो के पिछड़ने के कारण—नियमित अध्ययनाध्यापन चलते रहने पर भी छात्रो के कक्षा मे पिछड़ जाने के निम्नलिखित कारण होते हैं:—

१. बुद्धि-मन्दता—बहुत से छात्रो के पास बुद्धि एवं स्मरण शक्ति का ऐसा जन्मजात अभाव होता है कि घोर परिश्रम करने तथा शिक्षक के साथ सिर मारने पर वे या तो बिलकुल नहीं सीख पाते या बहुत मन्दगति से सीख पाते हैं। ऐसे छात्रो की प्रगति मन्दता का कारण उनकी बुद्धिमन्दता होती है।

२. इन्द्रिय दोष—समाज मे मनुष्य का सम्पूर्ण ज्ञान क्रियात्मक अनुभव इन्द्रियो के माध्यम से चलता है। ज्ञान अनुभवो का सामान्यीकृत रूप होता है। अनुभव प्राप्त करने का साधक—इन्द्रियाँ ही हैं। जिस व्यक्ति की इन्द्रियों में रचनात्मक अथवा क्रियागत दोष होता है, वह ज्ञान ग्रहण करने की प्रक्रिया में भी उतना ही मन्द होता है। यह मन्दता उसे धीरे धीरे अन्य छात्रो की तुलना मे पिछड़ने के लिए विवश कर देती है।

३. प्रकृति-दोष—बहुत से छात्र प्रकृति से सुस्त, जिद्दी, क्रोधी, झेंपू, आलसी तथा एकान्तप्रिय आदि होते हैं। इन अवांछित दोषो के कारण वे विद्यालय-जीवन सम्बन्धी विभिन्न क्रियाओ मे पूरा-पूरा भाग नहीं ले पाते और इस प्रकार [illegible] पिछड़ जाते हैं।

४. विपरीत परिस्थितियाँ—बहुत से छात्र ऐसे होते हैं, जिनकी [illegible] इतनी [illegible] होती है कि वे अध्ययन मे [illegible] तथा [illegible] नहीं [illegible] [illegible] [illegible] परिश्रम करना पड़ता है [illegible] [illegible] [illegible] नहीं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible]

[illegible]

५. अस्वस्थता—बहुत से छात्र अस्वस्थता के कारण कक्षा में पिछड़ने लगते हैं। अपर्याप्त अथवा पोषक-तत्त्व-हीन भोजन, अतिभोजन, व्यायाम का अभाव, रतिश्रम, व्यभिचार, धूम्रपान एवं रोग आदि कारणों से छात्रों का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता और वे अध्ययन में उतना श्रम नहीं कर पाते, जितना उन्हें करना चाहिए। कभी-कभी ऐसी स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है कि वे इच्छा रखते हुए भी श्रम करने, अवधान को केन्द्रित रखने तथा वस्तुओं को स्मृति में धारण करने में असमर्थ हो जाते हैं। इसका परिणाम होता है, उनका पिछड़ने लगना।

६. वातावरण की दूषितता—विद्या ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक है कि छात्र ऐसे वातावरण में रहे, जिसमें अध्ययनोचित गुणों के अर्जन में सुविधा हो और किसी भी प्रकार के कुसंस्कार मन पर न पड़ें। आजकल अधिकतर छात्र कुछ समय विद्यालय में रहकर अपने परिवार तथा समाज में वापस चले जाते हैं। वहीं वे विभिन्न प्रकार के अध्ययन विरोधी संस्कार एकत्रित करते रहते हैं। गुरुओं तथा विद्यालय के प्रति अश्रद्धा, दुर्व्यसन, अशुद्ध उच्चारण, अभद्र व्यवहार, अध्ययन में अरुचि तथा कामचोरपन आदि वे साधारणतया वहीं से सीखते हैं। इनके कारण कक्षा में पिछड़ने लगते हैं।

७ भावना-ग्रन्थियाँ—बहुत से छात्र अपने को बहुत बुद्धिमान अथवा सामर्थ्य-युक्त समझकर अध्ययन में श्रम नहीं करते। कक्षा के अन्य छात्र नियमित गति से काम करते हुए आगे बढ़ते रहते हैं। फलत. अपने को अत्यधिक बुद्धिमान समझने वाला छात्र कक्षा में पिछड़ जाता है। कभी-कभी अपने को हीन मानने वाला छात्र नैराश्य-भावना से स्तब्ध होकर श्रम करना बन्द कर देता है। वह भी कक्षा में पिछड़ जाता है। यह पिछड़ना ग्रन्थियों की विद्यमानता के कारण होता है।

८. दोष-पूर्ण अध्यापन—प्रत्येक अध्यापक को अध्यापन-विधि का निर्णय—अध्यापन के उद्देश्य, पाठ्यवस्तु के स्वरूप, छात्र की क्षमता एवं रुचि, अपनी योग्यता तथा वातावरण की उपयुक्तता के विचार से करना पड़ता है। निर्णय करने के पश्चात् उसे सावधानी एवं परिश्रम से उस विधि का प्रयोग करना पड़ता है। यदि अध्यापक विधि-निर्णय में भूलकर जाए अथवा आलस्य एवं असावधानी के वशीभूत होकर कुछ का कुछ करने लगे, तो छात्र पाठ्यवस्तु को न तो अपना मनोयोग देगा और न उसे ठीक प्रकार से ग्रहण कर पाएगा। प्रतिभा-सम्पन्न अथवा घर पर अध्यापन की सुविधा प्राप्त कर लेने वाले छात्र संभव है कि अध्यापन के इस दोष की हानियों से बच जाएँ, परन्तु अन्य छात्र निश्चित रूप से कक्षा में पिछड़ने लगेंगे। इस प्रकार पिछड़ने वाले छात्रों के पिछड़ने का कारण अध्यापन-विधि की त्रुटि होगी।

९. दुरभ्यास—बहुत से छात्रों को अनेक कारणों से बुरी आदतें पड़ जाती हैं। उदाहरणार्थ—यदि किसी छात्र को ओठ हिलाते अथवा भुनभुनाते हुए पढ़ने की आदत पड़ जाए, तो वह निश्चित रूप से उतनी तेजी से मौन वाचन नहीं कर सकता, जितनी तेजी से निःस्वर वाचन करने वाला कर सकता है। फलतः उसका वाचन-परिमाण

निश्चित रूप से अपेक्षाकृत कम होगा। ऐसे छात्र कक्षा में अवश्य पिछड़ेंगे। बायें हाथ से लिखने वाले, अनावश्यक रूप से हाथ-पैर या सिर हिलाते हुए पढ़ने वाले, असावधानी से काम करने के अभ्यास छात्र भी इसी प्रकार विभिन्न दृष्टियों से पिछड़ने लगते हैं।

१०. **अन्य कारण**—कक्षा में पिछड़ने के कुछ कारणों की चर्चा यहाँ कर दी है। सावधानी से निरीक्षण करने पर सम्भव है कि कतिपय अन्य कारणों पर भी दृष्टि पड़ जाए। उन्हें भी सावधानी से नोट कर लिया जाना चाहिए।

विद्यालय का कर्त्तव्य—जिन छात्रों में बुद्धि की कमी है अथवा जिनकी इन्द्रियाँ इतनी विकृत हैं कि उनकी चिकित्सा न हो सके, उनके विषय में विद्यालय कुछ नहीं कर सकता। वस्तुतः ऐसे छात्रों को, जो बुद्धि की कमी अथवा उग्र इन्द्रिय-दोष के कारण सामान्य विद्यालयों के छात्रों के साथ चलने में असमर्थ हों, विशिष्ट विद्यालयों में भेजा जाना चाहिए। छात्र के व्यक्तित्व की अन्य ऐसी कमियाँ—जिनका आधार उपरिलिखित त्रुटियाँ हैं, उनके विषय में भी विद्यालय को विवश ही समझना चाहिए। इनके विषय में विद्यालय का इतना कर्त्तव्य तो है ही कि वह इनके साथ सहानुभूति का ऐसा मधुर व्यवहार करे कि वे अपनी ग्लानि को भूल जाएँ। अन्य कारणों से अन्य क्षेत्रों में पिछड़ने वाले छात्रों के प्रति तो स्पष्टतया विद्यालय का यह कर्त्तव्य है कि वह पिछड़ने के कारणों तथा उनसे उत्पन्न हानियों से छात्रों को बचाए और उनके अभिभावकों की, जो कुछ बन पड़े, सहायता करे। इस विषय में विद्यालय जो कुछ कर सकता है, उसका संक्षिप्त वर्णन नीचे की पंक्तियों में किया जाता है —

बुद्धि-न्यूनता—विद्यालय बुद्धिहीन छात्रों को बुद्धि नहीं दे सकता परन्तु जितनी बुद्धि उनके पास है, उनके सदुपयोग का अवसर अवश्य प्रस्तुत कर सकता है। यदि विद्यालय के अध्यापक निम्नलिखित कार्य कर सकें, तो मन्दबुद्धि छात्र भी अपनी कमियाँ बहुत सीमा तक दूर कर सकते हैं—

१. कक्षाध्यापन में छात्रों का अधिक से अधिक सहयोग लेना।
२. छात्रों की छोटी-छोटी टोलियाँ बनाकर शिक्षा को अधिक से अधिक व्यक्तिगत बनाना।
३. पाठ्यवस्तु और अध्यापन विधि को अधिक से अधिक सरल तथा रोचक बनाना।
४. मूर्त सहायक युक्तियों का प्रयोग करते हुए अधिकाधिक अभ्यास कराना।
५. मूर्त उदाहरणों[1] का अधिकाधिक प्रयोग करना।

इन्द्रिय-दोष—इस प्रकार के दोष कभी-कभी [illegible] होते हैं, और कभी-कभी [illegible]। [illegible] निर्मूल तो बहुत ही कठिनता से होते हैं, परन्तु कम [illegible]

1. Illustrations.

अवश्य हो सकते हैं। यदि व्यक्ति के हृदय में उत्कट इच्छा-शक्ति उत्पन्न कर दी जाए, तो यह सब प्रकार के दोषों को उखाड़ कर फेंक सकता है। अर्जित दोष मिथ्या आहार-विहार, रोग तथा विविध मनोवैज्ञानिक कारणों से उत्पन्न हो जाते हैं। कारणों के नाश तथा पोषक कारणों के निवारण से ऐसे दोष स्वतः दूर हो जाते हैं। विद्यालय को कारणों की खोज अवश्य सावधानी तथा मनोयोग से करनी पड़ेगी।

इन्द्रिय-दोष—ये दोष भी दो प्रकार के होते हैं :—प्रथम जन्मजात और द्वितीय अर्जित। दोनों प्रकार के दोष कुछ तो चिकित्सा से दूर हो जाते हैं और कुछ नहीं होते। जिन दोषों की चिकित्सा हो सकती है, उनके लिए विद्यालय चिकित्सालयों की सहायता ली जानी चाहिए। अथवा छात्रों के अभिभावकों से प्रार्थना की जानी चाहिए कि वे उनकी समुचित चिकित्सा की व्यवस्था करें।

अध्यापक भी कुछ सावधान तथा सहानुभूति-पूर्ण रहकर कतिपय छात्रों की सहायता कर सकते हैं। जिन छात्रों की दृष्टि अथवा श्रवण-शक्ति दुर्बल हो, उन्हें कक्षा में आगे बिठा लेना चाहिए। जिनके उच्चरणांगों में कुछ विकृति हो, उनसे बार-बार उच्चरणाभ्यास कराया जाना चाहिए। इसी प्रकार अन्य इन्द्रिय-दोषों के विषय में सावधानी से सहायता पहुँचायी जा सकती है।

विपरीत परिस्थितियाँ—विपरीत परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कराने का एक-मात्र उपाय छात्रावास-व्यवस्था है। इस समय तो इस व्यवस्था से भी धनिक छात्रों की समस्या ही हल हो सकती है। सरकार को धीरे धीरे निःशुल्क छात्रावासों की व्यवस्था करनी चाहिए। इस समस्या का दूसरा उपाय विद्यालय-परिवार-सहयोग है। उसके लिए भी सभी सम्भव प्रयत्न किये जाने चाहिए। परिस्थितियों पर विजय कराने के लिए विद्यालय में भी कुछ किया जा सकता है। सहयोगिता के आधार पर पुस्तकों आदि के वितरण एवं विनिमय का प्रचलन कराके, विद्यालय समय में ही गृह-कार्य करने का अवसर देकर, धनिक छात्रों को अन्यों की सहायता करने का प्रोत्साहन देकर, छात्रवृत्तियों, पुरस्कारों तथा ऋण की उदार व्यवस्था करके, विद्यालय में होने वाले निर्माण तथा मरम्मत के कार्यों को छात्रों से करा के तथा सामान्यतया सहानुभूति-पूर्ण वृत्ति रखकर विद्यालय बहुत से छात्रों को विपरीत परिस्थितियों पर विजय करा सकता है। जो छात्र भिन्न पाठ्यक्रम वाले विद्यालय से आए हों, उनके लिए विशेष कक्षाएँ चलाई जा सकती हैं।

अस्वस्थता—अस्वस्थता के जिन कारणों की चर्चा ऊपर की पंक्तियों में की जा चुकी है, वे विद्यालय में उत्पन्न न हो सकें—इस बात का ध्यान तो विद्यालय रख ही सकता है। स्वास्थ्य की जनक तथा अस्वास्थ्य की नाशक जिन परिस्थितियों के उत्पादन में परिवार और समाज के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। उनके [illegible] में विद्यालय प्रत्यक्षतः तो कुछ नहीं कर सकता परन्तु उसे इस विषय में [illegible] आकृष्ट करते रहना चाहिए। समझदार तथा समर्थ माता-पिता अवश्य हो [illegible]

निश्चित रूप से अपेक्षाकृत कम होगा। ऐसे छात्र कक्षा में अवश्य पिछड़ेंगे। हाथ से लिखने वाले, अनावश्यक रूप से हाथ-पैर या सिर हिलाते हुए पढ़ने व असावधानी से काम करने के अभ्यास छात्र भी इसी प्रकार विभिन्न दृष्टियों से पिछ लगते हैं।

१०. अन्य कारण—कक्षा में पिछड़ने के कुछ कारणों की चर्चा यहाँ का है। सावधानी से निरीक्षण करने पर सम्भव है कि [illegible]

[illegible] है कि उनकी चिकित्सा न हो सके, उनके विषय में विद्यालय कुछ न कर सकता। वस्तुतः ऐसे छात्रों को, जो बुद्धि की कमी अथवा उग्र इन्द्रिय-दोष कारण सामान्य विद्यालयों के छात्रों के साथ चलने में असमर्थ हो, विशिष्ट विद्यालय में भेजा जाना चाहिए। छात्र के व्यक्तित्व की अन्य ऐसी कमियाँ—जिनका आधार उपरिलिखित त्रुटियाँ हैं, उनके विषय में भी विद्यालय को विवश ही समझना चाहिए। इनके विषय में विद्यालय का इतना कर्त्तव्य तो है ही कि वह इनके साथ सहानुभूति का ऐसा मधुर व्यवहार करे कि वे अपनी ग्लानि को भूल जाएँ। अन्य कारणों से अन्य क्षेत्रों में पिछड़ने वाले छात्रों के प्रति तो स्पष्टतया विद्यालय का यह कर्त्तव्य है कि वह पिछड़ने के कारणों तथा उनसे उत्पन्न हानियों से छात्रों को बचाए और उनके अभि-भावकों को, जो कुछ बन पड़े, सहायता करे। इस विषय में विद्यालय जो कुछ कर सकता है, उसका संक्षिप्त वर्णन नीचे की पंक्तियों में किया जाता है :—

बुद्धि-मन्दता—विद्यालय बुद्धिहीन छात्रों को बुद्धि नहीं दे सकता परन्तु जितनी बुद्धि उनके पास है, उसके सदुपयोग का अवसर अवश्य प्रस्तुत कर सकता है। यदि विद्यालय के अध्यापक निम्नलिखित कार्य कर सकें, तो मन्दबुद्धि छात्र भी अपनी कमियाँ बहुत सीमा तक दूर कर सकते हैं—

१. कक्षाध्यापन में छात्रों का अधिक से अधिक सहयोग लेना।
२. छात्रों को छोटी-छोटी टोलियाँ बनाकर शिक्षा को अधिक से अधिक व्यक्तिगत बनाना।
३. पाठ्यवस्तु और अध्यापन विधि को अधिक से अधिक सरल तथा रोचक बनाना।
४. स्मृति-सहायक युक्तियों का प्रयोग करते हुए अधिकाधिक अभ्यास कराना।
५. मूर्त उदाहरणों[1] का अधिकाधिक प्रयोग करना।

प्रकृति दोष—इस प्रकार के दोष कभी कभी [illegible] होते हैं, और कभी कभी [illegible]। [illegible] दोष निर्मूल तो बहुत ही कठिनता से होते हैं, परन्तु कम

1. Illustrations.

की सलाह का लाभ उठायेंगे, जिससे पिछड़ने की समस्या किसी सीमा तक अवश्य हल होगी।

वातावरण की दूषितता—इस कारण उत्पन्न होने वाले फिसड्डीपन का पूरा निराकरण तो अनिवार्य छात्रावास-व्यवस्था से ही सम्भव है। उसके अभाव में विद्यालय-परिवार-सहयोग का आश्रय लिया जाना चाहिए। आज के युग में यह भी सम्भव नहीं हो पा रहा है। ऐसी परिस्थिति में विद्यालय एक कार्य यही कर सकता है कि शिक्षण एवं प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था से वह छात्रों के मन में दृढ़ प्रतिरोधी इच्छा-शक्ति उत्पन्न कर दे, जिससे उनके मन पर वातावरण का दूषित प्रभाव न पड़े। सच्चरित्र एवं अध्यवसायी अध्यापक इस कार्य में अवश्य सफल हो सकते हैं।

भावना-ग्रन्थियाँ—विद्यालयीय तथा सामाजिक जीवन में प्रतिक्षण चलने वाली सामाजिक मिथःक्रिया[1] में विभिन्न कारणों से दूसरों की अपेक्षा अधिक सफलता पाने वाले अथवा कम सफलता पाने वाले छात्रों के मन में क्रमशः श्रेष्ठता तथा हीनता की भावना-ग्रन्थियाँ बन जाती हैं। इसी प्रकार किन्हीं-किन्हीं छात्रों के मन में किन्हीं-किन्हीं विषयों तथा व्यक्तियों के विषय में भय, द्वेष एवं अरुचि आदि की ग्रन्थियाँ भी जन्म ले लेती हैं। इनसे पीड़ित छात्रों की ग्रन्थियों को खोलने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। हीनता की भावना-ग्रन्थि से पीड़ित छात्र के साथ, यदि सहानुभूति का व्यवहार किया जाए और उसकी योग्यता के अनुरूप काम देकर उसे सफलता के दर्शन कराए जाएँ, तो उसकी ग्रन्थि टूट जाती है। प्रतियोगिता में भाग दिलाकर तथा कठिन काम दे-देकर और ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करके, जिनमें वह कभी औरों से आगे तथा कभी औरों से पीछे रहे, श्रेष्ठता की भावना ग्रन्थि को भी ढीला किया जा सकता है। भय आदि की ग्रन्थियों से पीड़ित छात्र को यह अनुभव कराना चाहिए कि उसने गलतफहमी अथवा नासमझी के कारण उस प्रकार की धारणाएँ बनाना है। इस प्रकार की मनोवैज्ञानिक युक्तियों से विद्यालय अपने छात्रों को सब प्रकार की भावना-ग्रन्थियों से मुक्त कर सकता है।

दोषपूर्ण अध्यापन—दोषपूर्ण अध्यापन के कारण उत्पन्न छात्रों की कमियों को विद्यालय सरलता से दूर कर सकता है। वह सम्बद्ध अध्यापक से अपनी अध्यापन-विधि सुधारने के लिए कहे और साथ ही छात्र में जो कमियाँ उत्पन्न हो गई हैं, उनके लिए अतिरिक्त अध्यापन की व्यवस्था करे। अतिरिक्त अध्यापन रोचक विधियों से कराया जाना चाहिए, अन्यथा वह छात्र के लिए भार-स्वरूप हो जाएगा।

दुर्व्यवहार—इसके विषय में वे ही सब बातें लागू होती हैं, जो दूषित वातावरण के प्रसंग में कही जा चुकी हैं। इसका ठीक [illegible] के पश्चात् [illegible] की समुचित व्यवस्था भी विद्यालय को करनी चाहिए।

(ख) उपचारात्मक अध्यापन के सामान्य सिद्धान्त—विद्यालय-जीवन में उपचारा-त्मक अध्यापन की आवश्यकता पग-पग पर पड़ सकती है, इस कारण उसके आधारभूत

1. [illegible]

सिद्धान्तों को समझ लेना प्रत्येक अध्यापक के लिए उपयोगी होगा । संक्षेप में वे सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

(१) अध्यापकों के मनों में छात्रों के प्रति गम्भीर सहानुभूति का भाव होना चाहिए और उनके मन में यह धारणा उत्पन्न करनी चाहिए कि वे अवश्य ही सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

(२) प्रत्येक छात्र लगभग व्यक्तिगत कारणों से ही पिछड़ता है अतः प्रत्येक का व्यक्तिगत रूप से ही ध्यान रखना चाहिए। जहाँ कहीं सामूहिक कार्य उपयोगी हो, प्रतीत वहाँ समूह में काम कराने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

(३) छात्रों की असफलता के स्थलों के कारणों का पता लगाकर उन्हें एक-एक करके निर्मूल कर देना चाहिये। जहाँ कारण नाश के पश्चात् भी उसके प्रभावों के पूरी तरह नष्ट न होने की सम्भावना हो, वहाँ शिक्षण एवं प्रशिक्षण द्वारा उस प्रभाव की भी स्वतन्त्र चिकित्सा कर लेनी चाहिए।

(४) अध्यापक को अपने व्यक्तित्व को श्रद्धेय बनाने तथा बनाये रखने के विषय में अत्यधिक सावधान रहना चाहिए। अश्रद्धेय चिकित्सक की चिकित्सा अधिकतर व्यर्थ की जाती है। अश्रद्धेय अध्यापक स्वयं छात्रों से मुँह छिपाता फिरता है। वह उनकी चिकित्सा क्या करेगा ?

(५) छात्रों के पिछड़ेपन के स्थलों तथा कारणों को अच्छे प्रकार समझ कर दोनों के विषय में ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि पुरानी समस्याओं का समाधान तो होता ही चले, नई समस्यायें भी उत्पन्न न हों।

(६) विद्यालय, परिवार, समाज तथा विद्यालय-चिकित्सालयों के बीच सहयोग निरन्तर बना रहना चाहिये।

(७) अभ्यास-कार्य में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं बरती जानी चाहिये। परन्तु अभ्यास-कार्य इस प्रकार का नहीं होना चाहिये और न इस प्रकार कराया जाना चाहिये कि वह भार प्रतीत हो। दण्ड की भावना से तो इस प्रकार का कार्य कभी नहीं करना चाहिये; अन्यथा कुसंस्कार पड़ने का भय रहता है।

इस प्रकार मनोयोग-पूर्वक चिकित्सात्मक अध्यापन की व्यवस्था होने पर छात्रों की प्रगति के मार्ग में कोई बाधा नहीं खड़ी रह पाती। आज के विद्यालयों में असफलता का परिमाण देखते हुए इस प्रकार के अध्यापन की अत्यधिक आवश्यकता है।

शैक्षणिक पथ-प्रदर्शन

अर्थ—सामान्य शिक्षा की समाप्ति पर प्रत्येक छात्र को अनेक वैकल्पिक विषयों में से किन्हीं दो-तीन विषयों का चुनाव करना पड़ता है। चुनाव का यह अवसर इस दृष्टि से प्रस्तुत किया जाता है कि छात्र सामाजिक जीवन में जिस प्रकार का जीविका-साधन अपनाना चाहता हो, उसके लिए तैयार करने वाले विषयों का अध्ययन

वह इसी समय से आरम्भ कर दे। इस चुनाव के अवसर पर छात्र को यह कि उसमें अमुक अमुक विषयों के अध्ययन की पात्रता है अतः उसे उनका चुनाव सामाजिक जीवन के लिए तैयार होने लगना चाहिए, शैक्षणिक पथ-प्रदर्शन है। इस प्रकार के पथ-प्रदर्शन की व्यवस्था छात्रों के लिए १४+आयु के आसन जाती है।

प्रयोजन—आज का समाज बहुत अधिक जटिल हो गया है। उसकी श्यकताओं की पूर्ति के लिए अब नाना प्रकार के उद्योग-धन्धे, व्यापार तथा व्य चल रहे हैं। उन उद्योग-धन्धों आदि को सुचारु रूप से चलाने तथा उन्हें उन्नति बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि उनमें ऐसे व्यक्ति ही सम्मिलित हों, उनके उपयुक्त योग्यताएँ हों। इधर मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि छात्र शारीरिक एवं मानसिक कार्य क्षमता की दृष्टि से व्यक्तिगत विभिन्नताएँ लिए होते हैं, इसलिए सभी व्यक्ति एक ही प्रकार के कार्य के लिए और प्रत्येक सभी प्रकार के कार्यों के लिए उपयुक्त नहीं होते। इन सामाजिक एवं मनोवैज्ञा परिस्थितियों को मिलाकर देखने से एक तथ्य स्वयं प्रकट हो जाता है कि यदि प्र व्यक्ति अपने योग्य उद्योग-धन्धों, व्यापार अथवा व्यवसाय में लग सके, तो व्यक्ति समाज—दोनों की न केवल आवश्यकताएँ पूरी होती रहें अपितु वे निरन्तर प्रगति करते रहें। यह बिलकुल स्पष्ट है कि व्यक्ति अपनी योग्यता का विकास उसी दि में अच्छे प्रकार से कर सकता है, जिसकी स्वाभाविक प्रतिभा उसमें पहले से विद्यम है। शैक्षणिक पथ-प्रदर्शन की व्यवस्था करके विद्यालय छात्रों को उस दिशा का ज्ञा कराते हैं, जिसमें चलकर वे अपने व्यक्तित्व का अधिकतम विकास करते हुए समाज अधिकतम सेवा कर सकें। इस प्रकार के पथ-प्रदर्शन के अभाव में यही अधिक सम्भ है कि विभिन्न परिस्थितियों से विवश होकर छात्र अनुपयुक्त दिशाओं में चल पड़ें औ इस प्रकार एक ओर उन्हें अनुपयुक्त विषयों में अपनी शक्तियाँ लगाते रहना पड़े औ दूसरी ओर समाज के विभिन्न व्यवसाय एवं विभाग अनुपयुक्त व्यक्तियों द्वारा संचालि होकर दुर्गति को प्राप्त होते रहें।

पथ प्रदर्शन की आवश्यकताएँ—शैक्षणिक पथ प्रदर्शक छात्रों को कल्पना अथवा अनुमान के सहारे मार्ग नहीं बता देता। वह प्रत्येक छात्र का व्यक्तिगत रूप से अध्ययन करता है और उसके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं के विषय में जहाँ कहीं से कुछ भी जानकारी मिल सकती है, प्राप्त करके अपनी सलाह देता है। पथ प्रदर्शक छात्र का जितना अधिक अच्छा अध्ययन करके अपना विचार बनाता है, वह उतना ही अधिक विश्वसनीय होता है। पथ प्रदर्शक विश्वसनीय रूप में सलाह दे सके, इसके लिए उसे निम्नलिखित वस्तुओं की आवश्यकता होती है—

१. विद्यालय के परीक्षा-परिणाम

वर्तमान परीक्षा-पद्धति की त्रुटियों की आलोचना करते हुए भी यदि [illegible] परन्तु यदि किसी छात्र के अनेक वर्षों के परीक्षा-परिणाम प्राप्त हो सकें, तो उनसे वह अवश्य

पता लग सकता है कि उसने किस विषय में कितनी योग्यता प्राप्त करली है और किस विषय में उसकी अभिरुचि होने की अधिक सम्भावना है। किसी विषय में नियम से अधिक अंक प्राप्त करते रहना और किसी विषय में प्रगति-हीनता प्रदर्शित करते रहना *अकारण नहीं हो सकते। परीक्षा परिणामों में तभी कुछ उपयोगी* परिणाम निकाला जा सकता है, जब वे यथासम्भव अधिक से अधिक परीक्षाओं के मिल सकें। एक-दो परीक्षाओं में तो किसी छात्र के अधिक अंक किसी अन्य कारण से भी आ सकते हैं।

२. बुद्धि-परीक्षा-परिणाम

किस छात्र में कितनी बुद्धि है, इसकी परीक्षा भी जाँचों की सहायता से की जा सकती है। यह समझ लिया गया है कि जीवन के किस क्षेत्र में जाने के लिए कम से कम कितनी बुद्धि होना आवश्यक है। उदाहरणार्थ—विज्ञान-समूह के विषयों के लिए ११०, भाषा साहित्य-समूह के विषयों के लिए १००, व्यवसाय-समूह के विषयों के लिए ९५, औद्योगिक समूह के विषयों के लिए १००, कृषि-समूह के विषयों के लिए ९५, ललित कला-समूह के विषयों के लिए ९० तथा गृह-विज्ञान-समूह के विषयों के लिए ९० बुद्धि-अङ्क आवश्यक माने गये हैं। यदि किसी छात्र की बुद्धि परीक्षा लेकर उसके बुद्धि-अङ्कों का पता लगा लिया जाए तो यह कल्पना की जा सकती है कि वह किस-किस समूह में अधिक सफल हो सकेगा। बुद्धि-परीक्षा कुशल व्यक्ति ही ले सकते हैं अतः उसके लिए जिला-मनोवैज्ञानिक आदि विशेषज्ञों की सहायता ली जानी चाहिए।

३. पात्रता-परीक्षा-परिणाम

बुद्धि 'सामान्य' और 'विशिष्ट' भेद से दो प्रकार की होती है। बुद्धि के सामान्य *अंश का उपयोग सभी विषयों के अध्ययन में होता है परन्तु उसका विशिष्ट अंश,* विशिष्ट अंशों के लिए होता है। इसी तरह विशिष्ट-विशिष्ट क्षेत्रों के लिए विशेष-विशेष शारीरिक, मानसिक एवं चारित्रिक गुणों की विशेष उपयोगिता होती है। इन सब का अध्ययन करके यह जाना जा सकता है कि छात्र में किस विशेष विषय की पात्रता (Aptitude) है। उसके निर्देशन के लिए इस परीक्षा का परिणाम भी अत्यन्त उपयोगी होता है।

४. अध्यापकों का प्राक्कलन

जब से छात्र विद्यालय में आता है, तब से वह विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न अध्यापकों के तत्वावधान में रहता है। उसके व्यवहार के विभिन्न रूपों को विभिन्न *परिस्थितियों में देखकर उन्हें ज्ञात हो जाता है कि छात्र में क्या-क्या शारीरिक, मानसिक,* आत्मिक तथा सामाजिक विशेषताएँ अथवा कमियाँ हैं। अपनी धारणाओं के आधार पर वे यह भी सोचने लगते हैं कि अमुक छात्र अमुक क्षेत्र में अधिक सफल हो सकेगा। शिक्षकों का यह प्राक्कलन, यद्यपि होता तो व्यक्तिनिष्ठ[1] है, तथापि इसकी उपयोगिता

1. *Subjective.*

वह इसी समय से आरम्भ कर दे। इस चुनाव के अवसर पर छात्र को ॰
कि उसमे अमुक अमुक विषयो के अध्ययन की पात्रता है अतः उसे उनका उ
सामाजिक जीवन के लिए तैयार होने लगना चाहिए, शैक्षणिक पथ-प्रदर्शन
है। इस प्रकार के पथ-प्रदर्शन की व्यवस्था छात्रों के लिए १४+आयु के आ
जाती है।

प्रयोजन—आज का समाज बहुत अधिक जटिल हो गया है। उस
श्यकताओं की पूर्ति के लिए अब नाना प्रकार के उद्योग-धन्धे, व्यापार तथा
चल रहे हैं। उन उद्योग धन्धों आदि को सुचारु रूप से चलाने तथा उन्हें उ
बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि उनमें ऐसे व्यक्ति ही सम्मिलित हो
उनके उपयुक्त योग्यताएँ हो। इधर मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है
छात्र शारीरिक एवं मानसिक कार्य-क्षमता की दृष्टि से व्यक्तिगत विभिन्नताएँ
होते हैं, इसलिए सभी व्यक्ति एक ही प्रकार के कार्य के लिए और प्रत्येक
सभी प्रकार के कार्यों के लिए उपयुक्त नही होते। इन सामाजिक एवं मनोवै
परिस्थितियों को मिलाकर देखने से एक तथ्य स्वयं प्रकट हो जाता है कि यदि
व्यक्ति अपने योग्य उद्योग-धन्धो, व्यापार अथवा व्यवसाय मे लग सके, तो व्यक्ति
समाज—दोनो की न केवल आवश्यकताए पूरी होती रहे अपितु वे निरन्तर प्रग
करते रहे। यह बिलकुल स्पष्ट है कि व्यक्ति अपनी योग्यता का विकास उसी
मे अच्छे प्रकार से कर सकता है, जिसकी स्वाभाविक प्रतिभा उसमे पहले से वि
है। शैक्षणिक पथ-प्रदर्शन की व्यवस्था करके विद्यालय छात्रों को उस दिशा का
कराते हैं, जिसमे चलकर वे अपने व्यक्तित्व का अधिकतम विकास करते हुए समा

होकर दुर्गति को प्राप्त होते रहें।

पथ-प्रदर्शन की आवश्यकताएँ—शैक्षणिक पथ-प्रदर्शक छात्रो को कल्पना अथ
अनुमान के सहारे मार्ग नहीं बता देता। वह प्रत्येक छात्र का व्यक्तिगत
अध्ययन करता है और उसके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं के विषय में जहाँ
से कुछ भी जानकारी मिल सकती है, प्राप्त करके अपनी सलाह देता है।
छात्र का जितना अधिक अच्छा अध्ययन करके अपना विचार बनाता है,
अधिक विश्वसनीय होता है। पथ-प्रदर्शक विश्वसनीय रूप में सलाह
लिए उसे निम्नलिखित वस्तुओं की आवश्यकता होती है:—

१. विद्यालय के परीक्षा-परिणाम

प्रचलित परीक्षा-पद्धति की कितनी भी आलोचना क्यों न
यदि किसी छात्र के अनेक वर्षों के परीक्षा-परिणाम प्राप्त होजाएँ, तो

इतनी बात अभिभावकों की इच्छा जानने से पहले अवश्य की जानी चाहिए कि उन्हें उनके बच्चों की शारीरिक, बौद्धिक तथा चारित्रिक विशेषताओं तथा उनकी सम्भावनाओं से पूरी तरह परिचित कर दिया जाए। उस सब को जानकर ही वे अपनी इच्छा व्यक्त करें। ऐसा न हो कि वे भविष्य में कभी यह कह सकें कि उन्हें अँधेरे में रखा गया, इसलिए उनका निर्णय गलत हो गया।

अभिभावकों की इच्छा के साथ पथ-प्रदर्शक को यह भी देख लेना चाहिए कि उनकी परिस्थितियाँ कैसी हैं। यदि परिवार की आर्थिक परिस्थितियाँ छात्र को दी हुई सलाह के प्रतिकूल बैठीं, तो सम्भव है कि वह उस दिशा में अध्ययन आरम्भ ही न कर सके अथवा आरम्भ करने पर भी अध्यापन का पूरा लाभ न उठा सके। यह भी हो सकता है कि उसे अपना अध्ययन समाप्त करके नई दिशा पकड़नी पड़ जाए।

७. साक्षात्कार

पथ प्रदर्शन के लिए साक्षात्कार भी किया जाना चाहिए। विभिन्न स्रोतों से जो जानकारी छात्र के विषय में मिली है, उसके समर्थन तथा उसमें जो कमी रह गई हो, उसकी पूर्ति करने के लिए साक्षात्कार किया जाता है। साक्षात्कार के समय बालक से बहुत-सी ऐसी बातों की जानकारी प्राप्त की जा सकती है, जो किसी अन्य स्रोत से नहीं मिल सकती। उसके मित्र किस प्रकार के लोग हैं, उसे किस विषय का साहित्य अधिक रुचता है, वह किस प्रकार का मनोरंजन पसन्द करता है, उसका खाली समय कैसे बीतता है, वह किस तरह के फिल्म देखना पसन्द करता है, उसके घर की वास्तविक परिस्थिति क्या है और वह अध्ययन के किसी विशेष क्षेत्र में ही क्यों जाना चाहता है ? आदि प्रश्नों का उत्तर छात्र स्वयं ही अच्छा दे सकता है। साक्षात्कार से वाक्चातुरी, प्रत्युत्पन्नमतित्व तथा सामान्य बुद्धि आदि गुण भी प्रकट हो जाते हैं। वे भी उसके भविष्य की ओर संकेत कर सकते हैं।

८. मित्र-मण्डली के विचार

एक प्राचीन कहावत है "समान-शील व्यसनेषु सख्यम्" अर्थात्—व्यक्ति की मित्रता समान शील और व्यसन वाले व्यक्तियों से होती है। प्रत्येक व्यक्ति जितना अपने मित्रों के सामने खुलता है, उतना माता-पिता आदि किसी के सामने नहीं खुलता। इस कारण छात्र को पथ प्रदर्शन देने के लिये उसके मित्रों और विशेषतया अभिन्न मित्रों से उनके विचार तथा आवश्यक जानकारियाँ प्राप्त कर ली जानी चाहिए। मित्र-मण्डली के विचार काफी दूर तक साक्षात्कार के पूरक हो सकते हैं।

पथ-प्रदर्शन की कुछ आवश्यकताओं का ऊपर की पंक्तियों में परिगणन किया गया है। उन्हें नमूनों के रूप में समझना चाहिए। पथ-प्रदर्शन के लिए छात्र के सर्वतो-मुखी व्यक्तित्व के विषय में अधिक से अधिक जानकारी आवश्यक होती है। उसके विषय में जितनी अधिक जानकारी मिल सकेगी, उसके आधार पर दिया हुआ पथ प्रदर्शन उतना ही अधिक विश्वसनीय होगा। इस बात को दृष्टि में रखते हुए मित्र मण्डली से

से इनकार नहीं किया जा सकता। [illegible] अध्यापकों का [illegible] हो सकता है। [illegible] छात्रों को [illegible] तथा [illegible] महत्त्व — दोनों [illegible] की क्रियाओं में काम करते हुए ध्यानपूर्वक देखा [illegible] तो ही कभी कभी और [illegible] देखने वालों का [illegible] विशेष महत्व नहीं होता। यदि अध्यापकों का [illegible] तथा विविध परीक्षाओं के परिणाम एक हों [illegible] तो छात्र के भविष्य के विषय में [illegible] निश्चय के साथ कुछ कहा जा सकता है। [illegible] अध्यापकों ने पृथक् पृथक् दिये हों [illegible] निर्णय का उपयोग में लाया जा सकता है। [illegible] की अपेक्षा यह अधिक विश्वसनीय भी होगा।

५. छात्र की अपनी इच्छा

इच्छा और अभिरुचि का गहरा सम्बन्ध होता है। वे एक-दूसरे को प्रभावित करती है। इस कारण छात्र की इच्छा जानने का प्रयत्न भी करना चाहिए। परन्तु उसे अपनी इच्छा व्यक्त करने का अवसर देने के पहले उसे उसकी वास्तविक शारीरिक तथा बौद्धिक स्थिति तथा विभिन्न ज्ञानों और क्रियाओं की सामाजिक उपयोगिता तथा महत्त्व—दोनों बता देने चाहिए। उसे यह भी स्पष्ट बता देना चाहिए कि किस क्षेत्र में जाने पर कितनी उन्नति संभव है और अपने वर्तमान गुणों के कारण वह किस क्षेत्र में अधिक सफल हो सकता है। सब ऊँच-नीच जानकर छात्र जो इच्छा व्यक्त करे, उसका आदर किया जाना चाहिए।

६. अभिभावकों की इच्छा तथा परिस्थितियाँ

छात्र के भविष्य के विषय में उसकी अपनी इच्छा के साथ साथ उसके अभिभावकों की इच्छा की जानकारी भी प्राप्त कर लेनी चाहिए। जिस प्रकार अध्यापक छात्रों को काफी निकट से देखते हैं, उसी प्रकार अभिभावक भी। यदि उन्होंने ममता-मुक्त बुद्धि से छात्र को समझ कर अपनी इच्छा बनाई है, तो उसका भी आदर करना चाहिए। साधारणतया[1] प्रत्येक अभिभावक की अपने बच्चों के विषय में सम्मति पर्याप्त ऊँची होती है। इसलिए उनकी सम्मति पर सहानुभूति के साथ साथ समझदारी से भी विचार करना चाहिए।

अभिभावकों की सम्मति एक और दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण होती है। अभिभावक जो कुछ बच्चे को बनाना चाहता है, उसके अनुकूल ही वह घर का वातावरण बनाता है। उसी से प्रेरित होकर वह अध्ययन की सुविधाएँ प्रस्तुत करता है। बहुत से अभिभावक अपना पेट काट करके भी अपने बच्चों को अपनी इच्छा के अनुसार बनाना चाहते हैं। ये सब बातें छात्र के निर्माण के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण होती हैं। इसलिए अभिभावकों की इच्छा का भी उचित आदर अवश्य किया जाना चाहिए।

1. Average.

सकता है परन्तु अभी उसकी व्यवस्था भी पर्याप्त मात्रा में नहीं हो पाती है। प्रसार-विभाग कतिपय फिल्मों की व्यवस्था रखते हैं और स्थान-स्थान पर उनका प्रदर्शन भी करते हैं परन्तु इस लम्बे-चौड़े देश के लिए इतनी सुविधा अत्यधिक अपर्याप्त है। इसी प्रकार अभिभावकों की सही इच्छाएँ भी प्राप्त नहीं हो पाती हैं। बहुत से तो अशिक्षा के कारण इच्छा प्रकट करने योग्य ही नहीं होते। जो शिक्षित होते हैं, उनमें से अधिकतर अपनी इच्छाएँ विभिन्न पेशों की सामाजिक स्थिति के आधार पर बनाते हैं, बच्चे की पात्रता के आधार पर नहीं। ऐसे अभिभावकों में अपनी जिद् को छोड़ने के लिए तैयार होने वाले अभिभावक विरले ही होते हैं। कभी-कभी विभिन्न विषयों के अध्यापक ही पथ-प्रदर्शन के विपरीत वातावरण बना डालते हैं। मन्द बुद्धि छात्रों को अपने विषय से हटाने तथा तीव्र-बुद्धि छात्रों को अपने विषय की ओर आकृष्ट करके परीक्षा-परिणाम अच्छा बनाने के लिए वे कभी-कभी छात्रों को गलत सलाह दे डालते हैं। छात्र ऐसी सलाह के कारण बहक जाते हैं। पथ-प्रदर्शकों की कमी भी एक कठिनाई है। योग्य व्यक्तियों की संख्या इतनी कम है कि छात्रों की भारी भीड़ को ठीक मार्ग दिखना असम्भव हो जाता है। इनके प्रशिक्षण आदि की व्यवस्था की जा रही है परन्तु उनकी सेवाएँ प्रत्येक छात्र तक पहुँच जाएँ, इसमें अभी काफी समय लगेगा।

विद्यालय क्या करें ?—प्रत्येक विद्यालय में पथ-प्रदर्शन-सेवा का आयोजन अवश्य होना चाहिए। इसमें वे समाज के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकेंगे। आदर्श स्थिति तो यह होगी कि प्रत्येक विद्यालय में एक-एक पथ-प्रदर्शक नियुक्त रहे परन्तु यदि यह सम्भव न हो, तो जहाँ सरकार की ओर से पथ-प्रदर्शनाधिकारी नियुक्त हैं, वहाँ उनकी सेवाओं का लाभ उठाया जाना चाहिए। विद्यालय में प्रसार-विभागों के सहयोग से ऐसी फिल्मों का प्रदर्शन चलता रहना चाहिए, जिनमें विभिन्न व्यवसायों तथा उद्योगों में चलने वाले जीवन का सही-सही चित्रण हो। फिल्म प्रदर्शनों में यदि अभिभावकों को भी आमन्त्रित कर लिया जाए तो अच्छा रहे। उन्हें देखकर वे अपनी इच्छाएँ भी समझदारी से व्यक्त कर सकेंगे। समय-समय पर वहाँ ऐसे सम्मेलन भी होते रहने चाहिए जिनमें सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में काम करने वाले अनुभवी व्यक्ति, अभिभावक, अध्यापक तथा छात्र भाग लें और सब मिलकर विभिन्न प्रकार के जीवनों की आवश्यकताओं तथा विशेषताओं पर प्रकाश डालें। जब कभी इस विषय के सेमिनार अथवा अल्पकालीन पाठ्यक्रम चलाए जाएँ, तब विद्यालय से कुछ अध्यापकों को प्रशिक्षण दिलाने में ढील नहीं होनी चाहिए। पथ-प्रदर्शन-विषयक कुछ साहित्य विद्यालय-पुस्तकालय में रखकर अधिक से अधिक अध्यापकों को उसे पढ़ने की प्रेरणा देनी चाहिए जिससे वे छात्रों की; जो कुछ बने वह, सहायता कर सकें। पथ-प्रदर्शन का कार्य एक व्यक्ति के वश की बात नहीं है अतः यदि विद्यालय में पृथक् पथ-प्रदर्शक हो, तो भी सभी अध्यापकों को आवश्यक सूचनाओं के सकलन आदि में उसके

साथ सहयोग के [illegible] चाहिए। पथ-प्रदर्शन का कार्यक्रम [illegible] उपलब्ध [illegible] प्राप्त हो जाएगा, छात्रों तथा विद्यालय के धन और समय की बरबादी [illegible] बच जाएगी।

पथ-प्रदर्शन के सामान्य सिद्धान्त

चिकित्सात्मक अध्यापन की भाँति शैक्षणिक पथ-प्रदर्शन के भी कतिपय सामान्य सिद्धान्त हैं। इस कार्य में भाग लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति को इनकी जानकारी अवश्य होनी चाहिए। संक्षेप में वे निम्नांकित हैं—

(१) पथ-प्रदर्शन को विभिन्न पेशों के लिए छात्रों को छाँटने की कार्यवाही न समझ कर अपने जीवन की योजना बनाने में उनकी सहायता की कार्यवाही समझा जाना चाहिए।

(२) पथ-प्रदर्शन में छात्रों के वैयक्तिक भेदों का सर्वदा विशेष ध्यान रखना चाहिए।

(३) छात्रों को विभिन्न व्यवसायों, धन्धों तथा सम्बद्ध संस्थाओं के विषय में बिल्कुल ठीक-ठीक जानकारी निरन्तर दी जाती रहनी चाहिए।

(४) छात्रों की रुचियों, क्षमताओं तथा इच्छाओं और विभिन्न व्यवसायों के स्वरूपों तथा उनकी सामाजिक स्थितियों में परिवर्तन हो जाने की सम्भावनाओं के विचार से छात्रों को पथ-प्रदर्शन विभिन्न स्तरों पर मिलता रहना चाहिए।

(५) उन्हें यह सुविधा भी मिलनी चाहिए कि वे अपनी जीवन योजना को नवीन अनुभवों के प्रकाश में बदल सकें।

(६) इस कार्य में जल्दबाजी बिलकुल नहीं की जानी चाहिए। छात्रों के विषय में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करके ही उन्हें सलाह दी जानी चाहिए।

उपसंहार

चिकित्सात्मक अध्यापन तथा पथ-प्रदर्शन—दो बहुत अधिक महत्वपूर्ण क्रियाएँ हैं। इनकी ओर वास्तविक ध्यान बहुत कम विद्यालयों का है। उनकी अपनी-अपनी विवशताएँ भी इसमें बाधक हैं। हमारा सुझाव है कि विद्यालय इनकी ओर अधिक से अधिक ध्यान दें और इनके लिए अतिरिक्त सुविधाओं तथा धन-राशि की माँग करें और जब तक उनकी माँग स्वीकार न हो, तब तक जो सुविधाएँ उपलब्ध हों, उनका पूरा-पूरा लाभ उठाएँ। इन दो दिशाओं में प्रगतिशील हो जाने पर विद्यालय, समाज और छात्र—दोनों के लिए बहुत उपयोगी बन जाएँगे और साथ ही उन्हें समाज की अधिक श्रद्धा भी मिलेगी।

१७

सिद्धि मिली या नहीं ?

अध्याय-संक्षेप .—

प्रस्तावना; सिद्धि का स्वरूप; मिली या नहीं, अध्यापक स्वयं निर्णय करे; निर्णय की विधि, उपसंहार।

प्रस्तावना

प्रत्येक साधक किसी साध्य को सिद्ध करने के लिये साधना का आरम्भ करता है। उसकी हार्दिक अभिलाषा होती है कि उसकी साधना के फलस्वरूप उसका साध्य सिद्ध बन जाए। हमने विद्यालय को साधना-स्थल मानकर इस ग्रन्थ में साधकों, साधनों तथा साधनाओं की चर्चा की है। अब ग्रन्थ को समाप्ति होने जारही है अतः उसमें हम सिद्धि की भी चर्चा करना चाहते हैं। हमारे विचार से प्रत्येक अध्यापक को यह भी सोचना चाहिए कि उसे सिद्धि मिली या नहीं।

सिद्धि का स्वरूप

पिछले अध्यायों में अनेक स्थलों पर कहा जा चुका है कि विद्यालय की स्थापना समाज के लिए योग्य नागरिकों के निर्माण के लिए की जाती है। विद्यालय के प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप छात्रों में कुशल नागरिकता के गुणों का जितनी ही अधिक मात्रा में आधान होता चले, समझना चाहिए कि अध्यापकों की साधना उसी मात्रा में सिद्धि की ओर अग्रसर हो रही है। समाज की भाँति विद्यालय भी एक

साथ सहयोग करना चाहिए। पथ-प्रदर्शन का कार्यक्रम जितना ... व्यापक हो जाएगा, छात्रों तथा विद्यालय के श्रम और समय ... बच जाएग

पथ-प्रदर्शन के सामान्य सिद्धान्त

चिकित्सात्मक अध्यापन की भाँति-शैक्षणिक पथ-प्रदर्शन के भी ... सिद्धान्त हैं। इस कार्य में रुचि रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को इनकी ... होनी चाहिए। संक्षेप में वे निम्नलिखित हैं—

(१) पथ-प्रदर्शन को विभिन्न क्षेत्रों के लिए छात्रों को छाँटने ... न समझ कर अपने जीवन की योजना बनाने में उनकी सहायता की जा... जाना चाहिए।

(२) पथ-प्रदर्शन में छात्रों के वैयक्तिक भेदों का सदैव विचार ... चाहिए।

(३) छात्रों को विभिन्न व्यवसायों, धन्धों तथा सम्बद्ध संस्थाओं ... बिलकुल ठीक-ठीक जानकारी निरन्तर दी जाती रहनी चाहिए।

(४) छात्रों की रुचियों, रुझानों तथा इच्छाओं और विभि... स्वरूपों तथा उनकी सामाजिक स्थितियों में परिवर्तन हो जाने के ... विचार से छात्रों को पथ-प्रदर्शन विभिन्न स्तरों पर मिलता रहना चा...

(५) उन्हें यह सुविधा भी मिलनी चाहिए कि वे अपनी ... नवीन अनुभवों के प्रकाश में बदल सकें।

(६) इस कार्य में जल्दबाजी बिलकुल नहीं की जानी ... विषय में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करके ही उन्हें सलाह...

उपसंहार

चिकित्सात्मक अध्यापन तथा पथ-प्रदर्शन—दो बहुत ... हैं। इनकी ओर वास्तविक ध्यान बहुत कम विद्यालयों ... विवशताएँ भी इसमें ...
अधिक ध्यान दें ...
और जब तक ...
पूरा-पूरा ...

में प्राप्त अङ्कों को सिद्धि का पर्यायवाची समझ रहे हैं। माना कि समाज भी ऐसा ही मानता है परन्तु उसकी धारणाओं को बदलने का प्रयत्न भी तो अध्यापकों की ओर से नहीं चल रहा है। अपने बन्धुओं का ध्यान इस कमी की ओर आकृष्ट करने तथा अपने आप अपनी साधना का मूल्यांकन करते हुए साक्षरता को शिक्षा में परिणत करने के लिए उनसे प्रार्थना करने के लिए ही हमने यह अध्याय लिखा है।

आशा है कि वे इस ओर ध्यान देंगे जिससे कि हमारा साध्य हमारे जीवन-काल में ही सिद्धि का रूप धारण करता चले।

"यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्य-संख्यामतिवर्तितुं वा ।
अनुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः (लक्ष्मी.) ॥"

—महाकवि भारवि

प्रवाहमयी सत्ता है अत उसके विषय मे सिद्धि के स्थिर स्वरूप की कल्पना नही की जा सकती ।

सिद्धि मिली या नहीं ?

विद्यालय के साधको को यह भ सोचना चाहिए कि उन्हे सिद्धि मिली या नहीं ? समाज विद्यालय-व्यवस्था के संचालन मे लाखों व्यक्तियों के श्रम का उपयोग करता है और उस पर उसे अरबों रुपये प्रतिवर्ष व्यय करने पड़ते हैं । इस मूल्यांकन के बिना उसका अधिकतर भाग-व्यर्थ सा जाता दिखाई पड रहा है ।

अध्यापक स्वयं निर्णय करे

सिद्धि की सत्ता अथवा असत्ता तथा मात्रा के निर्णय के लिए अध्यापक को किसी बाहरी व्यक्ति अथवा संगठन के पास प्रमाण-पत्र लेने जाने की आवश्यकता नही है । उसे इसका निर्णय स्वय करना चाहिए । किसी बाहरी व्यक्ति से प्रमाण-पत्र माँगते फिरना---साधक रूप मे उसके सम्मान के विरुद्ध होगा ।

निर्णय की विधि

इसके निर्णय की विधि भी बहुत कठिन नही है । सब अध्यापक मिलकर, छात्रों से वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन के विभिन्न अवसरों पर वे जिस प्रकार के व्यवहार की आशा करते हैं, उसके आधार पर एक वृहद् प्रश्नावली बनाएँ । इस प्रश्नावली मे प्रातःकाल सोकर उठने के समय से दूसरे दिन पुन सोकर उठने के समय तक के व्यवहारों की छोटी से छोटी बातों को चर्चा रहे । इस प्रश्नावली को छात्रों के व्यवहारों से परिचित अधिक से अधिक व्यक्तियों—सभी अध्यापकों, अभिभावकों तथा मित्रों आदि मे वितीर्ण करके उनसे उनके उत्तर देने की प्रार्थना की जाए । जब प्रश्नावलियाँ उत्तरों समेत लौटकर आ जाएँ, तब उनके आधार पर प्रत्येक छात्र के व्यवहारों का सामान्यीकृत रूप तैयार कर लिया जाए । इस अध्ययन से यदि यह विदित हो कि छात्रों के जीवन मे पवित्रता एव कर्त्तव्यनिष्ठा आदि सामाजिक गुणों का अधिकाधिक मात्रा मे आधान हो रहा है और उनके कारण समाज मे उच्छृङ्खला का स्थान अनुशासन लेता जारहा है, तो अध्यापकों को समझना चाहिए कि उनकी साधना सिद्धि मे परिणत होती जारही अन्यथा तो यही समझना उचित होगा कि साक्षरता बढ़ रही है और शिक्षा जारही है । वह शिक्षा व्यर्थ है, जो मनुष्य को पशुत्व से देवत्व की ओर बनाए ।

उपसंहार

अपने देश के अध्यापकों में आज अपने कार्य के मूल्यांकन का ... और जानकारी-संकलन को शिक्षा मान बैठे हैं । वे भी

और सम्पूर्ण शिक्षा-व्यवस्था वेतनभोगी अध्यापकों द्वारा सचालित होने लगी है। इस सारी व्यवस्था के लिये पर्याप्त धन आवश्यक हो गया है। विद्यालय अब इतने व्यय-साध्य हो गये हैं कि पहले की तरह दान के सहारे उनका सुचारु रूप से सचालन असम्भव हो गया है।

आज समस्त शैक्षिक कार्यक्रम की सफलता विद्यालय की सुगठित अर्थ-व्यवस्था पर ही निर्भर है। यदि विद्यालय के पास पर्याप्त धन न हो, तो उसके कर्मचारी सन्तुष्ट नहीं रह सकते, वे सदैव अच्छा अवसर देखने एव अवसर मागने की ताक में रहेंगे। जब तक कहीं स्थान नहीं मिलेगा, तब तक दिन काटते रहेंगे और अवसर मिलते ही छोड़कर चले जाएँगे। फलत सारी व्यवस्था नष्ट हो जायगी। धनाभाव के कारण न तो उपकरण जुटाये जा सकते हैं और न छात्रों के स्वास्थ्य तथा मनोरजन आदि की ही व्यवस्था की जा सकती है।

हमारे विद्यालयों की अर्थ-व्यवस्था प्रायः गडबड ही रहती है। देश मे अधिकतर गैर-सरकारी विद्यालयों की आर्थिक दशा इतनी दीन है कि उन पर तरस आता है। शिक्षा के सुधारने के लिये आयोग पर आयोग गठित होते रहे हैं। इनके द्वारा अनेक सुझाव भी दिये जाते रहे हैं किन्तु ठोस व्यवस्था के अभाव में वे चर्चा के विषय बनकर ही रह जाते हैं। इसका मूल कारण धन की समुचित व्यवस्था का न होना ही है।

यह बात निर्विवाद है कि धन की समुचित व्यवस्था के अभाव मे विद्यालयों का सुचारु रूप से सचालन असम्भव है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह धन आये कहाँ से। भारत की विषम आर्थिक विवशताओं को देखकर गांधी जी ने स्वावलम्बी विद्यालयों का विचार दिया था। उनका विचार था कि छात्र विद्यालयों में स्थानीय आवश्यकता की वस्तुओं को तैयार करें और उनके विक्रय से विद्यालयों का स्वावलम्बी ढङ्ग से सचालन हो। उनके विचार थे तो बड़े महत्त्व-पूर्ण एव उपयोगी किन्तु अनेक कठिनाइयों के कारण क्रियान्वित न हो सके।

फलतः अपने देश में भी राष्ट्र अथवा समाज ही विद्यालयों के आर्थिक भार को वहन कर रहा है और स्वावलम्बी विद्यालयों का विचार छोड़ दिया गया है।

वर्त्तमान व्यवस्था मे विद्यालयों के लिये आय के निम्नलिखित चार साधन हैं:-

(१) सरकार से प्राप्त अनुदान।

(२) छात्रों से प्राप्त होने वाला शुल्क।

(३) जनता से प्राप्त उदार दान।

(४) अन्य साधनों द्वारा प्राप्त धन।

१. सरकार से प्राप्त अनुदान—सरकार से प्राप्त अनुदान विद्यालयों की आय का प्रमुख साधन है। हमारे देश म सरकार तीन स्तरों पर अनुदान देती है—

(क) केन्द्रीय सरकार द्वारा—चूँकि शिक्षा का विषय राज्य सूची में है, अतः साधारणतया केन्द्रीय सरकार शिक्षा के लिये राज्यों को ही धन देती है।

१८

विद्यालयों की धन-व्यवस्था

प्राचीन काल मे, जब कि आज की भाँति विद्यालयों का स्वरूप नियमित नहीं था, बालको की शिक्षा, माता-पिता आदि बड़े बूढ़ो के द्वारा घर के कार्यों में सहयोग लेकर दी जाती थी। इस प्रकार की शिक्षा मे धन की व्यवस्था का कोई प्रश्न ही नहीं था। धीरे-धीरे सामाजिक जीवन जटिल होता गया। फलत. अच्छे ढङ्ग से जीवन-निर्वाह के लिये सामाजिक जीवन के आदर्शों की रक्षा एव विकास की समुचित व्यवस्था करना आवश्यक हो गया। इस कार्य के लिये समाज के द्वारा विशेष प्रकार के विद्यालयो की स्थापना की गई। गुरुकुलो एव आश्रमो के रूप मे ये शिक्षालय स्थापित हुए। इनके लिये धन की व्यवस्था समाज के दान द्वारा होती थी। दान उस समय एक पुनीत कर्त्तव्य माना जाता था और प्रत्येक व्यक्ति दान करना अपना कर्त्तव्य समझता था। उस समय विद्यादान को परोपकार माना जाता था। विद्वान् लोग विद्या-दान देते थे, उनके निर्वाह की व्यवस्था समाज करता था। समाज की उस सुन्दर व्यवस्था मे गुरुओ एव शिष्यो को विद्याध्ययन-काल मे जीवन-निर्वाह के लिए धन की चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी।

विज्ञान ने जीवन के अन्य क्षेत्रो भी भाँति शिक्षा-व्यवस्था को भी प्रभावित किया है। शिक्षा के क्षेत्र मे नये नये प्रयोगो के द्वारा नवीन पद्धतियो का आविष्कार हुआ है। विद्यालयो को नाना प्रकार के आधुनिकतम शैक्षिक उपकरणो से सुसज्जित करना आवश्यक हो गया है। अध्यापन-कार्य का स्वरूप भी व्यावसायिक हो गया है

प्राप्त होता है, उतना ही प्रबन्धकारिणी समिति को भी अपने पास से व्यय करना पड़ता है।

(ग) स्थानीय निकायों द्वारा—स्थानीय निकाय का अर्थ जिला परिषद, नगर पालिकायें तथा टाउन एरियाएँ है। ये अपने विद्यालयों को प्रायः स्वयं अपने व्यय से चलाते हैं परन्तु अन्य विद्यालयों को, स्वास्थ्य-निरीक्षण, बीमारियों के उपचार, टीके लगाने, उद्यान तथा पार्क बनाने और खेल के उपकरण जुटाने आदि देने में सहायता करते हैं।

सरकार परोक्ष रूप में भी विद्यालयों की आर्थिक सहायता करती है। सस्ती भूमि की व्यवस्था, भवन-कर से मुक्ति, विदेशों से विद्यालय के लिये आने वाले सामान पर कर न लेना आदि ढङ्गों से परोक्ष सहायता भी सरकार से प्राप्त होती है।

२. छात्रों के शुल्क से होने वाली आय—विद्यालय की आय का दूसरा प्रमुख साधन छात्रों से प्राप्त विभिन्न प्रकारों के शुल्क होते हैं। छात्रों से मनमाना शुल्क न लिया जा सके, इसके लिये शिक्षा-संहिता में प्रत्येक कक्षा के लिये हर प्रकार के शुल्क की दर निर्धारित कर दी गई है।[1] विद्यालयों में छात्रों से निम्नलिखित के लिए शुल्क लिये जाते हैं—शिक्षा, परीक्षा, महगाई, स्याही, पखा, श्रोत्र-नेत्रोपकरण, जलपान, पत्रिका, विज्ञान तथा पुस्तकालय, आदि।

छात्रों से प्राप्त होने वाले शुल्क में से१५% आधी और १०% पूरी नि शुल्कता निर्धन छात्रों को देनी होती हैं। हरिजन छात्रों, सुनारों के लड़कों तथा राजनैतिक पीड़ितों के लड़कों से शुल्क नहीं लिया जाता। इसकी क्षतिपूर्ति सरकार करती है। कक्षा ६ तक लड़कों को तथा कक्षा ८ तक लड़कियों को नि.शुल्क शिक्षा दी जाती है। इस क्षति की पूर्ति भी सरकार द्वारा की जाती है।

३. जनता द्वारा प्राप्त धन—इस देश में तो विद्यालय की स्थापना कर उसे स्वयं के खर्चे से चलाने की बड़ी शानदार परम्परा है। सम्पन्न व्यक्ति इसमें गर्व का अनुभव करते थे तथा अपना पुनीत कर्त्तव्य मानते थे। यद्यपि अब अवस्था बहुत कुछ बदल गई है, फिर भी क्षेत्र की आवश्यकता के अनुसार विश्वसनीय लोगों को विद्यालय संचालन के लिये अब भी जनता सहर्ष धन देती है। किन्तु उसे विश्वास होना चाहिए कि उसका सदुपयोग हो रहा है।

४. आय के अन्य साधन—अन्य साधनों में—छात्रों द्वारा सहकारी भण्डार की व्यवस्था, विद्यालयों के कर्मचारियों द्वारा भट्ठा आदि चलाना तथा छात्रों द्वारा नाटक, खेल कूद का आयोजन आदि बातें आती है। यद्यपि इस कार्य में छात्रों एवं अध्यापकों को लगाने से अनेक समस्यायें पैदा होती हैं और मूल उद्देश्य लुप्त सा हो जाता है; तथापि आवश्यकतानुसार इसके द्वारा भी धन का उपार्जन किया जा सकता है।

वार्षिक आय-व्यय का विवरण—विद्यालय का उत्तम प्रबन्ध आर्थिक सुनियोजन पर ही निर्भर रहता है। यह आर्थिक नियोजन ही बजट कहलाता है। प्रत्ये

1. The Education Code of Uttar Pradesh, 1958, p. 56-59.

विविध प्रयोजनों से अब वह शिक्षा के क्षेत्र में प्रत्यक्ष रुचि भी लेने लगी है और निम्न प्रकार के अनुदान वहाँ से प्राप्त किये जा सकते हैं :—[1]

१. ग्रामीण क्षेत्रों में विविध पाठ्यक्रमीय विद्यालयों को खोलने के लिये।
२. अध्यापकों एवं छात्रों के लिये उत्तम पुस्तकें लिखने के निमित्त।
३. प्राविधिक विषयों में अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिये।
४. माध्यमिक शिक्षा की पाठ्यक्रम, सदर्शन, स्वास्थ्य-शिक्षा, शिक्षण-विधि और परीक्षा-प्रणाली में सुधार आदि समस्याओं पर शोध-कार्य करने के लिये।
५. अध्यापकों एवं प्रधानाचार्यों की गोष्ठियों तथा अध्ययन मंडलों का आयोजन करने के लिये।
६. शैक्षिक चल-चित्रों तथा श्रव्य-दृश्य-उपकरणों के निर्माण के लिये।
७. प्रायोगिक विद्यालयों के लिये।

(ख) राज्य सरकार द्वारा— वास्तविक सहायता अनुदान तो विद्यालयों को राज्य सरकारों से ही प्राप्त होते हैं। अनुदान प्राप्त करने के लिये राज्य सरकारों के अलग-अलग नियम हैं। ये नियम सभी राज्य के शिक्षा संहिताओं में वर्णित हैं। उत्तर-प्रदेश में अनुदान प्राप्त करने के लिये शिक्षा-संहिता में निम्नलिखित प्रतिबन्ध दिये हुए हैं :—

१. विद्यालय की प्रबन्धकारिणी समिति पंजीकृत होनी चाहिये।
२. विद्यालय सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त होना चाहिये।
३. समय से प्रार्थना-पत्र (मेंटनेंस रिटर्न) प्रस्तुत होना चाहिये।

सरकार से दो प्रकार के अनुदान प्राप्त होते हैं :—

(१) आवर्तक अनुदान— ये प्रतिवर्ष मिलते रहते हैं। इनके अन्तर्गत अध्यापकों तथा अन्य कर्मचारियों का वेतन, भत्ता, वार्षिक वृद्धि, निर्वाह निधि, कार्यालय के व्यय (O. C.) भवनों की मरम्मत का छोटा मोटा जोड़तोड़, विज्ञान विभाग में प्रतिवर्ष प्रयुक्त हो जाने वाले सामान, प्राथमिक चिकित्सा, अध्यापकों के लिये सहायक सामग्री तथा अध्यापकों के लिये पाठ्यपुस्तकें आदि के व्यय पूरे करने में आते हैं। सरकार इस व्यय का आधा अनुदान के रूप में देती है। यह धन प्रति वर्ष तीन-तीन महीने बाद मिलता रहता है।

(२) अनावर्तक अनुदान— ये हैं आवश्यकता विशेष के लिए प्रार्थना-पत्र प्राप्त होने पर सरकार कभी कभी देती है। इसके अन्तर्गत— भवन निर्माण, [illegible], भूमि, पुस्तकालय, फर्नीचर, खेल के सामान, खेल के मैदान, [illegible], [illegible], [illegible]-उपकरण, [illegible] [illegible] निर्माण आदि के [illegible] व्यय आते हैं। इस पर सरकार एक बार ही सहायता देती है। [illegible]

1. Report of the Secondary Education Commission, p. [illegible]

प्राप्त होता है, उतना ही प्रबन्धकारिणी समिति को भी अपने पास से व्यय करन पड़ता है।

(ग) स्थानीय निकायों द्वारा—स्थानीय निकाय का अर्थ जिला परिषद, नगर पालिकायें तथा टाउन एरियायें है। ये अपने विद्यालयो को प्राय स्वयं अपने व्यय से चलाते हैं परन्तु अन्य विद्यालयो को, स्वास्थ्य-निरीक्षण, बीमारियों के उपचार, टीके लगाने उद्यान तथा पार्क बनाने और खेल के उपकरण जुटाने आदि देने मे सहायता करते हैं

सरकार परोक्ष रूप मे भी विद्यालयो की आर्थिक सहायता करती है। सस्ती भूमि की व्यवस्था, भवन-कर से मुक्ति, विदेशो से विद्यालय के लिये आने वाले सामान पर कर न लेना आदि ढङ्गों से परोक्ष सहायता भी सरकार से प्राप्त होती है।

२. छात्रों के शुल्क से होने वाली आय—विद्यालय की आय का दूसरा प्रमुख साधन छात्रो से प्राप्त विभिन्न प्रकारों के शुल्क होते हैं। छात्रो से मनमाना शुल्क न लिया जा सके, इसके लिये शिक्षा-संहिता मे प्रत्येक कक्षा के लिये हर प्रकार के शुल्क की दर निर्धारित कर दी गई है"।[1] विद्यालयो में छात्रो से निम्नलिखित के लिए शुल्क लिये जाते हैं—शिक्षा, परीक्षा, महगाई, स्याही, पंखा, श्रोत्र-नेत्रोपकरण जलपान, पत्रिका, विज्ञान तथा पुस्तकालय, आदि।

छात्रो से प्राप्त होने वाले शुल्क में से १५% आधी और १०% पूरी नि शुल्कता निर्धन छात्रो को देनी होती हैं। हरिजन छात्रो, सुनारों के लड़को तथा राजनैतिक पीड़ितों के लड़को से शुल्क नही लिया जाता। इसकी क्षतिपूर्ति सरकार करती है कक्षा ६ तक लड़कों को तथा कक्षा ८ तक लड़कियो को नि शुल्क शिक्षा दी जाती है इस क्षति की पूर्ति भी सरकार द्वारा की जाती है।

३. जनता द्वारा प्राप्त धन—इस देश में तो विद्यालय की स्थापना करके उसे स्वय के खर्चे से चलाने की बड़ी शानदार परम्परा है। सम्पन्न व्यक्ति इसमे गर्व का अनुभव करते थे तथा अपना पुनीत कर्त्तव्य मानते थे। यद्यपि अब अवस्था बहुत कुछ बदल गई है, फिर भी क्षेत्र की आवश्यकता के अनुसार विश्वसनीय लोगों को विद्यालय संचालन के लिये अब भी जनता सहर्ष धन देती है। किन्तु उसे विश्वास होना चाहिये कि उसका सदुपयोग हो रहा है।

४. आय के अन्य साधन—अन्य साधनो मे—छात्रो द्वारा सहकारी भण्डार की व्यवस्था, विद्यालयों के कर्मचारियो द्वारा भट्टा आदि चलाना तथा छात्रो द्वारा नाटक, खेल-कूद का आयोजन आदि बातें आती हैं। यद्यपि इस कार्य में छात्रो एवं अध्यापकों को लगाने से अनेक समस्यायें पैदा होती हैं और मूल उद्देश्य लुप्त सा हो जाता है; तथापि आवश्यकतानुसार इसके द्वारा भी धन का उपार्जन किया जा सकता है।

वार्षिक आय-व्यय का विवरण—विद्यालय का उत्तम प्रबन्ध आर्थिक सुनियोजन पर ही निर्भर रहता है। यह आर्थिक नियोजन ही बजट कहलाता है। प्रत्येक

1. The Education Code of Uttar Pradesh, 1958, p 56-59.

(५) **आय-व्यय का सन्तुलन**—आय के स्रोतों एवं व्यय की मदों का निश्चय हो जाने के बाद आय-व्यय का स्पष्ट लेखा तैयार करके दोनों में सन्तुलन करना आवश्यक है। व्यय को आय से बहुत अधिक बढ़ा देने से सारी व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है।

(६) **बजट का अन्तिम रूप**—सारी समस्याओं पर विचार करके उपरोक्त आधार पर आय-व्यय का लेखा तैयार करके प्रधानाचार्य एवं प्रबन्धक को उसे कमेटी के समक्ष प्रस्तुत करके उसकी स्वीकृति ले लेनी चाहिये।

(७) **बजट की अन्तिम स्वीकृति**—अन्तिम स्वीकृति तो शिक्षा विभाग से ही मिलती है। विभागीय अधिकारियों के यहाँ उसे समय से भेज दिया जाता है। वे उस पर उपयुक्त-अनुपयुक्त का विचार करके धन दे देने के लिये संस्तुति कर देते हैं।

(८) **बजट का सदुपयोग**—सारा धन एक साथ उपलब्ध नहीं होता। अतः समय एवं आवश्यकता का ध्यान करके व्यवस्था कर लेनी चाहिए। कुछ धन ३१ मार्च तक ही खर्च हो जाने चाहिये। उनके लिये विशेष रूप से सतर्क रहना आवश्यक है।

(९) **बजट का मूल्यांकन**—यदि शैक्षिक कार्य-क्रम को सफल बनाने में बजट से सहायता मिले और सत्र के अन्दर आर्थिक संकट न उपस्थित हो, तो कहेंगे कि बजट, उद्देश्य-प्राप्ति में सफल रहा।

वस्तुतः बजट निर्माण में अधिक समय नहीं लगता है, किन्तु जिन आधारों पर बजट का निर्माण होता है, उनके संकलन, विश्लेषण तथा संगठन में पर्याप्त समय लग जाता है, अतः तथ्यों का संकलन, आवश्यक सूचनाओं का विवरण तथा नवीन आवश्यकताओं का परिज्ञान आदि पहले से ही कर लेना चाहिए।

साधारणतया शिक्षा संस्थाओं के बजट में तीन भाग होते हैं, (१) बजट विषयक प्रस्तावना (२) वित्तीय आय का विवरण, और (३) वित्तीय व्यय का विवरण।

१—प्रस्तावना भाग में संस्था की शिक्षा नीतियों, परिस्थितियों तथा उसकी शिक्षा योजना का संक्षिप्त विवरण रहता है। व्यय के विशिष्ट मुद्दों की सकारण व्याख्या भी इसके अन्तर्गत आती है। प्रस्तावित व्यय के समर्थन में जो सूचना देनी हो, उसका उल्लेख भी इसी में होना चाहिए।

२—वित्तीय आय का विवरण—विभिन्न स्रोतों से उपलब्ध आय की वास्तविक एवं अनुमानित संख्याओं का विवरण इसमें दिया जाता है। इसमें विभिन्न करों से होने वाली आय, अनुदान, दान, शुल्क, लाभ आदि का विवरण रहता है। आय के स्रोत कभी-कभी अनिश्चित रहते हैं। अतः इसमें अनुमान का अंश अधिक रहता है।

३—वित्तीय व्यय का विवरण—शिक्षा नीतियों एवं योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक धन की अनुमानित राशि का विवरण विभिन्न विभागों के अन्तर्गत इस भाग में रखा जाता है। इन विभागों की कोई निश्चित संख्या नहीं है। सामान्यतः इन विभागों का वर्गीकरण निम्न प्रकार का होता है—

वर्ष का बजट सत्र के अन्त में नया सत्र प्रारम्भ होने के पूर्व ही अवश्य बन जाना चाहिये। इसमें आय के साधनों, विभिन्न सूत्रों से सम्भावित आय एवं विभिन्न मदों में सम्भावित व्यय या नयी योजनाओं तथा तात्कालिक परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए स्पष्ट लेखा होना आवश्यक है। यदि बजट ठीक प्रकार तैयार किया जाता है और आवश्यकताओं के अनुसार खर्चे की मदें निश्चित की जाती हैं, तो विद्यालय में न तो खूब धन उड़ाया जाता है और न अकाल की स्थिति आती है। न ऐसा होता है कि किसी शैक्षिक क्रिया पर अनावश्यक धन खर्च होता रहे और न ऐसा होता है कि कोई शैक्षिक कार्य उपेक्षित रह जाए।[1] बजट बनाने के बाद उसे देखकर यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि विद्यालय समाज द्वारा दिये गये धन को उन मदों में खर्च करने के लिये प्रस्तुत है जिनके लिये वह (समाज) धन देने की इच्छा करता है।[2]

बजट के अंग—बजट बनाते समय निम्नलिखित मदों पर विशेष रूप से ध्यान रखना आवश्यक है—(१) प्रशासनिक व्यय, (२) शिक्षण-कार्य, (३) पाठ्य-सहगामी क्रियायें, (४) विद्यालय-भवन एवं सज्जा, (५) जीर्णोद्धार, (६) स्थायी खर्चे, (७) नवीन योजनायें, (८) आय-वृद्धि हेतु पूँजी लगाना, (९) ऋण का भुगतान, (१०) अन्य आकस्मिक व्यय।

आय-व्यय का लेखा (बजट) तैयार करने की प्रक्रिया

(१) विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की सूची तैयार करना—पूरी व्यवस्था से सम्बन्ध रखने वाली सभी आवश्यक वस्तुओं की सूची सभी सम्बन्धित कर्मचारियों के सहयोग से तैयार होनी चाहिये।

(२) सूची पर विचार-विमर्श—सूची तैयार हो जाने के बाद अनुभवी अध्यापकों की गोष्ठी में उस पर यह विचार होना चाहिये कि आवश्यकताएँ कहाँ तक आवश्यक हैं तथा इनका क्रम क्या होना चाहिये।

(३) अनुमानित व्यय का निश्चय—अब प्रत्येक आवश्यकता के लिये व्यय-हेतु धन-राशि निश्चित की जानी चाहिये। इसमें विगत अनुभव एवं बाजार की दशा का ध्यान रखना आवश्यक है। जिन आवश्यकताओं की पूर्ति एक वर्ष में न हो सके, उनकी पूर्ति के लिए क्रमिक पुरोगम बनाना चाहिए और उसकी पूर्ति की व्यवस्था अनेक वर्षों के बजटों में रखनी चाहिए।

(४) आकस्मिक व्यय हेतु धन की व्यवस्था—बजट में इस प्रकार की व्यवस्था रखनी आवश्यक है जिसमें छात्रों की संख्या अचानक बढ़ जाने या के आ जाने पर परेशानी न उठानी पड़े।

---

1. H. L. Hagman: *The Administration of A[illegible]* p. 260.
2. P. R. Mort and W. C. Reusser: *Public* [illegible]

नियमित रूप से कर दिया जाय। जिन फर्मों से चीजें उधार आती हैं, उनके हिसाब अलग-अलग पन्नों पर अंकित हों जिनमें कब, कौन, कितना सामान, कितने मूल्य का आया तथा कितना-कितना धन किन-किन तिथियों में दिया गया, स्पष्ट अंकित हो। किये गये व्यय की मूल रसीदें प्रमाणित कराके यथास्थान चिपका दी जायें। इस प्रकार की समुचित व्यवस्था से धन का दुरुपयोग न होगा एवं कार्य सुचारु रूप से चलता रहेगा।

नवीन उच्चतर माध्यमिक (कक्षा १० तक) विद्यालय प्रारम्भ करने में सम्भावित व्यय निम्नलिखित होता है :—

१.	अचल सम्पत्ति (एण्डाऊमेंट)	१५,००० रु०
२.	सुरक्षित कोष	३,००० रु०
३.	पुस्तकालय	१,००० रु०
४.	विज्ञान के उपकरण	५,००० रु०
५.	कृषि के उपकरण	३,५०० रु०
६.	सहायक शिक्षण सामग्री प्रति विषय	५० रु०
७.	पुस्तकें प्रत्येक विषय को	२०० रु०
८.	भवन तथा सज्जा	५०,००० रु०

आरम्भ से ही सरकारी सहायता नहीं मिल पाती है। जो लोग नई संस्था स्थापित करना चाहें, उन्हें यह समझ कर नई संस्था का बजट बनाना चाहिए।

(अ) नियन्त्रण अथवा प्रशासन सम्बन्धी व्यय।

(आ) शिक्षा-सम्बन्धी व्यय—अध्यापक वर्ग का वेतन, शिक्षण साम सम्बन्धित व्यय, पुस्तकालय से सम्बन्धित व्यय आदि।

(इ) सहायक सेवाओं से सम्बन्धित व्यय—भोजन, स्वास्थ्य, सहपाठ क्रियाएँ तथा आवागमन के साधन आदि विषयक।

(ई) विद्यालय भवन से सम्बन्धित व्यय—भवन कर, बिजली, पानी, चौ दारी तथा मरम्मत आदि से सम्बद्ध कर।

(उ) पेंशन, प्राविडेण्ट फण्ड, बीमा तथा किराया (यदि विद्यालय का अप भवन न हो तो)।

(ऊ) नवीन भवन के लिये स्थान और नवीन निर्माण एवं साज सज्जा आदि

(ए) विभिन्न व्यय।

अन्य विभाग आवश्यकतानुसार इसमें घटाये-बढ़ाये जा सकते हैं।

बजट बनाने वाले को चाहिये कि वह सर्वप्रथम बजट की एक सामान्य रूपरेख का निर्माण कर ले। इसमें बजट के प्रमुख भागों तथा उनके विभिन्न विभागों को सम्मिलित कर लेना चाहिए। इन विभागों से सम्बन्धित चार्ट, व्याख्या तथा टिप्पणी आदि को भी एकत्रित कर लेना चाहिये। तुलना के लिये वर्तमान वर्ष से दो वर्ष पूर्व के वास्तविक एवं प्रस्तावित आय-व्यय का भी विवरण दिया जाना चाहिये।

बजट के भीतर दी जाने वाली प्रत्येक धन-राशि तथा उनके जोड़ आदि के विषय में पूर्ण सावधानी बर्तना आवश्यक है। एक भी अशुद्धि सम्पूर्ण बजट को प्रभावित कर सकती है। बजट की रूपरेखा बन जाने पर सावधानी से प्रत्येक अंग को पूरा करना चाहिये। सम्पूर्ण बजट बन जाने पर उसकी परीक्षा कर लेनी चाहिये तब उसे अन्तिम रूप देना उचित है। बजट समिति के सदस्यों के पास बजट पर्याप्त समय पूर्व भेज देना चाहिए जिससे वे भली-भाँति उसका अध्ययन कर सकें और बैठक में अपनी सुविचारित सम्मति दे सकें।

अधिकारियों द्वारा स्वीकार कर लिये जाने पर बजट का अधिकृत स्वरूप निश्चित हो जाता है। प्रस्तावित मुद्दों को स्वीकृति प्राप्त हो जाने से स्थायित्व प्राप्त हो जाता है। फिर बजट कार्य रूप में परिणत होने लगता है। बजट के स्वीकृत हो जाने के पश्चात् यथासम्भव उसमें परिवर्तन नहीं करना चाहिये। आवश्यकता होने पर दूसरा पूरक बजट स्वीकार करा लेना चाहिये।

विद्यालय के धन का सदुपयोग एवं लेखा—बहुधा प्रबन्धकों की लापरवाही के कारण धन का दुरुपयोग होता है तथा अनेक परेशानियाँ पैदा हो जाती हैं, जिससे समस्त कार्य अव्यवस्थित होकर शिक्षा-कार्य में बाधा उत्पन्न होती है। इसके लिये यह आवश्यक है कि विद्यालय का कार्यालय इसके लिये बहुत सतर्क रहे। नित्य की आय उससे सम्बन्धित कोष में जमा कर दी जाय। पुनः उसे निकाल कर व्यय किया
...दैनिक रोकड़ अंकित होती रहे। जो व्यय होते हैं, उन्हें यदि

भारतीय संसद में शिक्षा के सम्बन्ध में पूछे गये प्रश्नों के उत्तर भी देने पड़ते हैं। भारत के विभिन्न राज्यों में शिक्षा-व्यवस्था को एकरूपता रखने का दायित्व केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्री का ही है। अपने उत्तरदायित्व के निर्वाह हेतु इसे आवश्यकतानुसार एक या दो उपमन्त्रियों की सहायता मिलती है। शिक्षा-मन्त्रालय का प्रशासनिक अध्यक्ष शिक्षा-परामर्शदाता (Educational Advisor) होता है। यह भारत सरकार का सचिव एवं शिक्षा-मन्त्री का परामर्शदाता भी होता है। केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय का मुख्य कार्य इस ढङ्ग से राष्ट्रीय शिक्षा-नीति का निर्धारण एवं संचालन करना होता है कि कुशल नागरिकों का निर्माण हो सके।

केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय अपने निम्नलिखित विभागों के द्वारा शिक्षा के स्तर को ऊँचा करने का प्रयत्न करता है :—

१ प्रशासकीय विभाग।
२ माध्यमिक शिक्षा-विभाग।
३. उच्च-शिक्षा और यूनेस्को विभाग।
४. प्रारम्भिक और बेसिक-शिक्षा विभाग।
५ शारीरिक शिक्षा और मनोविनोद विभाग।
६ हिन्दी विभाग।
७ सामाजिक शिक्षा और समाज-कल्याण विभाग।
८ छात्रवृत्तियों का विभाग।

प्रशासकीय विभाग को छोड़कर अन्य प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष एक सहायक शिक्षा-सलाहकार (Deputy Educational Advisor) होता है।

केन्द्र द्वारा शासित क्षेत्रों अर्थात् दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, त्रिपुरा, मणिपुर, अण्डमान-नीकोबार और लकादिव द्वीपों की शिक्षा की पूरी जिम्मेदारी केन्द्रीय सरकार की है। जिन योजनाओं के सम्बन्ध में केन्द्र और राज्यों का सम्मिलित उत्तरदायित्व है, उनका निरीक्षण केन्द्रीय सरकार के कर्मचारी करते हैं तथा राज्य सरकारें भी उन योजनाओं से प्रगति सम्बन्धी विवरण केन्द्र के पास भेजती रहती हैं।

केन्द्रीय सरकार की प्रमुख परामर्शदाता परिषदें

अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए शिक्षा-मन्त्रालय ने निम्नलिखित परामर्शदाता परिषदों की स्थापना की है —

१. शिक्षा का केन्द्रीय परामर्शदाता मंडल
२. अखिल भारतीय प्रारम्भिक शिक्षा परिषद्
३. अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा-परिषद्
४. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग
५. केन्द्रीय समाज कल्याण मंडल
६ अखिल भारतीय शारीरिक शिक्षा-परिषद्

परिशिष्ट ४

प्रबन्ध-समिति

प्रबन्ध-समिति का निर्माण साधारण सभा द्वारा चुने गये सदस्यों द्वारा किया जाता है। इनका चुनाव एक निश्चित समय के लिए होता है, जिसका स्पष्ट उल्लेख नियमावली में रहता है। इस समिति में प्रायः बारह व्यक्ति होते हैं। सन् १९५८-५९ में, शिक्षा-विभाग ने एक ऐक्ट पास करके प्रबन्ध-समिति के निर्माण के विषय में नियम निश्चित कर दिये हैं इनमे प्रधानाचार्य के अतिरिक्त उस विद्यालय के अध्यापक-वर्ग के भी दो सदस्य रहेंगे। दो-दो अध्यापक एक-एक वर्ष की बारी से समिति में रहेंगे। यह सदस्यता 'सीनियारिटी' के आधार पर क्रमानुसार प्राप्त होगी। इसकी सूची निर्धारित नियमानुसार बनेगी।

प्रबन्ध-समिति अपना एक प्रबन्धक, एक मंत्री तथा एक कोषाध्यक्ष चुनेगी। विद्यालय का सुचारु संचालन इस समिति का कार्य होगा। यह समिति विद्यालय की आर्थिक दशा के लिए पूर्ण रूप से उत्तरदायी होगी।

शिक्षा-संहिता में सरकारी विद्यालयों के लिए भी ऐसी ही समिति के निर्माण की व्यवस्था है। इसका निर्माण चुनाव द्वारा नहीं होता अपितु उसमें विभिन्न विभागों के अधिकारी होते हैं। जिला विद्यालय-निरीक्षक इसमें सभापति होते हैं। तथा सिविल सर्जन, मैडिकल आफीसर, विधान सभा के सदस्य, म्यूनिसिपल बोर्ड से दो निर्वाचित सदस्य, विद्यालय के प्रधानाचार्य तथा जिला हरिजन-कल्याण-समिति का एक सदस्य मिलकर इसका निर्माण करते हैं।

प्रबन्ध-समिति के कार्य—शिक्षा-संहिता के अनुसार सरकारी विद्यालयों की प्रबन्ध-समिति के निम्नलिखित कार्य निर्धारित है :—

(१) विद्यालय की देखभाल तथा छात्रावास का निरीक्षण।

(२) जिला विद्यालय-निरीक्षक को विद्यालय के अनुशासन तथा अध्यापकों के चरित्र एवं नैतिक प्रभाव के सम्बन्ध में परामर्श देना।

(३) प्रधानाचार्य को शारीरिक शिक्षा तथा सफाई के सम्बन्ध में परामर्श देना।

(४) प्रधानाचार्य अथवा जिला-विद्यालय निरीक्षक को अध्यापकों के ट्यूशन

नैतिक स्तर, मानवीय सम्बन्ध, शिक्षा और छात्रावास के प्रबन्ध विषय में सुझाव देना।

(५) निरीक्षणों के विवरण लिखित रूप में रखना।

शिक्षा-विभाग द्वारा बनाये गए नये एक्ट में निर्धारित प्रबन्ध-योजना के अनुसार निजी संस्थाओं की प्रबन्ध-समितियों के निम्नलिखित कार्य तथा अधिकार निश्चित हो गये हैं :—

(१) ऐक्ट की धाराओं के अनुसार प्रधानाचार्य, अध्यापक, पुस्तकालयाध्यक्ष तथा अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति, स्थायी करण, पदोन्नति तथा दण्ड देना आदि।

(२) प्रधानाचार्य या प्रबन्धक द्वारा किसी अध्यापक के विषय में दी गई प्रतिकूल सम्मति के विरुद्ध अपील सुनना।

(३) विद्यालय के कर्मचारियों को छुट्टी प्रदान करने के विषय में निश्चय करना।

(४) हर प्रकार की आय, सुरक्षित कोष और सम्पत्ति का प्रबन्ध, नियन्त्रण, कानूनी रक्षा तथा देख-भाल करना तथा मरम्मत कराना।

(५) सरकार से प्राप्त हर प्रकार की आर्थिक सहायता का समुचित उपयोग करना।

(६) विद्यालय में होने वाली शुल्क, चन्दा, दान, ब्याज तथा लाभ आदि हर प्रकार की आय को हस्तगत करना तथा उसकी सहायता से अपने कर्तव्य का निर्वाह करना।

मान्यता प्राप्त संस्थाओं को सहायक अनुदान

सामान्य रूप से लागू होने वाले मुख्य नियम

(क) इसका निरीक्षण सरकार द्वारा अधिकृत अधिकारियों द्वारा किया जा सकेगा।

(ख) संस्था के शासीनिकाय (Governing body) का निबन्धन सोसाइटीज रजिस्ट्रेशन ऐक्ट (१८६० ई० के ऐक्ट संख्या २१) के अन्तर्गत आवश्यक होगा।

(ग) वह विभाग द्वारा माँगी हुई सूचनाओं तथा विवरणों को उचित रूप में प्रस्तुत करेगी।

(घ) प्रदेश सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त परीक्षा के अतिरिक्त किसी अन्य हेतु परीक्षार्थी तैयार नहीं करेगी।

(ङ) वह छात्रों के लिए अच्छे अनुशासन, स्वास्थ्य एव आमोद-प्रमोद का प्रबन्ध करेगी।

(च) वह अपनी अक्षयनिधि (Endowment) को ट्रस्टी-स्टॉक, स्टेट बैंक आफ इंडिया या पोस्ट आफिस सेविंग बैंक में जमा करेगी।

(छ) वह संस्था, विभाग द्वारा निर्धारित प्रपत्र में आय-व्यय का लेखा रखेगी तथा वह सरकार द्वारा नियुक्त लेखा-परीक्षकों के लिए उपलब्ध होगा।

(ज) यदि प्रबन्ध-समिति का कोई सदस्य या अध्यापक स्वयं ऐसा कार्य करेगा अथवा छात्रों को ऐसा कार्य करने के लिए उत्तेजित करेगा जिससे शान्ति एवं व्यवस्था भंग होती होगी, तो शिक्षा-निदेशक द्वारा अनुदान का प्रत्याहरण (Withdraw) कर लिया जायगा।

(छ) वार्षिक अनुदान सामान्यतया संस्था के सम्पूर्ण शिक्षा-सम्बन्धी व्यय के आधे से अधिक न होगा। छोटी-मोटी मरम्मतों में हुए व्यय को छोड़कर प्रबन्ध, भवन और मरम्मतों पर किया हुआ व्यय शिक्षा-व्यय में नहीं जोड़ा जायगा।

(झ) जमीन की खरीद, निर्माण, क्रय, प्रसार, सुधार तथा महाविद्यालयों या उनसे संलग्न छात्रावासों की मरम्मत के लिए दिया जाने वाला अनुदान उस प्रयोजन के लिए अन्य स्रोतों से प्राप्त धन-राशि से अधिक न होगा। प्राइमरी कक्षाओं के सम्बन्ध में कोई अनुदान नहीं दिया जायगा।

(ञ) विभाग को यह अधिकार है कि वह लड़कियों की शिक्षा-संस्थाओं के लिए विशेष स्थिति में वित्त-विभाग की सम्मति से इस नियम को शिथिल करदे इस दशा में लड़कियों की शिक्षा संस्थाओं को अन्य स्रोतों से इस प्रयोजन के लिए प्राप्त कुल धन राशि की दुगुनी धन-राशि दी जा सकती है।

(क) कोई भी अनुदान अन्तिम रूप से तब तक स्वीकृत नहीं किया जायगा, जब तक कि प्रबन्धक यह प्रमाणित न कर देगा कि अन्य साधनों से प्राप्त व्यवस्थित निधियाँ अनुदान को सम्मिलित करके समस्त माँगों को पूरा करने तथा लेखा बन्द करने के लिए पर्याप्त हैं।

प्रारम्भिक अनुदान

(१) यदि किसी संस्था का नाम सहायता अनुदान सूची में न हो, तो वह संस्था निर्धारित प्रपत्र पर आवेदन पत्र दे सकती है। सरकार द्वारा व्यय की गई मदों में इनके विषय में विचार किया जायगा। आवेदनपत्र निर्धारित प्रपत्र पर ही स्वीकार हो सकेगा।

(२) वार्षिक अनुदान अनुरक्षण के स्वीकृत वार्षिक व्यय और शुल्कों एवं वैयक्तिक साधनों से प्राप्त संस्था की स्वीकृत आय के अन्तर तथा अनुरक्षण के वार्षिक व्यय के आधे में से जो भी कम हो, उससे अधिक न होगा।

टिप्पणी —अनुरक्षण व्यय के अन्तर्गत मे आ सकते हैं :—

(क) एक मिशनरी की, जिसका नाम वेतन भोगी अध्यापकों की सूची में नहीं दिखाया जाता है, पढ़ाई सम्बन्धी सेवाओं का मूल्यांकन। यह मूल्यांकन उस धन-र पर लगाया जाता है, जिसे एक वेतन भोगी अध्यापक उसी भाँति की पढ़ाई उतनी हा के लिए प्राप्त करता।

(ख) भविष्य निधि में अंशदान।

पाँच हजार, हाईस्कूल के लिये तीन हजार और जूनियर हाईस्कूल के लिए एक हजार से अधिक न हों।

(३) संस्था द्वारा प्राप्त अनुदान की धनराशि की वसूली—यदि किसी संस्था को उक्त नियम के अन्तर्गत देयधन-राशि से अधिक धनराशि सहायक अनुदान के रूप में दे दी गई है, तो वह वसूल की जा सकती है।

(४) निम्नलिखित प्रकारों की संस्थाओं को कोई अनुदान नहीं दिया जायगा :—

(क) उस संस्था को जो सरकार द्वारा मान्यता के लिए निर्धारित प्रतिबन्ध न माने।

(ख) जिस विद्यालय की आय उसकी कार्य-दक्षता को बनाये रखने हेतु पर्याप्त हो।

(ग) ऐसे विद्यालय को, जो कि वैयक्तिक लाभ के लिए संचालित हो या ठेके पर हो।

(५) यदि प्राधिकृत प्रतिशत से अधिक विद्यार्थियों की पूरी या आधी फीस माफ की जाती है, तो इस प्रकार की धनराशि को उस संस्था के सहायक अनुदान से काट लिया जायगा।

(६) यदि किसी संस्था में ३१ मार्च को समाप्त होने वाले बारह महीनों में ४०० से कम मीटिंगें हुई हों, तो नियमों के आधीन देय वार्षिक अनुदान में से आनुपातिक कटौती करदी जायगी।

(७) नियमों का पालन न होने पर अनुदान निलम्बित भी किया जा सकता है।

(८) अनुदान की यह धनराशि सामान्यतया प्रतिमाह अथवा प्रति तीसरे माह प्राप्त होगी।

भवन-निर्माण-अनुदान

अनुदान के लिए भवन-निर्माणार्थ निर्धारित प्रपत्र पर प्रार्थनापत्र के साथ भवन के नक्शे तखमीने और विशेष विवरण समुचित मार्ग से शिक्षा-निदेशक के पास भेजने चाहिए। उसे जिला-अधिकारी इसकी छानबीन करने के बाद अपनी संस्तुति के साथ अग्रसारित करेगा। यदि योजना शिक्षा-निदेशक द्वारा अनुमोदित हो गई, तो वह उसके नक्शे, तखमीने और विशिष्ट विवरण को सरकार के शिक्षा-विभाग के अनुदान देने के सम्बन्ध में सिफारिश के साथ भेजेगा।

शिक्षा-निदेशक द्वारा स्वीकृत अनुदान में से समय-समय राशियाँ दी जा सकती हैं, यदि वह इस बात से सन्तुष्ट हों प्रगति सन्तोषजनक है। अनुदान तब तक पूर्ण रूप से कि निर्माण-कार्य समाप्त न हो जायगा और अनुबन्धन का उचित रूप से निष्पादन और अभिरक्षा के लिये उसे प्रबन्धक दिया जायगा।

उपस्कर, फिटिंग्स, पुस्तकों और पत्रों के क्रय के लिये अनुदान—*यह साधारण*-इस प्रयोजन के लिए स्वतन्त्र रूप से अशदान मे दी गई कुल धन-राशि से अधिक गा।

, टिप्पणी—सहायता प्राप्त सस्थाओ को प्राधिकृत नमूने के नये टाइप राइटर; ग-निदेशक, उत्तर-प्रदेश, कानपुर द्वारा दिये जायेंगे। शिक्षा-निदेशक द्वारा नों का आधा मूल्य राजकीय अनुदान के रूप मे चुकाया जायगा।

इनके अलावा वैज्ञानिक उपकरण, कृषि-यन्त्र खेल के सामान, तथा खेल के न आदि के क्रय हेतु विशेष व्यवस्था की गई है। सस्था द्वारा निर्धारित प्रपत्र जिला विद्यालय-निरीक्षक की संस्तुति के साथ आवेदन-पत्र प्राप्त होने पर शिक्षा देशक इस प्रकार के अनावर्त्तक अनुदानो की व्यवस्था करते हैं। सामान्यतया इस कार के प्राप्त होने वाले सभी अनुदानो मे उतना ही धन प्रबन्धक को स्वयं अपने तो से लगाना पड़ता है।

थायी संभागीय मध्यस्थता-बोर्ड (Standing Regional Arbitration Board)

प्रत्येक सभाग (Region) मे तीन स्थायी संभागीय मध्यस्थता-बोर्ड होगे। पहला स्थाओ के प्रधानो के लिये, दूसरा अध्यापको के लिये और तीसरा लिपिक-कर्मचारी र्ग के लिये होगा। इन बोर्डो को अनुबन्ध-पत्र निष्पादित कर चुकने वाले प्रधानों, *अध्यापको अथवा लिपिको तथा प्रबन्ध समिति के बोच पदच्युति, सेवामुक्ति अथवा* वेतन में कमी, वेतन रोक रखने आदि के प्रश्न को लेकर उत्पन्न झगड़े भेजे जायेंगे। बोर्ड निम्नलिखित रूप से सघटित किये जायेंगे :—

(१) शिक्षा के संभागीय उप निदेशक।

(२) प्रधानों का एक प्रतिनिधि जो प्रान्तीय प्रबन्धक सघ द्वारा नामांकित होगा।

(३) प्रबन्धको, अध्यापको, लिपिको अथवा पुस्तकाध्यक्षो का एक प्रतिनिधि जो उत्तर प्रदेश माध्यमिक शिक्षा-सघ अथवा उत्तर-प्रदेश विद्यालय लिपिक कर्मचारी संघ द्वारा नामांकित किया जायगा।

सभागीय उपनिदेशक प्रत्येक पाँच वर्षों के लिये सम्बन्धित सघो से अपने प्रतिनिधि नामांकित करने को कहेगा, जो उसी सभाग के होगे। बोर्ड की बैठक प्रति चौथे महीने होगी और यदि आवश्यक होगा तो विचाराधीन मामलो को शीघ्राति-शीघ्र निबटाने के लिये उसकी बैठकें बहुधा हुआ करेंगी। संभाग की निरीक्षिकायें केवल अध्यापिकाओ के मामले मे बोर्डो को सलाह देने के लिये बैठक मे उपस्थित रह सकती हैं। बोर्डो का निर्णय अन्तिम होगा और उनके विरुद्ध किसी विधि-न्यायालय मे चुनौती नहीं दी जा सकेगी।

टिप्पणी—किसी मामले मे, दोनो पक्षो मे से किसी भी पक्ष के आवेदन करने पर यदि निदेशक सन्तुष्ट हो कि मध्यस्थ कार्यवाही से सम्बद्ध कोई विशेष *मामला* . मध्यस्थ बोर्ड के क्षेत्राधिकार से स्थानान्तरित कर दिया जाय, जो ऐसा न होने

अधिक न हो।

(३) संस्था द्वारा प्राप्त अनुदान की धनराशि की वसूली—यदि किसी संस्था उक्त नियम के अन्तर्गत देयधन-राशि से अधिक धनराशि सहायक अनुदान के रूप दे दी गई है, तो वह वसूल की जा सकती है।

(४) निम्नलिखित प्रकारों की संस्थाओं को कोई अनुदान नहीं दिया जायगा:—

(क) उस संस्था को जो सरकार द्वारा मान्यता के लिए निर्धारित प्रतिबन्ध माने।

(ख) जिस विद्यालय की आय उसकी कार्य-दक्षता को बनाये रखने हेतु र्याप्त हो।

(ग) ऐसे विद्यालय को, जो कि वैयक्तिक लाभों के लिए संचालित हो या ठेके ट हो।

(५) यदि प्राधिकृत प्रतिशत से अधिक विद्यार्थियों की पूरी या आधी फीस फ की जाती है, तो इस प्रकार की धनराशि को उस संस्था के सहायक अनुदान से ट लिया जायगा।

(६) यदि किसी संस्था में ३१ मार्च को समाप्त होने वाले बारह महीनों में ०० से कम मीटिंगें हुई हो, तो नियमों के आधीन देय वार्षिक अनुदान में से आनु-तिक कटौती करदी जायगा।

(७) नियमों का पालन न होने पर अनुदान निलम्बित भी किया जा सकता है।

(८) अनुदान की यह धनराशि सामान्यतया प्रतिमाह अथवा प्रति तीसरे ह प्राप्त होगी।

वन-निर्माण-अनुदान

अनुदान के लिए भवन-निर्माणार्थ निर्धारित प्रपत्र पर प्रार्थनापत्र के साथ न के नक्शे तखमीने और विशेष विवरण समुचित मार्ग से शिक्षा-निदेशक के पास ने चाहिए। उसे जिला-अधिकारी इसकी छानबीन करने के बाद अपनी संस्तुति साथ अग्रसारित करेगा। यदि योजना शिक्षा-निदेशक द्वारा अनुमोदित हो गई, तो उसके नक्शे, तखमीने और विशिष्ट विवरण को सरकार के शिक्षा-विभाग के नुदान देने के सम्बन्ध में सिफारिश के साथ भेजेगा।

शिक्षा-निदेशक द्वारा स्वीकृत अनुदान में से समय समय पर अग्रिम धन-शियाँ दी जा सकती हैं, यदि वह इस बात [illegible] निर्माण-कार्य की गति सन्तोषजनक है। अनुदान तब तक पूर्ण [illegible] जायगा, जब तक निर्माण-कार्य समाप्त न हो [illegible] नुबन्धपत्र का उचित रूप से निष्प [illegible] कर भिरक्षा के लिये उसे प्रबन्ध [illegible] दिया जायगा।

(द) अध्यापक-मण्डल की योग्यता तथा वेतन क्रम क्या-क्या है ?
(प) किन परीक्षाओं के लिए मान्यता प्रार्थित है ?
(फ) किन-किन विषयों के अध्यापन की क्या-क्या व्यवस्था है ?
(ज) विद्यालय तथा छात्रावास में स्थान पर्याप्त है अथवा नहीं ?
(ड) विद्यालय में स्वास्थ्य, मनोरंजन एवं खेल की क्या व्यवस्था है ?
(ह) विद्यालय की आर्थिक स्थिति कैसी तथा आय के साधन क्या हैं ?
(ई) कितना शुल्क लिया जाता है तथा निर्धन छात्रों के लिए क्या व्यवस्था है ?
(क) प्रत्येक कक्षा तथा वर्ग में छात्रों की संख्या कितनी-कितनी है ?
(ख) साज-सज्जा का विस्तृत विवरण।
(ग) पुस्तकालय की पर्याप्तता।

(५) निरीक्षण अधिकारी अपनी संस्तुति में स्पष्ट रूप से लिखेंगे कि किन विषयों में किन शर्तों के अनुसार मान्यता देना उचित होगा।

(६) यदि संस्था की स्थिति मान्यता के लिये सन्तोष प्रद पायी गई, तो बोर्ड सचिव को उस संस्था का नाम मान्यता-प्राप्त-विद्यालयों की सूची में अंकित कर लेने को कहेगा और सचिव इसकी सूचना जिला विद्यालय-निरीक्षक तथा सम्बन्धित संस्था को देदेंगे और जिला अधिकारी पूर्णतः आश्वस्त होकर कक्षा प्रारम्भ करने की आज्ञा प्रदान करदेंगे।

मान्यता प्राप्त करने के लिये बोर्ड द्वारा लगाये हुए प्रतिबन्ध

(१) (अ) जब तक कोई जूनियर हाई-स्कूल स्थायी मान्यता-प्राप्त नहीं होगा तब तक उसके हाई स्कूल के प्रार्थना-पत्र पर विचार नहीं होगा।
(ब) पहले हाई स्कूल को मान्यता मिलेगी इसके बाद इण्टर को। सामान्यतया एक साथ दो वर्गों में मान्यता नहीं दी जायगी।
(स) कक्षा ६ खोलने के एक वर्ष बाद ही इण्टर के लिये प्रार्थना-पत्र दिया जा सकता है।

(२) आवास की पर्याप्तता—(i) विद्यालय भवन में प्रत्येक प्रकार का होना चाहिए, जिसमें प्रत्येक छात्र को २० कक्षा तक ३५, दसवीं कक्षा तक ४५ और बारहवीं वर्ग में रह सकते हैं। कक्षाओं के अलावा प्रधानाचार्य कक्ष-कक्ष, पुस्तकालय एवं वाचनालय, कला-कक्ष, को लेकर प्रत्येक ऐच्छिक विषय के लिए अलग-अ ., इण्टर खोलना चाहते हैं वे पाँच कमरों की अलग माप सामान्यतः हाई स्कूल के लिये २५′ × २०′ तथा

पर उस माध्यम पर विचार करता, तो निदेशक सरकार की पूर्व स्वी
पाने के लिये इसे किसी अन्य समकक्ष मान्यता-बोर्ड को हस्तान्तरि
है या किसी अन्य समकक्ष बोर्ड के क्षेत्राधिकार को बढ़ा सकता है जिससे
प्रदेश या दूसरे मान्यता-बोर्ड के क्षेत्राधिकार के भीतर आ जाये और ऐसा कि
होने पर दूसरे मान्यता-बोर्ड के सम्बन्ध में यह समझा जायगा कि उस मान
पूर्ण क्षेत्राधिकार प्राप्त है।

अध्यापकों द्वारा निजी ट्यूशन का कार्य—मान्यता-प्राप्त संस्थाओं के
पकों को निजी ट्यूशन करने के पहले संस्था के प्रधान से अनुमति लेना आ
होगा। सरकारी संस्थाओं के अध्यापकों के सामने फण्डामेंटल रूल्स ४७ के अ
आते हैं। जिलापरिषद् अथवा नगरपालिका के अध्यापकों को बोर्ड की पूर्व स्वी
और निरीक्षक का अनुमोदन लेना होगा। कोई भी शिक्षक प्रायः ऐसे विद्यार्थी को
न पढ़ा सकेगा जिसे वह कक्षा में पढ़ाता हो। इस प्रकार की निजी ट्यूशन
स्वीकृति विशेष दशा में ही दी जा सकेगी।

अध्यापक को प्राइवेट ट्यूशन के लिये प्रति दिन २ घंटे से अधिक और सप्ता
१२ घण्टे से अधिक समय न देना चाहिए।

यदि किसी शिक्षक के विरुद्ध निजी ट्यूशन-सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन सिद्ध
जाता है तो उसका यह आचरण अनुबन्ध के खण्ड ७ के अधीन आज्ञोल्लंघन
माना जायगा।

टिप्पणी—संस्थाओं के प्रधानों को ट्यूशन करने की अनुमति नहीं होगी।

विद्यालयों के लिये मान्यता प्राप्त करने के नियम

(१) इण्टरमिडियट संशोधित एक्ट भाग २ (ब) के अध्याय ७ के अनुसार मान्यता-समिति में सात सदस्य होंगे। इनमें से कम से कम पाँच बोर्ड द्वारा निर्वाचित होंगे। इसका कार्य मान्यता-सम्बन्धी प्रार्थना पत्रों पर विचार करना होगा।

(२) मान्यता हेतु प्रार्थना-पत्र की एक प्रति सचिव माध्यमिक-शिक्षा-परिषद् के तथा दो प्रतियाँ जिला विद्यालय-निरीक्षक अथवा मण्डलीय बालिका-विद्यालय-निरीक्षिका के पास ३१ जुलाई तक अवश्य पहुँच जाना चाहिए जिससे कि अगले वर्ष कक्षा खोलने की अनुमति प्राप्त हो सके।

(३) प्रार्थना-पत्र प्राप्त होने के बाद सचिव महोदय उसे सम्बन्धित जिला विद्यालय-निरीक्षक के पास जाँच तथा संस्तुति हेतु भेज देंगे।

(४) प्रार्थना पत्र में लिखित निम्नलिखित बातों के सम्बन्ध में निरीक्षण-अधिकारी अपना स्पष्ट मत व्यक्त करेंगे—

(अ) क्या उस क्षेत्र में वस्तुतः संस्था की आवश्यकता है ?

(ब) क्या संचालन-समिति का संविधान उपयुक्त है ?

(स) [illegible] के प्रबन्धक और सचिव कौन-कौन हैं ?

(द) अध्यापक-मंडल की योग्यता तथा वेतन क्रम क्या-क्या है ?
(ध) किन परीक्षाओं के लिए मान्यता प्रार्थित है ?
(फ) किन किन विषयों के अध्यापन की क्या-क्या व्यवस्था है ?
(ञ) विद्यालय तथा छात्रावास में स्थान पर्याप्त है अथवा नहीं ?
(ह) विद्यालय में स्वास्थ्य, मनोरंजन एवं खेल की क्या व्यवस्था है ?
(इ) विद्यालय की आर्थिक स्थिति कैसी तथा आय के साधन क्या है ?
(ई) कितना शुल्क लिया जाता है तथा निर्धन छात्रों के लिए क्या व्यवस्था है ?
(क) प्रत्येक कक्षा तथा वर्ग में छात्रों की संख्या कितनी-कितनी है ?
(ख) साज-सज्जा का विस्तृत विवरण।
(ग) पुस्तकालय की पर्याप्तता।

(५) निरीक्षण अधिकारी अपनी संस्तुति में स्पष्ट रूप से लिखेंगे कि किन विषयों में किन शर्तों के अनुसार मान्यता देना उचित होगा।

(६) यदि संस्था की स्थिति मान्यता के लिये सन्तोष प्रद पायी गई, तो बोर्ड सचिव को उस संस्था का नाम मान्यता-प्राप्त-विद्यालयों की सूची में अंकित कर लेने को कहेगा और सचिव इसकी सूचना जिला विद्यालय-निरीक्षक तथा सम्बन्धित संस्था को देदेंगे और जिला अधिकारी पूर्णतः आश्वस्त होकर कक्षा प्रारम्भ करने की आज्ञा प्रदान करदेंगे।

मान्यता प्राप्त करने के लिये बोर्ड द्वारा लगाये हुए प्रतिबन्ध

(१) (अ) जब तक कोई जूनियर हाई-स्कूल स्थायी मान्यता-प्राप्त नहीं होगा तब तक उसके हाई स्कूल के प्रार्थना-पत्र पर विचार नहीं होगा।
(ब) पहले हाई स्कूल को मान्यता मिलेगी उसके बाद इण्टर को। सामान्यतया एक साथ दो वर्गों में मान्यता नहीं दी जायगी।
(स) कक्षा ६ खोलने के एक वर्ष बाद ही इण्टर के लिये प्रार्थना-पत्र दिया जा सकता है।

(२) आवास की पर्याप्तता—(i) विद्यालय भवन में प्रत्येक वर्ग के लिये एक-एक कमरा इस प्रकार का होना चाहिए, जिसमें प्रत्येक छात्र को २० वर्ग [illegible] सके। आठवीं कक्षा तक ३५, दसवीं कक्षा तक ४५ और बारहवीं [illegible] छात्र प्रत्येक वर्ग में रह सकते हैं। कक्षाओं के अलावा प्रधानाचार्य कार्यालय, अध्यापक कक्ष, पुस्तकालय एवं वाचनालय, कला-कक्ष, [illegible] इत्यादि को सदर प्रत्येक [illegible] विषय के लिए कमरा चाहिए। जो हाई-स्कूल, इण्टर खोलना चाहते हैं वे पाँच कमरों की व्यवस्था करें। कमरों की माप साधारणतः हाई स्कूल के लिये २२'×२०' [illegible] लिये १०'×२०' मानी जाती है।

(४) प्रत्येक विद्यालय के साथ एक पूरे [illegible] का पुस्तकालय

छोटे बच्चों के खेलने की अलग व्यवस्था होनी चाहिए। मैदान थोड़ा सकता है।

(iii) शिक्षकों एवं छात्रों के लिये अलग-अलग शौचालय, आदि भी रहनी चाहिए।

(३) धन-व्यवस्था—(अ) प्रबन्ध कारिणी समिति को कक्षा ९ पूर्व पन्द्रह हजार और कक्षा ११ खोलने के पूर्व बीस हजार की अक्षय राशि (की व्यवस्था करनी होगी।

(ब) स्थायी कोष के रूप में हाई स्कूल के लिए ३००० रु० अ लिये ५००० रु० नेशनल सेविंग सार्टीफिकेट के रूप में जमा करने होंगे। के नाम होने चाहिए।

(स) हाई स्कूल के पुस्तकालय के लिये एक हजार रुपयों तथा प्रत्ये विषय के लिये दो सौ रुपयों की अतिरिक्त व्यवस्था होनी चाहिए। इ इसके अलावा दो हजार रुपयों की पुस्तकालय हेतु तथा प्रति अतिरि विषय के लिए पाँच सौ रुपयों की व्यवस्था होनी चाहिए। इसमें पा जोड़ी जाएगी।

(४) कर्मचारी—(अ) विद्यालय में एक सुयोग्य प्रधानाचार्य होना

(ब) यदि स्कूल की छात्र संख्या पाँच सौ से अधिक हो, तो जूनिय के लिये एक सुयोग्य प्रधानाध्यापक होना चाहिए।

(स) जिन विषयों में मान्यता प्राप्त है, उनमें प्रत्येक के लिए यो तथा एक व्यायाम शिक्षक होना चाहिए।

(द) अध्यापक-संख्या इतनी हो कि प्रत्येक को तीस घण्टा प्रति अधिक न पढ़ाना पड़े।

(य) यदि छात्र-संख्या पाँच सौ हो, तो दो लिपिक और यदि अ तीन लिपिक होने चाहिए।

(फ) एक पुस्तकालयाध्यक्ष होना चाहिए।

(च) एक स्टोरकीपर भी होना चाहिए।

प्रधानाचार्य एवं अध्यापकों

इण्टरमिडियट संशोधित एक्ट के सेक्शन प्रधानाचार्य वही व्यक्ति हो सकते हैं, जो काम० या एम० एस-सी० (एजी) हो अथवा बी० एस-सी० (एजी) तथा एम० एड० एस-सी० हो। प्रधानाचार्य को कम से तथा आयु कम से कम ३० वर्ष की

चुनाव-समिति— इसमें तीन

(ट) यदि रेगुलेशन 4 अध्याय III के अनुसार किसी सदस्य का कोई सम्ब
अभ्यर्थी है तो वह सदस्य चुनाव समिति में नहीं जायगा।

नौकरी की शर्तें (Conditions of Service) नियुक्ति, परिवीक्षण, पुष्टीक
तथा तरक्की—

(१) प्रबन्ध कारिणी रिक्त स्थानों की पूर्ति ३१ जुलाई के पूर्व अवश्य कर ले

(२) कोई भी ऐसा व्यक्ति किसी पद पर नियुक्त नहीं किया जायगा, जिस
योग्यता धारा १६ ई के अनुसार न हो।

(३) किसी राजकीय अथवा मान्यता-प्राप्त संस्था से पदच्युत व्यक्ति को बि
शिक्षा-सचालक की पूर्व स्वीकृति के नियुक्त नहीं किया जायगा।

(४) प्रबन्ध-कारिणी समिति के सदस्य से सम्बन्धित कोई व्यक्ति संस्था
किसी भी पद पर नियुक्त नहीं किया जायगा।

(५) सभी नियुक्तियां, नियुक्त करने वाले अधिकारी के द्वारा औपचारि
ढंग से नियुक्ति-पत्र द्वारा की जायगी।

(६) नियुक्त व्यक्ति को नियुक्ति तिथि से एक वर्ष के परिवीक्षण पर र
जायगा।

(७) जिस व्यक्ति ने हिन्दी से हाईस्कूल या उसके समकक्ष कोई परीक्ष
उत्तीर्ण नहीं की है, उसे स्थायी नहीं किया जायगा।

(८) यदि नियुक्त व्यक्ति ने परिश्रम और ईमानदारी से परिवीक्षण-अवधि
कार्य किया है, तो अवधि समाप्त होने पर उसे स्थायी कर दिया जायगा।

(९) यदि परिवीक्षण अवधि के बीच मे किसी प्रधानाचार्य, प्रधानाध्याप
अथवा अध्यापक को सेवा-मुक्त या पदच्युत न किया गया अथवा इनके सम्बन्ध मे को
कदम न उठाया गया, तो परिवीक्षण अवधि की समाप्ति पर वह स्वयं स्थायी ह
जायगा।

(१०) प्रधानाचार्य अथवा प्रधानाध्यापक का परिवीक्षण-काल एक वर्ष और
बढ़ाया जा सकता है।

(११) जिस तिथि को स्थायी करना है उसके ६ सप्ताह पूर्व प्रधानाचार्य
स्थायित्व-सम्बन्धी पत्रों को तैयार करके अपनी संस्तुति के साथ प्रबन्धक के पास भेज
देगा। प्रबन्धक इसे प्रबन्धकारिणी के समक्ष विचार एवं निर्णय के लिये रखेगा
प्रधानाचार्य का स्थायित्व-सम्बन्धी पत्र प्रबन्धक स्वयं तैयार करके प्रबन्ध-कारिणी के
समक्ष रखेगा। निर्णय प्रस्ताव के रूप में रखा जायगा।

(१२) स्थायीकरण के प्रस्ताव की एक प्रति सम्बन्धित व्यक्ति को तथा दूसरी
जिला विद्यालय निरीक्षक को, (यदि नियुक्ति शिक्षक की है) और मण्डल शिक्षा-उप-
संचालक को (यदि नियुक्ति प्रधानाचार्य की है) भेजी जायगी। इसका उल्लेख सेवा-
पुस्तिका में भी किया जायगा।

(१३) सामान्यता तिहाई अथवा आधे रिक्त स्थानों की पूर्ति निचले वेतन क्रम

...निम्नांकित अपराधों में से किसी एक या
...पिक अपराधों के लिए कोई नोटिस दिये बिना अध्यापक को पदच्युत करने का
...कल्प पारित कर सकती है।

(क) अवज्ञा, (ख) कर्तव्य पालन में जानबूझ कर असावधानी करना, (ग)
...और दुराचरण (Serious misconduct) या ऐसा कार्य जो दण्डापराध (Cri-
...nal offence) हो।

अध्यापक ऐसा संकल्प पारित होने के १५ दिन के भीतर किसी समय समिति
...ा किसी दूसरी बैठक में समिति के निर्णयों का पुनर्विलोकन किये जाने के लिये
...वेदन पत्र दे सकता है और ऐसा आवेदन-पत्र प्राप्त होने पर समिति की दूसरी
...क आवेदन-पत्र प्राप्त होने के एक मास के भीतर बुलाई जायगी। इसमें अध्यापक
...ने मामले के सम्बन्ध में अतिरिक्त वक्तव्य दे सकता है और यदि वह चाहे तो उसे
...ेष जानकारी एवं उत्तर देने के लिये समिति के समक्ष उपस्थित किया जा सकता
... निर्णय की सूचना तथा लगाये गये अभियोगों की एक प्रति उसे दी जायगी।

(२) पूर्वोक्त कारणों में से किसी कारण से अध्यापक को पदच्युत करने के
...ाय समिति एक ऐसा संकल्प पारित कर सकती है जिसके अनुसार वह किसी
...दिष्ट अवधि के लिए अध्यापक का वेतन कम करके या स्थायी रूप से अथवा अस्थायी
... से उसकी वेतन-वृद्धियाँ रोककर अपेक्षा कृत कम दण्ड दे सकती है या अध्यापक
... उसके निलम्बन की अवधि के, यदि कोई हो, वेतन से वंचित कर सकती है।

(३) अध्यापक को पदच्युत करने या अन्य प्रकार से दण्ड देने के प्रयोजन से
...ई बैठक होने के पूर्व समिति या प्रबन्धक अध्यापक को उसके विरुद्ध लगाये गये
...ोपों का एक लिखित वक्तव्य समय और स्थान का ब्यौरा देते हुए देगा और उसे
... से कम दस दिन का समय देगा। इसके भीतर उसे अपना लिखित उत्तर देना
...ा और समिति की बैठक होने तक पूर्वोक्त आरोपों पर विचार करने के लिये
... अध्यापक को उसके कार्य से निलम्बित कर सकता है। फिर भी
... को अनुज्ञा दी जायगी कि यदि वह ऐसा चाहे तो समिति
... अपने मामले को बताये और पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दे।
... के लिये यह अनिवार्य होगा कि वह निलम्बित अध्यापक
... आरोपों का उत्तर प्राप्त होने के एक मास के भीतर
... निलम्बन के दिनांक से मामले का अन्तिम
... वेतन का एक तिहाई भाग निर्वाह भत्ते के
... अपने विरुद्ध लगाये गये आरोपों से
... स्थापित किया जाय और उसके